DARSANAS

M.A. (Sanskrit)

Semester-III, PAPER-III

Director

Dr.Nagaraju Battu

M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222,

0863-2346259 (Study Material)

Website: www.anucde.info

e-mail: anucdedirector@gmail.com

FOREWORD

Since its establishment in 1976, Acharya Nagarjuna University has been forging ahead in the path of progress and dynamism, offering a variety of courses and research contributions. I am extremely happy that by gaining 'A' grade from the NAAC in the year 2016, Acharya Nagarjuna University is offering educational opportunities at the UG, PG levels apart from research degrees to students from over 443 affiliated colleges spread over the two districts of Guntur and Prakasam.

The University has also started the Centre for Distance Education in 2003-04 with the aim of taking higher education to the door step of all the sectors of the society. The centre will be a great help to those who cannot join in colleges, those who cannot afford the exorbitant fees as regular students, and even to housewives desirous of pursuing higher studies. Acharya Nagarjuna University has started offering B.A., and B.Com courses at the Degree level and M.A., M.Com., M.Sc., M.B.A., and L.L.M., courses at the PG level from the academic year 2003-2004 onwards.

To facilitate easier understanding by students studying through the distance mode, these self-instruction materials have been prepared by eminent and experienced teachers. The lessons have been drafted with great care and expertise in the stipulated time by these teachers. Constructive ideas and scholarly suggestions are welcome from students and teachers involved respectively. Such ideas will be incorporated for the greater efficacy of this distance mode of education. For clarification of doubts and feedback, weekly classes and contact classes will be arranged at the UG and PG levels respectively.

It is my aim that students getting higher education through the Centre for Distance Education should improve their qualification, have better employment opportunities and in turn be part of country's progress. It is my fond desire that in the years to come, the Centre for Distance Education will go from strength to strength in the form of new courses and by catering to larger number of people. My congratulations to all the Directors, Academic Coordinators, Editors and Lesson-writers of the Centre who have helped in these endeavours.

Prof. P. Raja Sekhar
Vice-Chancellor
Acharya Nagarjuna University

मिति प्रयोगः, स भगवानीश्वर एवेत्यर्थः। व्यतिरेके गगनं, न चायमसिद्धो हेतुः ? भूभूधरादीनां स्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवित्वया वा कार्यत्वस्य जगत्प्रसिद्धत्वात्। नापि विरुद्धानैकान्तिकदोषौ विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वाद्, कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाबाध्यमानधर्मधर्मित्वाद्, नापि प्रकरणसमः, तत्परिपन्थिपदार्थस्वरूपसमर्थनप्रथितं प्रत्यनुमानोदयाभावात्।

अथ निर्वृतात्मवदशरीरत्वादेव न सम्भवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदयात्कथं प्रकरणसमदूषणाभाव इति चेद् ?

उच्यते—अत्र साध्यमान ईश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वाऽनुमन्यते सुहृदा ? अप्रतीतश्चेद्भ्रूवत्परिकल्पितहेतोरेवाश्रयासिद्धिदोषप्रसङ्गः, प्रतीतश्चेत्तर्हि येनैव प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भावितस्वतनुरूपं किमर्थं नाभ्युपगम्यत इति कथमशरीरत्वमतो न दुष्टो हेतुरिति साधूक्तं सृष्टिसंहारकृच्छिवः, तथा विभुः सर्वव्यापकः, एकनियतस्थानवृत्तित्वे ह्यनियतप्रदेशनिष्ठितानां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः, न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि दूरदूरतरघटघटनायां व्याप्रियते, तस्माद्विभुर्भगवान्, तथा नित्यैकः नित्यश्चासावेकश्चेति, यतो नित्योऽत एवैकोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्, भगवतो ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्षतया कृतकत्वप्राप्तिः, स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यत इति।

अथ चेत्कश्चिज्जगत्कर्तारमपरमभिदधाति स एवानुयुज्यते, सोऽपि नित्योऽनित्यो वा ? नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्, अनित्यश्चेत्तस्यान्येनोत्पादकान्तरेण भाव्यमनित्यत्वादेव तस्याप्यन्येनेति नित्यानित्यवादविकल्पशिल्पशतस्वीकारे कल्पान्तेऽपि न जल्पसमाप्तिः, तस्मान्नित्य एव भगवान्, अन्यच्चैकोऽद्वितीयो, बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्योन्यमसदृशमतिव्यापारतयैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति भगवानेक एवेति युक्तियुक्तं नित्यैकेति विशेषणम् तथा सर्वज्ञ इति सर्वपदार्थानां सर्वविशेषज्ञाता, सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सितपदार्थोपयोगयोग्यजगत्प्रसूमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमेलनाक्षमतया याथातथ्येन पदार्थनिर्माणरचना दुर्घटा, सर्वज्ञश्च सन् सकलप्राणिनां सम्मिलितसमुचितकारणकलापानुरूपपारिमाण्डल्यानुसारेण कार्यवस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं ददानः केषां नाभिमतः। तथा चोक्तम्—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥ इति ॥

भूयोऽपि विशेषयन्नाह 'नित्यबुद्धिसमाश्रय' इति शाश्वतबुद्धिस्थानं, क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षितया मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति, ईदृग्गुणविशिष्टः शिवो नैयायिकमतेऽभ्युपगन्तव्यः ॥ १३ ॥

सुधा—न्यायदर्शनस्य विषयं प्रतिपादयन्नाह—अक्षपादेति।

अन्वयः—अक्षपादमते सृष्टिसंहारकृत् विभुः नित्यैकसर्वज्ञः नित्यबुद्धिसमाश्रयः शिवः देवः ॥

व्याख्या—अक्षपादमते=न्यायदर्शने, सृष्टिसंहारकृत्—सृष्टिः=प्राणिनां संसारस्य चोत्पत्तिः, संहारः=तद्विनाशः, तौ करोतीति, विभुः=सर्वव्यापकः, नित्यैकसर्वज्ञः—नित्यश्चासावेकश्चेति नित्यैकः=सदकारणवन्नित्यम् अनुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्, एकः=अद्वितीयः, सर्वज्ञः—सर्वं लौकिकमलौकिकं जानातीति सर्वपदार्थानां सर्वविशेषज्ञाता। नित्यबुद्धिसमाश्रयः=शाश्वतबुद्धिस्थानम् अतीन्द्रिययोगजज्ञानगम्यः, शिवः=परमेश्वरः, देवः=दर्शनाधिष्ठायकः अभ्युपगन्तव्यः।

प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणचराचरस्वरूपस्य जगतः कश्चिदनिर्वचनीयमाहात्म्यः पुरुषः कर्ता ज्ञेयः सर्वं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात् यद्यत्कार्यं तत्तद् बुद्धिमत्पूर्वकं यथा घटः। निरन्तरोत्पद्यमानविनाशधर्मत्वात् भुवनत्रयस्य संहारकर्ताऽपि मन्तव्यः। एकनियतस्थानवृत्तित्वे अनियतप्रदेशनिष्ठितानां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः विभुत्वं परमेश्वरस्य ॥

पदार्थ—अक्षपादमते=महर्षि गोतम के न्याय दर्शन में। सृष्टिसंहारकृत्=संसार को बनाने व संहार करने वाला। विभुः=सर्वव्यापक। नित्यैकसर्वज्ञः=नित्य सदा रहने वाला अद्वितीय एवं सर्वज्ञ, लौकिक व अलौकिक सभी पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता। नित्यबुद्धिसमाश्रयः=नित्यबुद्धि एवं यथार्थ ज्ञान का आश्रय। शिवः=परमेश्वर। देवः=देवता अथवा दर्शनाधिष्ठाता व परम साध्य एवं आराध्य तत्त्व है ॥

भाषाप्रकाश—न्यायदर्शन में संसार का बनाने वाला, संहार करने वाला, सर्वव्यापक, नित्य, एकस्वरूप, सर्वज्ञ, शाश्वत ज्ञान-विज्ञान का आश्रय परमेश्वर माना गया है। वही परमेश्वर परम सत्य व विश्व का मुख्याधार है। उसी का ज्ञान व साक्षात्कार कर लेने पर जीवन कृतार्थ हो जाता है। मानव के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन व अनुभव की चरम सीमा भी वही है। वह परम सत् है, चित् है और आनन्द है। कीट से लेकर हस्तिपर्यन्त प्राणी समुदाय, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, गुल्म, लता, वनस्पतियाँ, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सभी दृश्यमान जगत उसी की रचना हैं। रचना करके कालक्रमानुसार जगत का संहार भी वही करता है। वह सदा एक रस व नित्य है, शाश्वत है, एक है तथा सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा है, सर्वज्ञाता एवं नित्ययोगज ज्ञान का आश्रय है।

प्रश्न--परमेश्वर की सत्ता में क्या प्रमाण है ? नास्तिक दर्शन तो उसकी सत्ता व स्थिति बिल्कुल ही स्वीकार नहीं करते ।

उत्तर- परमेश्वर की सत्ता में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का है। इन्द्रिय, मन व ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा बाह्य विषयों का साक्षात्कार लौकिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रियों से परे योगज प्रत्यक्ष तथा आत्मसाक्षात्कार अलौकिक प्रत्यक्ष है। परमेश्वर का साक्षात्कार अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। अनुभूति ही उसमें साक्षात् प्रमाण है। यम-नियम आदि योगसाधनों के द्वारा मन के सूक्ष्म विषयग्राही होने और चित्त की निर्मलता के कारण अलौकिक प्रत्यक्ष की स्थिति आती है। अतएव परमेश्वर की सत्ता में अलौकिक प्रत्यक्ष साक्षात् प्रमाण है।

लौकिक प्रत्यक्ष में भी गुण को देखकर गुणी का अनुमान किया जाता है। रचना को देखकर रचनेवाले का अनुमान होता ही है; अतएव संसार की विचित्रता, स्थिति, उत्पत्ति, विनाश व रचना को देखकर परमेश्वर की सत्ता का अनुमान होता है, जो कि नित्य, सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान है। असीम शक्ति के द्वारा सर्वत्र जगत की उत्पत्ति, स्थिति व विनाश के कार्य हो रहे हैं; अतएव वह सर्वशक्तिमान, सर्व-व्यापक और विभु है। संसार में किसी भी पदार्थ की अभाव से उत्पत्ति नहीं होती, अपितु भाव से ही होती है, केवल उनका रूपान्तरण ही उत्पत्ति और विनाश है। जड़पदार्थ व उपादान द्रव्यों में रूपान्तरण होता है, अतएव उत्पत्ति और नाश का भाव जड़ ही में होता है। चेतन व कर्ता का रूपान्तरण नहीं होता, अतः परमेश्वर नित्य है, अजन्मा है, नित्यबुद्धि से प्रकाशित है। जड़पदार्थों में बिना चेतन कर्ता की प्रेरणा के रूपान्तरण अथवा उत्पत्ति-विनाश असंभव है, अतएव अनुमान के द्वारा ही ईश्वर की सिद्धि हो जाती है, जो कि साधारण बुद्धि व लौकिक तर्क द्वारा भी संभव है। न्यायशास्त्र बुद्धि व तर्कप्रधान शास्त्र है। यही कारण है कि ईश्वरसिद्धि में अनुमान का आश्रय अधिक लिया जाता है।

आप्तपुरुष, जिन्होंने अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा परमात्मा का अनुभव कर लिया है, तद्विषयक उनके वाक्य भी प्रमाण माने जाते हैं। लोक में भी लौकिक प्रत्यक्ष में भी शब्द प्रमाण मानना पड़ता है। भारत के विद्यार्थी ने अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली आदि की भूमि नहीं देखी, फिर भी अध्यापक द्वारा बतलाए जाने पर वहाँ की भौगोलिक स्थिति पर मान्यता व विश्वास करना पड़ता है। पुनः अध्यापक द्वारा बतलाए गए भौगोलिक नक्शे के आधार पर यात्रा करने से उन-उन देशों का प्रत्यक्ष भी होता ही है; अतः प्रत्यक्ष न करने वालों तथा उन-उन देशों की यात्रा न कर सकने वालों को भी शब्द प्रमाण को मान्यता देनी पड़ती है और उसपर

विश्वास भी करना पड़ता है। इसी प्रकार से आप्तवचन को भी शब्दप्रमाण मानना आवश्यक है और उसके आधार पर परमेश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ता है।

नास्तिक दर्शनों में जहाँ परमेश्वर की सत्ता नहीं स्वीकार की गई है वहाँ भी चिन्तन की गहराई में जाने पर किसी न किसी रूप में आस्तिकता का भाव झलकता है। सृष्टिरचना व पदार्थों के विश्लेषण में नास्तिक भी कार्य-कारण का भाव व तर्क स्वीकार करते हैं। कार्य-कारणभाव के बिना जगत का विश्लेषण असम्भव है। कार्य-कारण तर्क का आश्रय लेने पर पदार्थों की मौलिक एकता व मूल कारण द्रव्य को मानना ही पड़ता है। कार्य-कारणभाव मानने पर एवं मूल कारण द्रव्य मानने व उसका विश्लेषण करने पर नास्तिक मत में भी आस्तिकता की स्पष्ट झलक आ जाती है और हम किसी न किसी रूप में परमेश्वर की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। उस परम सत्य की सत्ता का हम चाहे जो भी नाम दें किन्तु उस सत्ता को नास्तिक भी स्वीकार तो करते ही हैं।

जिनकी बुद्धि अनुमान व शब्द प्रमाण में कुण्ठित और पंगु है। बौद्धिक सूक्ष्मता व गंभीर चिन्तन जिनमें नहीं है, सांसारिक विषय-भोगों में जिनका मन मूढ़ व आसक्त है वही लोग केवल प्रत्यक्ष का आश्रय लेकर नास्तिक बन जाते हैं। संदिग्धवादी दृष्टिकोण के आधार पर स्थूल बुद्धि व कुण्ठित विचारपूर्वक नास्तिक दर्शन व सिद्धान्तों की कल्पना कर डालते हैं।

वस्तुतः नास्तिक मतों पर भी यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो नास्तिक तर्कों व सिद्धान्तों के आधार पर ही किसी न किसी रूप में ईश्वरसिद्धि हो जायगी। उसकी मान्यता व संज्ञा हम जो चाहें वह दें, किन्तु सत्य सबके लिए एक और यथार्थ है ॥ १३ ॥

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥ १४ ॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवस्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥ १५ ॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा ।
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥ १६ ॥

त्रिभिर्विशेषकम्

अमुत्रास्मिन् प्रस्तुते नैयायिकमते षोडश तत्त्वानि प्रमाणादीनि प्रमाण-प्रमुखानि, तद्यथेति । बालावबोधाय नामान्यप्याह **प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन-दृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयस्सिद्धिरिति षोडश, एषामेवं प्ररूपणेति, तत्त्वा-नाममुना प्रकारेण प्ररूपणा नाममात्रप्रकटनमित्यर्थः । अथैकैकस्वरूपमाह—** तत्रादौ प्रमाणस्वरूपं प्रकटयन्नाह—**अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं स्यात् । अर्थस्य** पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं स्यादिति । **परापरदर्शनापेक्षया** प्रमाणानामनियतत्वात्संदिहानस्य **सङ्ख्यामुपदिशन्नाह**— तच्चतुर्विधमिति । तत्प्रमाणं चतुर्विधं ज्ञेयमिति ॥ १४–१६ ॥

सुधा—अथ न्यायशास्त्रसम्मते तत्त्वानि प्ररूपयन्नाह—**तत्त्वानीत्यादिना ।**

अन्वयः—अमुत्र प्रमाणादीनि षोडशतत्त्वानि, तद्यथा प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम्, दृष्टान्तः अपि अथ सिद्धान्तः अवयवाः तर्कनिर्णयौ वादः जल्पः वितण्डा च हेत्वाभासाः छलानि च, जातयः निग्रहस्थानानि, एषां एवं प्ररूपणा अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्, तत्प्रमाणं चतुर्विधम् ॥ १४–१६ ॥

व्याख्या—अमुत्र=अस्मिन् नैयायिकमते, प्रमाणादीनि=प्रमाणप्रमेयसंशया-दीनि, षोडशतत्त्वानि=पदार्थाः सन्ति, तद् यथा=अत्रायं कथ्यते, क्रमेण प्रमाणं= यथार्थज्ञानं प्रमा, प्रमायाः करणं प्रमाणम्, च=अपि, प्रमेयं=प्रमातुं योग्यं प्रमेयं, ज्ञेयं भाध्यामिति, संशयः=समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः, प्रयोजनम्=यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्, दृष्टान्तः= लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः, सिद्धान्तः—सिद्धो अन्तो येषां हे तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः । अवयवाः=प्रतिज्ञाहेतूदाहरणो-पनयनिगमनान्यवयवाः, तर्कः=तर्क्यन्ते प्रमितिविषयीक्रियन्तेति तर्काः । अविज्ञात-तत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः, निर्णयः=विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्या-मर्थावधारणं निर्णयः, वादः=प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चाव-यवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । जल्पः=यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रह-स्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । वितण्डा=स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा, हेत्वा-भासा—अव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः; छलम्= वचनविघातोऽर्थोपपत्त्या छलम्, जातिः=साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः । निग्रहस्थानम्=विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । एषां=पदार्थानां, एवं= एवंप्रकारकं, प्ररूपणा=निदर्शनम्, अर्थोपलब्धि—अर्थस्य=पदार्थस्य, उपलब्धिः=ज्ञानं, तस्य हेतुः=कारणं, स्यात् तत्प्रमाणं चतुर्विधम्=प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दरूपमिति ॥

पदार्थ—अमुत्र=अब यहाँ । प्रमाणादीनि=प्रमाण-प्रमेय आदि । षोडशतत्त्वानि= सोलह तत्त्व । तद्यथा=यथास्वरूप । प्रमाणं=प्रमाण ।प्रमेयं=प्रमेय, जो प्रमाणों द्वारा जाना जाय । संशयः=भ्रम-संदेह । प्रयोजनं=शास्त्रज्ञान व तत्त्वस्थिति किसलिए है । दृष्टान्तः=जिस उदाहरण पर लौकिक व दार्शनिक दोनों सहमत हों । सिद्धान्ताः= सिद्ध है अन्त जिनका । अवयवाः=तर्क के अंग—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन । तर्कः=अज्ञात विषय की जानकारी के लिए प्रमाणों व सिद्धियों के द्वारा ऊहापोह करना तथा तत्त्वज्ञान करना । निर्णयः=पक्ष व प्रतिपक्ष पर विचार करके निश्चय करना । वादः=प्रमाण-तर्क आदि साधनों से युक्त एवं जो सिद्धान्त के विरुद्ध न हो, प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरणादि पाँच अवयवों से युक्त एवं पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक वाद कहलाता है । जल्पः=उपरोक्त वाद में जब छल-जाति और निग्रह-स्थान से काम लिया जाय तो वह जल्प कहलाता है । वितण्डा=वहीं जब उसमें प्रतिपक्ष को स्थापित ही न होने दिया जाय तो वितण्डा कहलाता है । हेत्वाभास=जो हेतु न हो किन्तु हेतु जान पड़े वह हेत्वाभास कहलाता है । यह पाँच प्रकार का होता है—१. सव्यभिचार २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत । छलम्=अर्थान्तर करके वाणी को रोक दिया जाय व निरुत्तर कर दिया जाय वह छल है । जाति=साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा पक्ष की स्थिति निश्चित की जाती है । निग्रहस्थान=विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान कहते हैं । एषां=इन सोलह । पदार्थानां=पदार्थों का । एवंप्रकारकम्=इस प्रकार । प्ररूपणा=निरूपण किया जाता है । अर्थोपलब्धिः= पदार्थों के ज्ञान का । हेतुः=कारण । स्यात्=जो हो । प्रमाण=उसे प्रमाण कहते हैं । तच्चतुर्विधम्=वह चार प्रकार का होता है ॥ १४–१६ ॥

भाषाप्रकाश—न्यायदर्शन में सोलह पदार्थ माने गए हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ में इन सोलह पदार्थों का उद्देश्य, लक्षण व परीक्षा की गई है । इस दर्शन के अनुसार इन सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाने पर मोक्ष होता है, जन्म-मरण के चक्र व भव-बन्धन से छुटकारा मिल जाता है । कहा भी है—"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।"—न्यायसूत्र १–१–१ । सबसे पहला पदार्थ प्रमाण है । प्रमाणों के द्वारा तत्त्वज्ञान होता है । प्रमेय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ का लक्षण व परीक्षा प्रमाणों के आधार पर ही होते हैं । तत्त्वज्ञान में प्रमाण ही कसौटी है । प्रमाण चार हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द । इनकी विशेष व्याख्या आगे की जायगी । दूसरा पदार्थ प्रमेय है । प्रमाणों के द्वारा जो जाना जाय एवं जिसकी परीक्षा की जाय, वह प्रमेय है । जगत् के सभी जानने योग्य पदार्थ प्रमेय हैं । प्रमेय

बारह माने गए हैं—१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रियां, ४. इन्द्रियों के विषय, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख और १२. अपवर्ग।

जीवात्मा-परमात्मा भेद से अनुभवकर्ता, ज्ञाता, भोक्ता चेतन तत्त्व आत्मा है। जीवात्मा का निवास, इन्द्रियों व विषयों का आश्रय तथा चेष्टा व प्रवृत्ति का अधिष्ठान शरीर है। कान, नाक, जिह्वा, त्वचा एवं आँख—यह पाँच इन्द्रियाँ हैं। सुनना सूंघना, चखना, छूना, देखना क्रमशः उनके पाँच विषय हैं। विचार-निर्णय कराने वाला ज्ञेय तत्त्व बुद्धि है। सभी इन्द्रियों के अनुभव, प्रेरणा व कार्य का केन्द्र मन है। उपरोक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के संघात व कार्य से मन के द्वारा ही आत्मा को अनुभव होता है और मन ही के द्वारा कर्मेन्द्रियों का संचालन भी होता है। आत्मा मन के द्वारा शरीर व इन्द्रिय से जो बाह्य विषयों में लगता है, चेष्टा करता है वह प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति होने पर ही अनुभव, ज्ञान व कर्म होते हैं। मिथ्या ज्ञान व विषयों के संस्कार दोष कहलाते हैं। तत्त्वज्ञान व मोक्ष के लिए दोष को जानना भी आवश्यक है। बार-बार जन्म लेना, भवबन्धन के चक्र में पड़ना, मरना, जीना प्रेत्य-भाव कहलाता है। अनुभव, ज्ञान व तत्त्वज्ञान का परिणाम फल है। प्रतिकूल वेदना दुःख है, जिससे समस्त प्राणी संतप्त हैं। न्यायशास्त्र में दुःख का जानना भी तत्त्व-ज्ञान का अंग है, यह भी ज्ञेय है। बारहवाँ प्रमेय है—अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। वह स्थिति जहाँ जन्म-मरण भवबन्धन से छुटकारा पाकर परमानन्द की प्राप्ति होती है, मोक्ष कहलाती है, उपरोक्त बारह प्रमेय न्यायशास्त्र में ज्ञान, लक्षण व परीक्षा के विषय हैं। जिन्हें जान लेने से परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्, यथार्थज्ञानं प्रमा —यथार्थ ज्ञान का जो विषय है, प्रमाणों के द्वारा जो जाना जाय वह प्रमेय है। तीसरा पदार्थ है— संशय। संशय के होने पर ही तर्क व न्याय का जन्म होता है। यदि ज्ञेय पदार्थ में संशय न हो तो न तर्क होगा, न न्याय और न ही तत्त्व-ज्ञान होगा। अतः संशय भी न्यायदर्शन में पदार्थ माना गया। चौथा पदार्थ प्रयोजन है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी कोई कार्य नहीं करता। अतः तत्त्वज्ञान तर्क व न्याय का भी प्रयोजन है। लौकिक उक्तियाँ, जहाँ विद्वान् तार्किक एवं साधारण लौकिक एकमत हों, वह दृष्टान्त है। दृष्टान्त के द्वारा ही तर्क, न्याय व तत्त्वज्ञान समझाया व सिद्ध किया जाता है। तर्क व प्रमाण तथा विविध परीक्षाओं, वाद-विवादों के द्वारा अन्त में जो सिद्ध करके निश्चित कर दिया जाय वह सिद्धान्त कहलाता है। सातवाँ पदार्थ अवयव है। अवयव तर्क व न्याय के पाँच अंग हैं, जिनके आधार पर तर्क करके तत्त्वज्ञान व निर्णय किए जाते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है, जो कि आगे [illegible] जायगा। आठवाँ पदार्थ तर्क है। विना जाने हुए किसी पदार्थ को जानने के

लिए विविध कारणों व प्रमाणों से छानबीन करना, जानकारी करना तर्क कहलाता है। तर्क के द्वारा तत्त्वज्ञान करके निश्चित कर देना ही निर्णय कहलाता है। दसवाँ पदार्थ वाद है। पक्ष, प्रतिपक्ष लेकर किसी विषय पर प्रश्नोत्तरपूर्वक विवाद करना वाद है। वाद से ही निर्णय व तत्त्वज्ञान होता है। ग्यारहवाँ पदार्थ जल्प है। शास्त्रार्थ में जीतने के विचार से छल आदि उपायों द्वारा तर्क करना ही जल्प है। प्रतिपक्षी की बात को न मानना अथवा उसे स्थापित न होने देना ही वितण्डा है। तेरहवाँ पदार्थ हेत्वाभास है। किसी विषय के तर्क व सिद्धि में ऐसा हेतु देना, जो वास्तव में में हेतु न हो, हेत्वाभास कहलाता है। चौदहवाँ पदार्थ छल है। वाद-विवाद-शास्त्रार्थ व तर्क में धोखे से शब्द व वाद-विवाद में उलटफेर करके जीतने का प्रयास करना छल है। यह तीन प्रकार का होता है, जिसे आगे बतलायेंगे। पन्द्रहवाँ पदार्थ जाति है। जो भिन्न अधिकरणों में समान बुद्धि उत्पन्न करती है, वह जाति है। सोलहवाँ पदार्थ निग्रहस्थान है। जिस किसी भी प्रकार से शास्त्रार्थ में प्रतिवादी को वचन व विवाद में निरुत्तर करके पराजित कर दिया जाय, वही निग्रहस्थान है। सम्पूर्ण न्यायदर्शन में उपरोक्त सोलह पदार्थों का उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा की गई है। पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्तपक्ष—तीन प्रकार के सूत्र हैं। इस दर्शन में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। न्याय दर्शन की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

१. प्रथम अध्याय में सोलह पदार्थों का उद्देश्य व लक्षण किया गया है।

२. द्वितीय अध्याय में संशय, प्रमाण, सामान्य व प्रत्यक्षादि की परीक्षा है।

३. तृतीय अध्याय में आत्मा, मन, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ और बुद्धि की परीक्षा की गई है।

४. चतुर्थ अध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग आदि प्रमेयों की परीक्षा; प्रसंगवश शून्यतोपादान, ईश्वरमात्र कारणता, आकस्मिकत्व, सर्वानित्यत्व, सर्वनानात्व, सर्वशून्यता का निराकरण, सांख्यैकान्तवाद, निराकरण, तत्त्वज्ञान, उत्पत्ति, परिपालन, बुद्धि, अवयव, अवयवी, बाह्यार्थभङ्ग, निराकरण आदि है।

५. पाँचवें अध्याय में २४ प्रकार के जातिभेद और २२ प्रकार के निग्रहस्थान का वर्णन है।

प्रश्न—न्यायदर्शन में बतलाया गया है कि प्रमाण-प्रमेयादि सोलह पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह कैसे? जब बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-सन्त संसार के भोगों का परित्याग करके कठिन तपश्चर्या करते हुए मोक्षप्राप्ति

तक कठिनाई से पहुँच पाते हैं तो केवल न्यायसम्मत सोलह पदार्थों के ज्ञान-मात्र से ही कैसे निःश्रेयस की प्राप्ति होगी।

उत्तर—अज्ञान, अविवेक ही बन्धन का मूल कारण है। विवेक एवं यथार्थ-ज्ञान से भवबन्धन का नाश होता है। तप-नियम-व्रत आदि यथार्थ-ज्ञान एवं विवेक की प्राप्ति में सहायक साधन हैं। इस प्रश्न का समाधान न्यायदर्शन में स्वयं अक्षपाद मुनि ने ही किया है—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः"—न्यायसूत्र—अ० १, आ० १, सू० २।

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञान—इनमें उत्तरोत्तर के नाश से अन्तिम मिथ्याज्ञान के दूर होने पर मोक्ष होता है। मिथ्याज्ञान से दोष (विषयसंस्कार) उत्पन्न होता है। दोष से विषयों में मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से जन्म होता है और जन्म से दुःख होता है। षोडश पदार्थों के ज्ञान से तर्क व न्याय द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय होगा, मिथ्याज्ञान का नाश होगा। जब मिथ्याज्ञान दूर होगा तो प्रवृत्ति नहीं होगी। प्रवृत्ति के न रहने पर जन्म से छुटकारा मिल जाएगा और जब जन्म ही नहीं होगा तब दुःख कहाँ? इस प्रकार "अविवेक एव बन्धः विवेक एव मोक्षः"—अविवेक व अज्ञान ही बन्धन है, विवेक एवं न्यायसम्मत यथार्थज्ञान ही मोक्ष का कारण है। षोडश पदार्थों के ज्ञान से नैयायिक तर्कों द्वारा तत्त्वचिन्तन से विवेक होगा, विवेक होने पर विशुद्ध चित्त यौगिक अनुभूतियों से योगाभ्यासपूर्वक आत्मसाक्षात्कार करेगा, तभी मोक्ष होगा। महर्षि का यह मन्तव्य नहीं है कि केवल न्यायदर्शन के पाठमात्र से ही मोक्ष हो जायगा। उनका तात्पर्य है कि इन सोलह पदार्थों का ज्ञान करके विवेक के उदय होने पर निःश्रेयस का अधिगम (समीप-गमन व प्राप्ति) होगा।

प्रश्न—न्याय दर्शन में प्रमाण और प्रमेय का ही उद्देश्य, लक्षण व परीक्षा कर देते, संशय-प्रयोजन आदि चौदह पदार्थों के कथन व व्याख्या की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—प्रमाण-प्रमेय मुख्य कथन के विषय तो हैं, पर न्यायशास्त्र तर्कशास्त्र है। तर्क के द्वारा ही इस दर्शन में विषयप्रतिपादन किया गया है। संशय से लेकर निग्रहस्थान तक चौदह पदार्थ तर्कशास्त्र के विषय हैं। उनको छोड़ देने पर तर्क अपूर्ण है। अतएव अवयव, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति, निग्रहस्थान जैसे तर्क के सूक्ष्म विषयों का निरूपण किया गया ॥१६॥

प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शाब्दिकं तथा।
तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिकम् ॥१७॥

व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम्।
प्रत्यक्षमितरन्मानन्तत्पूर्वं[1] त्रिविधं भवेत् ॥१८॥

अत्र प्रमाणचातुर्विध्ये प्रत्यक्षं कीदृगिति सम्बन्धः; विशेषणान्याह—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति। इन्द्रियं चार्थश्चेति द्वन्द्वः, तयोः सन्निकर्षात्संयोगादुत्पन्नं जातम्, इन्द्रियं हि नैकट्यात्पदार्थे संयुज्यते, इन्द्रियार्थसंयोगाज्ज्ञानमुत्पद्यते। यदुक्तम्—

आत्मा सहैति मनसा, मन इन्द्रियेण,
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रम्।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति
यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा॥

तत्राव्यभिचारिकं ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, शुक्तिशकले कलधौतबोधो हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नोऽपि व्यभिचारी दृष्टोऽतोऽव्यभिचारिकं ग्राह्यम्, तथा व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकम्, सजलधरणितले हि बहलशाद्वलवृक्षावल्यामिन्द्रियार्थसान्निध्योद्गतमपि जलज्ञानं तत्प्रदेशसङ्गमेऽपि स्नानपानादिव्यवहारासाधकत्वादप्रमाणम्, अतः सफलं व्यवसायात्मकमिति विशेषणम्।

तथा व्यपदेशविवर्जितमिति। व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितं, तथा ह्याजन्मकाचकामलादिदोषदूषितचक्षुषः पुरुषस्य धवलशङ्खे पीतज्ञानमुदेति तद्यद्यपि सकलकालं तन्नेत्रदोषाविरामादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमस्ति तथाऽप्यन्यवस्तुनोऽन्यथाबोधान्न तद्यथोक्तलक्षणं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षसाधकं विशेषणचतुष्टयमुक्तम्। साम्प्रतमनुमानमाह—इतरदन्यन्मानमनुमानमुपदिशति, तदनुमानं पूर्वं प्रथमं त्रिविधं त्रिप्रकारकं भवेज्जायेत्। पूर्वमितिपदेवानुमानान्तरभेदानन्त्यमाह—तत्पूर्वं प्रत्यक्षपूर्वं चेति श्लोकद्वयार्थः ॥१७-१८॥

सुधा— तत्प्रमाणं चतुर्विधं ज्ञेयमिति तेषां स्वरूपमुच्यते—प्रत्यक्षमिति।

अन्वयः—प्रत्यक्षम् अनुमानम् च उपमानं तथा शाब्दिकम् तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् अव्यभिचारिकम्। व्यपदेशविवर्जितम् व्यवसायात्मकम् ज्ञानम् प्रत्यक्षम् इतरत् मानम् तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ॥ १७-१८ ॥

१. तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।
—न्यायसूत्र १-१-५ ॥

व्याख्या— प्रत्यक्षम्—अक्षं अक्षं प्रति प्रत्यक्षम्, अनुमानम्=प्रत्यक्षानुभवमनुमानम्, उपमानम्=उपमाभवमुपमानम्। शाब्दिकम्—आप्तोपदेशः शब्दः, शब्दप्रभवम् शाब्दिकमिति चतुर्विधं प्रमाणम्। तत्र=प्रमाणचातुर्विध्ये, प्रत्यक्षं कीदृगिति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्=घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि इन्द्रियाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाद्याः विषयाः अर्थाः, तयोः सन्निकर्षात्=संयोगात्, उत्पन्नम्=जातम्, अव्यभिचारिकम्=ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, तं यथा शुक्तिशकले कलधौतबोधो हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नोऽपि व्यभिचारी दृष्टोऽतोऽव्यभिचारिकं ग्राह्यम्, व्यपदेशविवर्जितम्—व्यपदेशः=विपर्ययः मिथ्याज्ञानं विपर्ययस्तेन रहितं यथा कामलादिदोषदूषितचक्षुषः पुरुषस्य धवलशङ्खे पीतज्ञानमुदेति तद्यद्यपि तन्नेत्रदोषाविरामादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमस्ति तथाप्यन्यवस्तुनोऽन्यथाबोधान्न प्रत्यक्षम्, व्यवसायात्मकम्=व्यवहारसाधकम् इन्द्रियानुभवगम्यम् एवं प्रत्यक्षसाधकं विशेषणचतुष्टयमुक्तम् इतरत्=अन्यत्, मानम्=अनुमानं प्रमाणम्, तत्पूर्वं=प्रत्यक्षपूर्वकम्, त्रिविधम्=त्रिप्रकारकं, भवेत्=स्यात् ॥१७-१८॥

पदार्थ— प्रत्यक्षम्=कान, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, नाक आदि इन्द्रियों एवं शब्द, रस रूप, स्पर्श, गन्ध आदि विषयों के मेल से उत्पन्न होने वाला। अनुमानम्=व्याप्य-व्यापक के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष द्वारा जान लेने पर चिह्न को देखकर साध्य को जानना। उपमानम्=उपमा द्वारा किसी पदार्थ को जानना। शाब्दिकम्=आप्तपुरुष यथार्थवक्ता के उपदेश से ज्ञान जो उत्पन्न करे। तत्र=उपरोक्त चारो प्रमाणों में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्=कान, जिह्वा, आँख, त्वचा, नासिका आदि इन्द्रियों एवं शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गन्ध आदि विषयों के मेल से उत्पन्न। अव्यभिचारिकम्=व्यभिचाररहित। व्यपदेशविवर्जितम्=विपर्यय मिथ्याज्ञानरहित। व्यवसायात्मकं=व्यवहार व अनुभवसाधक। ज्ञानम्=बोध। प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष कहलाता है। इतरत्=इससे भिन्न। मानम्=अनुमान प्रमाण। तत्पूर्वम्=प्रत्यक्षपूर्वक। त्रिविधम्=तीन प्रकार का। भवेत्=होता है।

भाषाप्रकाश—न्यायसम्मत षोडश पदार्थों में प्रमाण पहला पदार्थ है। प्रमाणों के कसौटी पर ही यथार्थ ज्ञान, तर्क व न्याय आधारित हैं। प्रायः सभी दर्शन प्रमाणों पर ही आधारित हैं, न्याय दर्शन में प्रमाणों का विशेष महत्त्व है; अतः सोलह पदार्थों के उद्देश्य में प्रमाण को सबसे पहले रखा गया। पदार्थों का लक्षण व परीक्षा भी प्रमाणों के आधार पर ही की गई है।

न्यायदर्शन में कुल चार प्रमाण माने गए हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. शब्द।

प्रत्यक्ष प्रमाण

हम बाहरी जगत का अनुभव व ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा करते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पांच हैं—१. कान, २. त्वचा, ३. आँख, ४. नाक और ५. जिह्वा। इन पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय भी नियत हैं। कान का विषय है—शब्द, त्वचा का स्पर्श (छूना), आँख का रूप, नाक का गन्ध और जिह्वा का रस विषय है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भौतिक हैं। पाँचों भूतों की सूक्ष्मतन्मात्राएँ अपने-अपने इन्द्रिय-गोलकों में विद्यमान हैं।

पृथ्वी की गन्धतन्मात्रा नाक के अग्रभाग में विद्यमान है। पृथ्वी का स्वाभाविक गुण गन्ध जब नासिका के इन्द्रियगोलक से आकर टकराता है तो गन्ध का अनुभव होता है। यदि नासिका गन्धतन्मात्रा से शून्य हो जाय तो गन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होगा। जल की रसतन्मात्रा जिह्वा में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। जल का स्वाभाविक गुण रस है, वह जब जिह्वा के इन्द्रियगोलक में आकर टकराता तो ज्ञाननाड़ियों द्वारा रस का अनुभव होता है। तेज की रूपतन्मात्रा नेत्र के कृष्ण तारा में विद्यमान है। तेज का स्वाभाविक गुण रूप है। जब वह नेत्र से टकराता है तो ज्ञाननाडियों द्वारा रूप का अनुभव होता है। वायु की स्पर्शतन्मात्रा सूक्ष्म रूप में त्वचा में विद्यमान है। वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है। जब त्वचा इन्द्रिय में वायु टकराता है तो ज्ञाननाड़ियों द्वारा स्पर्श का अनुभव होता है। आकाश की शब्दतन्मात्रा सूक्ष्म रूप में कान में विद्यमान है। आकाश का स्वाभाविक गुण शब्द है। आकाशस्थित शब्द जब कान से टकराता है तो ज्ञान-नाड़ियों द्वारा शब्द का अनुभव होता है। इस प्रकार इन्द्रियों और बाह्य पञ्च भूतों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष है। इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण व प्रत्यक्ष ज्ञान की साधन हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण ऐसा प्रमाण है जिसे आस्तिक-नास्तिक सभी स्वीकार करते हैं। कहा भी गया है कि "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्"। चार्वाकादि नास्तिक दर्शन भी प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधारित हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होता है, इसीलिए इसका लक्षण किया—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्। इसी के साथ यह भी कहा कि अव्यभिचारि अर्थात् इन्द्रियार्थ संयोग से उत्पन्न, तो हो किन्तु वह व्यभिचारी नहीं होना चाहिए। इन्द्रियार्थ संयोग से उत्पन्न, किन्तु व्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जायगा।

प्रश्न—अव्यभिचारी ज्ञान का क्या तात्पर्य है? व्यभिचारी ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—जो व्यभिचारी ज्ञान न हो उसे अव्यभिचारी कहते हैं। व्यभिचारी ज्ञान वह है जो कुछ का कुछ जान पड़े। जैसे सीप सफेद चमक रही है, उसे हम देख कर चाँदी समझ लें। यद्यपि यहाँ इन्द्रियार्थ संयोग है तथापि यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि यह अयथार्थ है। अतः इन्द्रियार्थ संयोग के साथ ही यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष माना जा सकता है।

विरुद्धो अभिचारः व्यभिचारः अर्थात् इन्द्रियार्थ संयोग होने पर भी जब यथार्थ ज्ञान न हो तो वह व्यभिचारी ज्ञान होता है, जिसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष का तीसरा विशेषण है—व्यपदेशरहित हो। मिथ्याज्ञान को व्यपदेश कहते हैं। इसी को विपर्यय भी कहते हैं—"मिथ्याज्ञानं विपर्ययः"। जिसके नेत्र में पीलिया रोग हो उसको श्वेत शंख भी पीला दिखाई पड़ता है; अतः श्वेत शंख में पीत का प्रत्यक्ष व्यपदेश है; व्यपदेशविवर्जित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष का चौथा विशेषण यह है कि जो व्यवसायात्मक हो। व्यवहारसाधक ज्ञान व्यवसायात्मक कहलाता है। जिस इन्द्रिय का जो व्यवसाय है, उसी के अनुसार प्रत्यक्ष होना चाहिए। देखकर, छू करके, चख करके, सूंघ करके, सुन करके जो ज्ञान की उपलब्धि होती है; वह व्यवसायात्मक है। इन्द्रियों में विकार, अत्यन्त दूरी, अधिक समीपता, पदार्थों की सूक्ष्मता, मन की अस्थिरता प्रत्यक्ष में बाधक होते हैं। यदि इन्द्रिय में दोष है, वह अपना कार्य ठीक से नहीं कर सकती तो व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन्द्रियों की जितनी शक्ति है उसी के अनुकूल प्रत्यक्ष होगा। यदि पदार्थ अत्यन्त दूर है अथवा अत्यन्त सूक्ष्म है तो व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि किसी साधन से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ा ली जाय तो अत्यन्त दूर एवं अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। टेलीस्कोप दूरबीन से अत्यन्त दूर के पदार्थ देखे जाते हैं। सूक्ष्म वीक्षणयन्त्र माइक्रोस्कोप से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ भी देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त योगीजन भी योगाभ्यास द्वारा मनोबल को बढ़ा करके इन्द्रियों की शक्ति में वृद्धि कर लेते हैं। व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष के लिए मन और इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर भी यदि मन का संयोग नहीं हुआ तो व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष नहीं होगा।

प्रश्न—योगियों को दिव्य प्रत्यक्ष कैसे होता है?

उत्तर—योगीजन इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियों को रोक करके चित्त को अन्तर्मुख कर लेते हैं। चित्त जब सूक्ष्म पाञ्चभौतिक तन्मात्राओं पर एकाग्र होता है तो उनका दिव्य प्रत्यक्ष होता है, जिससे योगी को बिना बाह्य विषयों के संयोग के

ही दिव्य रूप, दिव्य शब्द (अनाहत), दिव्य रस, दिव्य गन्ध और दिव्य स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। दिव्य प्रत्यक्ष में सूक्ष्मतन्मात्राओं का प्रत्यक्ष होता है, जो कि सामान्य भौतिक प्रत्यक्ष से विशिष्ट होता है।

अनुमान प्रमाण

न्याय दर्शन में दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। व्याप्ति के आधार पर केवल लिङ्ग (चिह्न) को देखकर साध्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता है। रसोईघर में किसी ने देखा कि आग जल रही है, धुआँ निकल रहा है तो उसे यह प्रत्यक्ष हो गया कि जहाँ धुआँ निकलता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, इस प्रकार धुआँ अग्नि का लिङ्ग हुआ। यहाँ धूम और अग्नि का जो सम्बन्ध है वह व्याप्ति है। व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ। व्याप्तिज्ञानपूर्वक वही व्यक्ति बाद में किसी पर्वत पर गया। वहाँ जा करके पर्वत में कहीं धुआँ देखा, जिसे देखकर उसे व्याप्ति का स्मरण हुआ। वहाँ लिङ्गरूप धुएँ को तो वह देख रहा है किन्तु साध्यरूप अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं कर पा रहा है; तथापि व्याप्तिस्मरणपूर्वक धुएँरूप लिङ्ग के आधार पर अग्नि का वह अनुमान करता है। आस्तिक दर्शन में अनुमान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नव्य न्याय में अनुमान इस शास्त्र का प्रमुख अंग बन गया है। ईश्वरसिद्धि अनुमान व शब्द प्रमाण पर ही आधारित है। लोक में भी देखते हैं कि किसी निर्मित वस्तु को बनाने वाला कर्ता अवश्य होता है। बिना कर्ता के रचना सर्वथा असंभव है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं उनमें रचना और क्रिया प्रत्यक्ष है; अतः रचना और क्रिया को देखने से अनुमान होता है कि इसको बनाने वाला एवं संचालन करने वाला कोई कर्ता अवश्य होगा; जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है।

अनुमान के तीन स्वरूप हैं—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् और ३. सामान्यतोदृष्ट। इसकी विशेष व्याख्या आगे की जायगी। न्यायदर्शन में अनुमान के यही तीन भेद हैं। अनुमान-सिद्धिप्रक्रिया में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच अवयव हैं, जिन्हें षोडश पदार्थों में से एक पदार्थ माना गया है॥ १७-१८॥

पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा।
त्रयाणां कारणात्कार्यमनुमानमिह गीयते॥१९॥

अनुमानत्रैविध्यमाह—पूर्ववदिति।

पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टं चेत्यनुमानत्रयम्। चः समुच्चये, एवेति पूरणार्थे, तथेति उपदर्शने। तत्र त्रिषु मध्ये, आद्यमनुमानमिह—शास्त्रे कारणात्कार्यमनुमानमुदितं कारणान्मेघात्कार्यं वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यनामानुमानं कथितमित्यर्थः॥ १९॥

सुधा - अथानुमानविषयमाह—**पूर्ववत्यादिना ।**

अन्वयः - पूर्ववत् शेषवत् च एव तथा सामान्यतोदृष्टम् । तत्र आद्यम् इह कारणात् कार्यमनुमानं गीयते ॥ १९ ॥

सुधा - पूर्ववत्=कारणात्कार्यानुमानम्, शेषवत्=कार्यात्कारणानुमानम्, च=समुच्चये, एव=पूरणार्थे, तथा=उपदर्शने, सामान्यतोदृष्टम्=व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्, तत्र=त्रिषु मध्ये, आद्यम्=प्रथमम्, इह=शास्त्रे, कारणात्=कारणदर्शनात् । कार्यमनुमानम्=कार्यज्ञानं यथा हि कारणान्मेघात्कार्यं वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यनामानुमानं, गीयते=कथितमित्यर्थः ॥१९॥

पदार्थ - पूर्ववत्=कारण को देखकर कार्य का अनुमान । शेषवत्=कार्य को देखकर कारण का अनुमान । च=समुच्चय के अर्थ में पद । एव=पूरणार्थ पद । तथा=एवम् । सामान्यतोदृष्टम्=व्याप्तिज्ञानपूर्वक अनुमान । तत्र=उपरोक्त तीनों में । इह=न्यायदर्शन में । कारणात्=कारण को देखकर । कार्यमनुमानम्=कार्य का अनुमान कर लेना, उदाहरणार्थ कारणरूप काले बादलों को देख करके कार्यरूप वर्षा का अनुमान कर लेना पूर्ववत् अनुमान । गीयते=कहलाता है ॥ १९ ॥

भाषाप्रकाश—अनुमान के तीन भेद होते हैं—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् और ३. सामान्यतोदृष्ट । कारण को देख करके कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् है, उदाहरणार्थ काले बादलों को देख करके अनुमान होता है कि वर्षा होगी, यहाँ बादल कारण है एवं वर्षा कार्य है । किसी व्यक्ति की भयङ्कर क्रोधाग्नि को देख करके उससे सम्भावित संघर्ष व कलह का अनुमान कर लिया जाता है । इसी प्रकार अनेक कारणों को देखकर अनेक कार्यों का अनुमान किया जाता है ॥१९॥

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः ॥ २० ॥

निदर्शनेन तमेवार्थं द्रढयन्नाह—**रोलम्बेति ।**

यथेति दृष्टान्तकथनारम्भे, रोलम्बाः=भ्रमराः, गवलं=माहिषं शृङ्गम्[1], व्यालाः=गजाः सर्पा वा, तमालाः=वृक्षविशेषाः, सर्वेऽप्यमी कृष्णाः पदार्थाः स्वभावतो ज्ञेयाः । द्वन्द्वसमासो बहुव्रीहिश्च । एवंप्रायाः=एवंविधाः पयोमुचो=मेघा वृष्टिं न व्यभिचरन्तीति । एवंप्रमया इत्युपलक्षणेन परेऽपि वृष्टिहेतवोऽभ्युन्नत्यादिविशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्—

गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
तुङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥
इत्यादयोऽपि वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥ २० ॥

[1] 'गवलो अरण्यजातिमहिषः, व्याला दुष्टगजा सर्पाश्च'—गुणरत्नटीका ॥

सुधा - निदर्शनेन तमेवार्थमाह—**रोलम्बेत्यादिना ।**

अन्वयः - रोलम्ब-गवल-व्याल-तमाल-मलिनत्विषः एवंप्रायाः पयोमुचः इह वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥ २० ॥

व्याख्या - रोलम्बाः=भ्रमराः, गवलं=माहिषं शृङ्गम्, व्यालाः=सर्पाः, तमालाः=वृक्षविशेषाः, मलिनत्विषः=कृष्णाः, एवंप्रायाः=एवंविधाः, पयोमुचः=मेघाः, इह=लोके, वृष्टिम्=जलवर्षणम्, न व्यभिचरन्ति=नोपेक्ष्यन्ते, अवश्यमेव वृष्टिं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

पदार्थ—रोलम्बाः=भौंरे । गवलम्=भैंस की सींग । व्यालाः=काले सर्प । तमालाः=काले-काले पान के वृक्ष । मलिनत्विषः=उपरोक्त वर्ण वाले काले बादल व वर्षा के योग्य मटमैले वर्णवाले । एवंप्रायाः=उपरोक्त वर्णवाले । पयोमुचः=बादल । वृष्टिं=वर्षा । न व्यभिचरन्ति=अवश्य करते हैं, वह वर्षा न करें—ऐसा नहीं हो सकता ।

भाषाप्रकाश—पूर्ववत् अनुमान का उदाहरण दिया गया है कि भौंरों की तरह काले, भैंस के सींग की तरह काले, काले सर्प की भाँति वर्णवाले, पान के वृक्ष की तरह काले एवं वर्षा करने वाले मटमैले वर्णवाले बादल अवश्य वर्षा करते हैं । ऐसे बादलरूप कारण को देख करके कार्यरूप वृष्टि का निश्चित अनुमान किया जाता है ॥ २० ॥

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूरान्मेघो वृष्टो यथोपरि ॥ २१ ॥

शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह - **कार्यादिति ।**

यत्कार्यात्फलात्कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतुपदार्थावगमनं तच्छेषवदनुमानं मतं कथितं नैयायिकशासने, यथा तथाविधनदीपूरादुपरि मेघो वृष्टस्तथाविधप्रवहत्सलिलसम्भारभरितो यो नदीपूरः सरित्प्रवाहस्तस्मादुपरि शिखरिशिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत् । अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं च पर्वतोपरि मेघो वृष्ट इति । उक्तं च नैयायिकैः—

आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
बहुबहुलशैवालफलशाद्वलसंकुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न निवेदितुम् ॥ इति ॥ २१ ॥

सुधा—शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह—**कार्यादित्यादिना ।**

अन्वयः—यत् च कार्यात् कारणानुमानम् तत् शेषवत् मतम् । तथाविध-नदीपूरात् यथा उपरि मेघः वृष्टः ।।

व्याख्या—यत् च कार्यात्=फलात् परिणामाद्वा, कारणानुमानम्=कार्योत्पत्तिहेतुपदार्थविगमनं, तत्=तदनुमानम्, शेषवत्=यथोक्तम्, मतम्=कथितम् । तथाविध=तथैव प्रकारेण, नदीपूरात्=प्रवहत्सलिलसम्भारभरितो यो नदीपूरः नदीप्रवाहः, यथा=यथैव, उपरि=शिखरि, शिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत् अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं पर्वतोपरि मेघो वृष्टेति ।।

पदार्थ—यत् च=जो । कार्यात्=कार्य को देखकर । कारणानुमानम्=कारण का अनुमान करना है । तत्=वह । शेषवत्=शेषवत् अनुमान । मतत्=माना गया है । तथा=जैसे कि । विध=उसी प्रकार । नदीपूरात्=नदी भरी हुई देखने पर । यथा=जैसे । उपरि=पर्वत के ऊपर । मेघः=बादल । वृष्टः=बरसा है ।।

भाषाप्रकाश—कार्य को देख करके कारण का अनुमान करना शेषवत् अनुमान है। उदाहरणार्थ जल से भरपूर नदी के बाढ़ को देखकर अनुमान किया गया कि पर्वत के ऊपर वर्षा हुई है । नदी में जल का बाढ़ कार्य है और पर्वत के ऊपर वृष्टि का होना कारण है । यहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया गया, यही शेषवत् अनुमान है ।। २१ ।।

यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका ।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ।। २२ ।।

तृतीयानुमानमाह—**यच्चेति ।**

यः पुनरर्थः, यत् सामान्यतोदृष्टमनुमानं तदेवममुना प्रकारेण, यथा पुंसि पुरुषे देवदत्तादौ देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका, एकस्माद्देशाद्देशान्तरगमनं गमनपूर्वकमित्यर्थः । यथोज्जयिन्याः प्रस्थितो देवदत्तो माहिष्मतीं पुरीं प्राप्तः, सूर्येऽपि सा तथेति, यथा पुंसि तथा सूर्येऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते । यद्यपि गगने सञ्चरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसरणाभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाऽप्युदयाचलात् सायमस्ताचलचूलिकाऽवलम्बनं गतिं सूचयति ।

एवं सामान्यतोदृष्टमनुमानं ज्ञेयमित्यर्थः ।। २२ ।।

सुधा तृतीयानुमानमाह—**यच्चेति ।**

अन्वयः—यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं यथा पुंसि देशान्तरप्राप्तिः गतिपूर्विका सूर्येऽपि सा तथा ।। २१ ।।

व्याख्या—यच्च-पुनरर्थे, सामान्यतोदृष्टम्=तृतीयानुमानम्, तदेवम्=अमुना प्रकारेण, यथा पुंसि=पुरुषे यज्ञादत्तादौ, देशान्तरप्राप्तिः=एकस्मादेशादेशान्तरगमनं, सूर्येऽपि सा=गतिः, तथा=तथैव, यथा पुंसि तथा सूर्येऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते ।।

पदार्थ—यच्च=जो कि । सामान्यतोदृष्टम्=सामान्यतोदृष्ट अनुमान । तदेवम्=वह इस प्रकार है । यथा पुंसि=जैसे मनुष्य में । देशान्तरप्राप्तिपूर्विका=एक जगह से दूसरे जगह जाने वाली गति देखी जाती है । सा=वह । गतिः=गति । सूर्येऽपि=सूर्य में भी । तथा=उसी प्रकार देखी जाती है ।।

भाषाप्रकाश—सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते है, जिसमें सामान्यतया प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान कर लिया जाता है । उदाहरणार्थ जैसे मनुष्य एक जगह से चल कर दूसरी जगह पहुँच जाता है उसी प्रकार सूर्य भी चलता है । जिस प्रकार घट, पट आदि को देखते हैं कि उनका कर्ता कुम्भकार जुलाहे आदि हैं उसी प्रकार संसार को भी बनाने वाला कोई है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं । ईश्वरसिद्धि में सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण है ।

प्रश्न—सामान्यतोदृष्ट अनुमान के उदाहरण में जो सूर्य के चलने की बात कही गई है, वह गलत है । आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि सूर्य नहीं चलता, बल्कि पृथ्वी चलती है ।

उत्तर—आधुनिक विज्ञान के अनुसार पृथ्वी चलती है और सूर्य अपनी धुरी पर ही चक्कर काटता रहता है । अतएव सूर्य गतिहीन नहीं है, बल्कि उसमें भी गति है, अतः प्राचीन दृष्टिकोण मे कोई विशेष विरोध नहीं है । वेद में भी आया है कि—"सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः" अर्थात् सूर्य अपनी धुरी पर अकेला घूमता है ।।२२ ।।

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ।। २३ ।।

अथ क्रमायातमपि शब्दप्रमाणं स्वल्पव्यक्तत्वादुपेक्ष्यादावुपमानलक्षणमाह—**प्रसिद्धेति ।**

तदुच्यमानमुपमानमाख्यातं कथितं, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, यत्किम् ? अप्रसिद्धस्य साधनम् अज्ञायमानस्यार्थस्य ज्ञापनं क्रियते । प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादिति । आबालगोपालाङ्गनाविदितो योऽसौ धर्मोऽसाधारणलक्षणं तस्य साधर्म्यं समानधर्मत्वं तस्मादित्युपमानमाख्यातम् । दृष्टान्तमाह—यथा गौर्गवयस्तथेति । यथा कश्चिदरण्यवासी नागरिकेण कीदृग्गवयः ? इति पृष्टः स च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह—यथा गौस्तथा गवयः, खुरककुदलांगूलसास्नाऽऽदिमान् यादृशो गौस्तथा जन्मसिद्धो गवयोऽपि ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयस्य साधनमिति ।।२३।।

सुधा—अथोपमानलक्षणमाह—**प्रसिद्धेति ।**

अन्वयः—प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम्–उपमानं समाख्यातम्, यथा गौः, तथा गवयः ।

व्याख्या—प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात्=ज्ञायमानस्यार्थस्य समानधर्मज्ञापनात्, अप्रसिद्धस्य=अज्ञायमानस्यार्थस्य, साधनम्=ज्ञानम्, उपमानम्=उपमानं प्रमाणम्, समाख्यातम्=कथितम्, यथा गौः=यथा धेनुः, तथा गवयः=गोसदृशप्राणिविशेषः, यथा कश्चित् वनवासीनागरिकेण पृष्टः कीदृग्गवयः ? स च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह—यथा गौस्तथा गवयः, खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमान् यादृशो गौस्तथा जन्मभिदो गवयोऽपि ज्ञेयः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयसाधनमिति ॥

पदार्थ—प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात्=प्रसिद्ध जानी हुई वस्तु के समान धर्म-लक्षण बतलाने से । अप्रसिद्धस्य=बिना जानी हुई वस्तु का । साधनम्=सिद्ध करना । बतलाना, जानना । उपमानम्=उपमान प्रमाण । समाख्यातम्=कहा गया है । यथा=उदाहरणार्थ । गौः=जैसे गाय । तथा=वैसे ही । गवयः=नीलगाय जानवर ॥

भाषाप्रकाश - जानी हुई वस्तु के लक्षण व धर्म के आधार पर न जानी हुई वस्तु को जानना, पहचानना उपमान कहलाता है । किसी नगरनिवासी मनुष्य ने जंगल में जाकर किसी जंगली मनुष्य से पूछा कि गवय (नीलगाय) कैसा होता है ? उसने उत्तर दिया—गोसदृशोगवयः अर्थात् जैसे खुर, पूंछ, सींग, सास्ना, डिल्ला वाली गाय होती है वैसे ही गवय (नीलगाय) भी होती है । यहाँ नागरिक के लिए गाय प्रसिद्ध वस्तु है और गवय अप्रसिद्ध है । प्रसिद्ध वस्तु गाय के लक्षण कर देने से अप्रसिद्ध नीलगाय को पहचानना उपमान प्रमाण द्वारा किया जाता है ॥२३॥

शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥ २४ ॥

उपमानं व्याख्यायं शब्दप्रमाणमाह—**शाब्दमिति ।**

तु पुनराप्तोपदेशः शाब्दम्, अवितथवादी हितश्चाप्तः प्रत्ययितजनस्तस्य य उपदेश आदेशवाक्यं तच्छाब्दम् आगमप्रमाणं ज्ञेयमिति । एवमुक्तभङ्ग्या मानं प्रमाणं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं निष्ठितमित्यर्थः ।

अथ प्रमेयलक्षणमाह—**प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि चेति ।** प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयं, तु पुनरर्थे, आत्मा च देहश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्देन शेषाणामपि षण्णां प्रमेयार्थानां संग्रहः । तच्च नैयायिकसूत्र[1] आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधं, तत्र

१ आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।
—न्यायसूत्र १-१-९ ॥

सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रमीयते, एवं देहादयोऽपि प्रमेयतया ज्ञेयाः, अत्र तु ग्रन्थविस्तारभयान्न प्रपञ्चिताः, इतरग्रन्थेभ्योऽपि सुज्ञेयत्वाच्चेति ॥ २४ ॥

सुधा—शब्दप्रमाणलक्षणमाह—**शाब्दमिति ।**

अन्वयः—आप्तोपदेशस्तु शाब्दम्, एवं मानं चतुर्विधम् । च आत्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च प्रमेयम् ॥

व्याख्या—आप्तोपदेशः—आप्तस्तु यथार्थवक्ता, तु=पुनः, तस्य उपदेशः=आदेशवाक्यम्, शाब्दम्=शब्दप्रमाणं ज्ञेयमिति, एवम्=इत्थं, मानम्=प्रमाणम्, चतुर्विधम्=चतुष्प्रकारमुक्तम् । च=एव, आत्मदेहार्थ—आत्मा=ज्ञानाधिकरणमात्मा, देहः=शरीरम् चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः । अर्थाः=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादयः । इन्द्रियाणि=घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः, बुद्धिः=उपलब्धिर्ज्ञानम्, मनः—यन्मनुते तन्मनः । प्रवृत्तिः—यस्मात् प्रवर्तते वाग्बुद्धिशरीरारंभः । दोषः=प्रवर्तनालक्षणो दोषः । प्रेत्यभावः=पुनरुत्पत्तिः । फलम्=प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः । दुःखम्=प्रतिकूलवेदनीयम् । सुखम्=अनुकूलवेदनीयम् । अपवर्गः=मोक्षः । इति द्वादशविध प्रमेयम्—प्रमातुं योग्यं प्रमेयमिति ॥

पदार्थ—आप्तोपदेशः=प्रत्यक्षद्रष्टा व यथार्थ वक्ता का उपदेश । तु=पुनः । शाब्दम्=शब्द प्रमाण कहलाता है । एवम्=इस प्रकार । मानम्=प्रमाण । चतुर्विधम्=चार प्रकार के बतलाए गए हैं । च एव=और फिर । आत्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च=आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्तिदोष, प्रेत्यभाव, फल, सुख-दुःख एवं अपवर्ग—यह बारह प्रमेय माने गए हैं । प्रमाणों से जिसका ज्ञान किया जाय उसे प्रमेय कहते हैं । न्यायशास्त्र में बारह प्रमेय माने गए हैं, जिनकी व्याख्या व लक्षण आगे किया जायगा ॥

भाषाप्रकाश—प्रत्यक्ष देखने वाले एवं यथार्थ रूप में कहने वाले को आप्त कहते हैं । आप्तवचन शब्द प्रमाण माना गया है । जिन्होंने प्रत्यक्ष व परोक्ष विषयों का साक्षात्कार कर लिया है और यथार्थ तत्त्व का उपदेश करते हैं उन्हें आप्त कहते हैं । सत्य वचन होने से वह शब्द प्रमाण माना जाता है ।

प्रश्न - जब प्रमाण अपने इन्द्रियों व अनुभव के आधार पर माने गए हैं तो केवल आप्त के वचन को ही हम प्रमाण क्यों मान लें ?

उत्तर—शब्द प्रमाण लौकिक व पारलौकिक सभी प्रकार के प्रत्यक्ष व अनुमान के लिए मान्य है । शब्द प्रमाण की मान्यता के बिना ज्ञान का सम्पादन नहीं किया जा सकता । भारत का विद्यार्थी अपने अध्यापक द्वारा पढ़ाए गए भूगोल में शब्द

प्रमाण के आधार पर ही अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली आदि देशों के मानचित्र, भौगोलिक व सामाजिक स्थितियों का ज्ञान प्राप्त करता है। उन देशों में न तो विद्यार्थी गया है, न पढ़ाने वाला अध्यापक ही गया है; फिर भी उसकी मान्यता शब्द प्रमाण के आधार पर देनी ही पड़ती है। सम्पूर्ण इतिहास, सामाजिक व राजनैतिक घटनाएँ शब्द प्रमाण के आधार पर ही आधारित हैं। शब्द प्रमाण के बिना व्यवहार व ज्ञान असम्भव है। जिस प्रकार लौकिक ज्ञान के लिए शब्द प्रमाण माननीय है उसी प्रकार अतीन्द्रिय व पारलौकिक पदार्थों के ज्ञान के लिए भी ऐसे महापुरुषों के उपदेश, जिन्होंने उन विषयों का साक्षात्कार कर लिया है और यथार्थ वक्ता हैं उनके उपदेश, प्रमाण के रूप में माननीय हैं, किन्तु ऐसे लोगों के उपदेश, जिन्होंने न तो साक्षात्कार किया है और न ही यथार्थवक्ता है उन्हें शब्द प्रमाण कदापि नहीं मानना चाहिए।

आगे प्रमाणों का लक्षण करके अब प्रमाणों की मान्यता पर न्यायदर्शन-विहित शंका-समाधान किया जायगा।

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्षादि प्रमाण अमान्य हैं, क्योंकि उनमें पूर्व, अपर एवं सहभाव की सिद्धि नहीं होती। यदि प्रमाण प्रमेय से पहले माने जायँ तो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न होगा। यदि प्रमाण प्रमेय के बाद माने जायँ तो प्रमेय की सिद्धि न हो सकेगी। यदि दोनों एक साथ माने जायँ तो बुद्धि के क्रमवृत्तित्व का अभाव होगा, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय भिन्न हैं, अतः एक साथ सबका प्रत्यक्ष नहीं होगा।

उत्तरपक्ष—यदि आपका खण्डन व प्रतिषेध पहले से ही सिद्ध है तो आप किसका खण्डन व प्रतिषेध कर रहे हैं, क्योंकि बिना प्रतिषेध्य के प्रतिषेध होगा नहीं। यदि पश्चात् सिद्ध है तो प्रतिषेध के अभाव से प्रतिषेध्य भी सिद्ध नहीं होगा और यदि प्रतिषेध एवं प्रतिषेध्य एक साथ सिद्ध हैं तो प्रतिषेध ही निरर्थक है। सब प्रमाणों का प्रतिषेध करने से प्रतिषेध की सिद्धि नहीं होगी। प्रमाण एवं प्रमेय तुला प्रामाण्य से है, जैसे तोला स्वयं खटखरा रत्ती मासा से तौलते समय प्रमेय के साथ-साथ स्वयं ही प्रमाण भी होता है।

पूर्वपक्ष—प्रमाणों से अन्य प्रमाणों की सिद्धि होने पर प्रथम प्रमाण की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण को सिद्धि करनी होगी। यदि बिना प्रमाण के ही प्रमाण सिद्ध हैं तो प्रमेय को भी बिना प्रमाण के सिद्ध क्यों नहीं कर लेते हो?

उत्तरपक्ष—जैसे दीपक अपने प्रकाश से स्वतः प्रकाशित है तथा औरों को भी प्रकाशित करता है वैसे ही प्रमाण भी स्वतः सिद्ध होकर और प्रमेयों को भी सिद्ध करता है।

प्रमेय

प्रमाणों का निरूपण करके अब प्रमेय का निरूपण करते हैं। षोडश पदार्थों में प्रमेय द्वितीय पदार्थ है। "प्रमाकर्तुं योग्यं प्रमेयम्" यथार्थ ज्ञान प्रमाण कहलाता है और यथार्थ ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रमाणों द्वारा प्रमेय की परीक्षा व ज्ञान किया जाता है। प्रमेय ही मूलभूत ज्ञेय पदार्थ हैं (प्रमेय बारह माने गए हैं, जो क्रमशः १. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. सुख-दुःख एवं १२. अपवर्ग के नाम से जाने जाते हैं) न्यायशास्त्र में इन्हीं द्वादश प्रमेयों का प्रमाणों द्वारा लक्षण व परीक्षण किया गया है।

आत्मा

ज्ञान का अधिकरण चैतन्यस्वरूप आत्मा द्रव्य है, जो कि नित्य, चेतन व कूटस्थ है। "ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वानणुः आत्मा" अर्थात् आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्तारूप अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य है। समस्त विश्व में जड़ एवं चेतन द्रव्य पाए जाते हैं। चेतन जानने वाला, कर्म करने वाला, व भोगने वाला है। जड़ प्रकृति ज्ञेय, कार्य एवं भोग्य है। आत्मा की सिद्धि में निम्नलिखित हेतु हैं—

१. संसार में जड़-चेतनभेद से तत्त्व पाए जाते हैं। जड़ से भिन्न जानने वाला, अनुभवकर्ता, कर्मों का प्रेरक कोई चेतनतत्त्व है, जो कि आत्मा है।

२. जड़-चेतनात्मक जगत का मूल कारण परम चैतन्यमय व परम शक्ति एवं सत्ता का आश्रय है।

३. प्राणधारियों में अपनी सत्ता के प्रति नित्यत्व का भाव यह कि "योऽहम् सोऽहम्" जो मैं कल था वही मैं आज भी हूँ, जगत के जड़तत्त्वों में लौकिक परिस्थितियों में शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वसत्तानुभूति ज्यों की त्यों बनी ही रहती है, जो कि आत्मा के नित्य होने में प्रमाण है।

४. जिस वस्तु को आँख से देखते हैं उसी को हाथ से उठाते हैं और हम कहते हैं कि जिसे हमने आँख से देखा उसी को स्पर्श किया। जिसे जीभ से चखा उसी को आँख से देखा। अतः इन्द्रियों से भिन्न उनके विषयों का ग्रहण करने वाला एक आत्मा है जो सभी इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों का साक्षी रूप में अनुभव करता है। समस्त इन्द्रियों के अपने-अपने विषय नियत हैं, इसी से भिन्न चेतन आत्मा का अनुमान किया जाता है।

५ यदि देह से भिन्न आत्मा न होता तो मुर्दे के लाने व गाड़ने से पाप होता, अतः इससे भी आत्मा सिद्ध है।

२. जिसे बाईं आंख से देखा उसी को दाहिनी आंख से भी देखते हैं, इससे भी विषयों का साक्षी अनुभवकर्ता आत्मा स्वयं सिद्ध है।

३. इन्द्रियान्तर विकार से भी आत्मा सिद्ध है। किसी पके हुए फल को देखकर मुंह में पानी आ जाता है। इससे सिद्ध होता है कि स्मरण करनेवाला इन्द्रियों से भिन्न आत्मा है।

४. स्मृति, संस्कार एवं स्वप्न से भी आत्मा सिद्ध है।

५. आत्मा नित्य है, बार-बार जन्म लेता है; इसलिए पूर्वजन्म के अभ्यास से नवीन उत्पन्न बालक के हृदय में भी जो हर्ष, भय, शोक उत्पन्न होते हैं, इससे भी अनुमान किया जाता है कि वह स्मृति के कारण उत्पन्न होते हैं। स्मृति पूर्व अनुभव व अभ्यास के बिना नहीं हो सकती। पूर्व अनुभव व अभ्यास पूर्व जन्म के बिना असम्भव है। पूर्व जन्म के प्रभाव से ही बालक जन्म लेते ही माता के स्तन को चूसने लगता है।

६. आत्मा के नित्य होने में यह भी कारण है कि रागानुबद्ध जीव ही जन्म लेता है, वीतराग नहीं। राग ही जन्म का कारण है। यह बिना पूर्व संस्कारों के हो ही नहीं सकता; तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से जब राग की वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं तब जन्म नहीं होता और इसी को मुक्तावस्था कहते हैं। मिथ्याज्ञान के दूर होने पर संस्कार नष्ट होते हैं, संस्कारों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति का नाश होता है, प्रवृत्ति का नाश होने पर जन्म नहीं होता और जब जन्म नहीं होता तब दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। उसी को मुक्ति अथवा निर्वाण कहते हैं।

शरीर

"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" चेष्टा, इन्द्रियों व उनके विषयों के आश्रय को शरीर कहते हैं। किसी कर्म को करने के लिए मन, शरीर व इन्द्रियों को इच्छापूर्वक जो प्रयत्न करना पड़ता है उसे ही चेष्टा कहते हैं। शरीर ही भोगायतन है, जहाँ आत्मा अधिष्ठित होकर मन एवं दश इन्द्रियों द्वारा शब्द-रूप-स्पर्श-गन्ध-रस आदि पञ्च विषयों के माध्यम से भौतिक जगत का ज्ञान, अनुभव व भोग करता है। शरीर तीन प्रकार का है—१. कारणशरीर; २. सूक्ष्मशरीर, और ३. स्थूल शरीर। सत्त्व, रज एवं तम स्वभाववाली प्रकृति (मूल पदार्थ) के साथ जो आत्मा का संयोग है वह मूलतत्त्व अव्यक्त अनादि प्रकृति से कारणशरीर है। तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली अव्यक्त सूक्ष्म प्रकृति के वैषम्य व उससे उत्पन्न महत्तत्त्व, आत्मा एवं महत्तत्त्व के संयोग से उत्पन्न अहंकारपूर्वक कारणशरीर है। कारण-शरीर सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों शरीरों का आधार है। जगत में उत्पन्न सभी प्राणियों का कारण शरीर एक ही है। अहंकारपूर्वक सूक्ष्म शरीर के साथ संयोग होने

पर स्थूल शरीर के रूप में विभिन्न शरीर विभक्त होते हैं, विभिन्न प्रकृतियों का निर्माण होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ, कर्मेन्द्रियों के सूक्ष्म संस्कार, पञ्च प्राणवायु, अहंकार आदि सब मिलकर सूक्ष्म शरीर हैं। स्थूल शरीर का आधार भी सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर छूट जाने पर भी सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ ही रहता है। इसी के आधार पर पूर्व शरीर के संस्कार-अनुसार स्थूल शरीर का निर्माण होता है। मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का नाश हो जाता है, कारण-शरीर के अहंकार एवं सत्त्व-रज-तम आदि गुणों की पुरुषार्थशून्यता व लय हो जाता है। स्थूल शरीर छूटने के पश्चात् सूक्ष्म शरीर द्वारा ही जीव पूर्व कर्मों के फल का भोग करता है एवं अगले जन्म, योनि, आयु, कर्म, वित्त, विद्या व निधन की रूप-रेखा सूक्ष्म शरीर द्वारा बनती है। उसी आधारशिला पर अगले जीवन का निर्माण होता है, स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है, जिसकी भूमिका व आधार पूर्व जन्म के कर्मों के सूक्ष्म संस्कार होते हैं। इस प्रकार जन्म लेने के पूर्व वासनानुसार सूक्ष्म शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है।

सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में अधिष्ठित रहता है। स्थूल इन्द्रियाँ सूक्ष्म इन्द्रियों के ठहरने के गोलक व अधिष्ठान हैं। जब तक सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में अधिष्ठित रहता है तब तक उसे जीवन कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के अलग हो जाने पर स्थूल शरीर जीवनरहित होकर मृत हो जाता है। स्थूल शरीर द्वारा अर्जित वासना व संस्कार सूक्ष्म शरीर में वर्तमान रहते हैं, जिनके आधार पर पुनः स्थूल शरीर की रचना होती है। इस प्रकार विवेक द्वारा मोक्ष होने पर्यन्त जीवनचक्र घटीयन्त्रवत व कुलालचक्रवत चला करता है, विभिन्न योनियों व लोकों में भ्रमण करता हुआ जीव सुख-दुःख का भोग करता रहता है। अस्थि, मांस, त्वचा, रक्त, रस, मज्जा, वीर्य आदि सप्त धातुओं से निर्मित पाञ्चभौतिक शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। नाना प्रकार की योनियाँ, विभिन्न जातियाँ, विभिन्न आकृतियाँ स्थूल शरीर के ही भेद हैं। इसका आधार सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर द्वारा ही स्थूल शरीर का संचालन होता है। यह विभिन्न अंगों, यन्त्रों, स्नायुओं, शिराओं व विभिन्न संस्थानों से युक्त चेष्टा, इन्द्रियों व विषयों का आश्रयस्वरूप विषयसेवन द्वारा सांसारिक भोग दुःख, सुख के अनुभव का साधन है एवं योगाभ्यास द्वारा सांसारिक विषयों के परम वैराग्य द्वारा अलौकिक आनन्द, नाना सिद्धियों एवं मोक्ष का साधन भी यही शरीर है।

इन्द्रिय और अर्थ

"घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः" अर्थात् नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा एवं कान ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो कि पाञ्चभौतिक हैं। नासिका

पृथ्वी-तत्त्वप्रधान है, इसमें गन्धतन्मात्रा अधिष्ठित है। गन्धतन्मात्रा नासिका के अग्रभाग में है। गन्ध पृथ्वी का विशिष्ट गुण व स्वाभाविक धर्म है, कहा भी है—"व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः"। गन्ध नासिका इन्द्रिय का अर्थ है। पृथ्वी में स्थित बाह्यार्थ गन्ध का संयोग जब नासिका इन्द्रिय से होता है तब गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। रसना जल-तत्त्वप्रधान है, इसमें रसतन्मात्रा अधिष्ठित है। रसतन्मात्रा जिह्वा के अग्रभाग में है। रस जल का विशिष्ट गुण व स्वाभाविक धर्म है। रस जिह्वा इन्द्रिय का अर्थ है; जल में स्थित बाह्यार्थ रस का संयोग जब रसना इन्द्रिय से होता है तब रस का प्रत्यक्ष होता है। नेत्र तेज-तत्त्वप्रधान है, इसमें तेजतन्मात्रा अधिष्ठित है। तेजतन्मात्रा नेत्र में कृष्णा तारा (पुतली) भाग में रहता है, रूप तेज का विशिष्ट गुण व स्वभाविक धर्म है। तेज में स्थित बाह्यार्थ रूप का संयोग जब नेत्र से होता है तब रूप का प्रत्यक्ष होता है। रूप नेत्रेन्द्रिय का अर्थ है। त्वचा वायु-तत्त्व-प्रधान है, इसमें स्पर्शतन्मात्रा अधिष्ठित है। स्पर्श वायु का विशिष्ट गुण व स्वाभाविक धर्म है। स्पर्श त्वचा इन्द्रिय का अर्थ है। वायु में स्थित बाह्यार्थ स्पर्श का संयोग जब त्वचा से होता है तो स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्र (कान) आकाश तत्त्वप्रधान है, इसमें शब्दतन्मात्रा अधिष्ठित है। यह कर्णविवर में स्थित है। शब्द आकाश का विशिष्ट गुण व स्वाभाविक धर्म है। शब्द कान का अर्थ है। आकाश में स्थित बाह्यार्थ शब्द का संयोग जब कान से होता है तब शब्द का प्रत्यक्ष होता है।

समस्त जगत पाञ्चभौतिक है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश पञ्च महाभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द—यह पाँच अर्थ अथवा विषय हैं। पञ्चभूतों के वह गुण, धर्म, जिन्हें इन्द्रियों से ग्रहण किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। पृथ्वी का गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द स्वाभाविक गुण है, जो कि इन्द्रियों के अर्थ हैं। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि पाँचों भूतों में प्रत्येक का एक-एक अर्थ स्वाभाविक है, फिर भी एक-दूसरे के संयोग से नैमित्तिक गुण भी पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ यद्यपि पृथ्वी का स्वाभाविक गुण गन्ध है, फिर भी तेज के संयोग से रूप, जल के संयोग से रस, वायु के संयोग से स्पर्श व आकाश के संयोग से शब्दरूप नैमित्तिक गुण भी उसमें पाए जाते हैं। इसी प्रकार सभी भूतों में नैमित्तिक गुण व धर्म पाए जाते हैं। उपरोक्त पञ्चमहाभूतों के कारणस्वरूप सूक्ष्म अंश इन्द्रियों में अधिष्ठित हैं, जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं। सभी इन्द्रियों में स्नायुतन्तु विद्यमान हैं, जिनके अन्दर उस इन्द्रिय के बाह्य भूत की तन्मात्रा विद्यमान है। जब अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होता है तो इन्हीं तन्मात्राओं के माध्यम से ज्ञाननाडियों द्वारा मन व बुद्धि

का केन्द्रस्थान मस्तिष्क में जाता है, जहाँ कि मन के माध्यम से उस अर्थ का प्रत्यक्ष व अनुभव होता है, जिसका ज्ञाता व भोक्ता आत्मा है। अर्थ भूतों में है, उनका संयोग इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों में सूक्ष्म भौतिक दिव्य तन्मात्राओं से अर्थ का संयोग होने पर ज्ञाननाड़ियों द्वारा मन पर आभास होता है, जिससे आत्मा उस विषय अथवा अर्थ का अनुभव करता है तथा चैतन्य बुद्धि नाड़ियों के पटल पर उसका संस्कार पड़ता है एवं बुद्धि व विचारतन्तुओं द्वारा उसका विचार होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव व ज्ञान में भौतिक अर्थ, इन्द्रिय व तन्मात्राएँ, ज्ञाननाड़ियाँ, मस्तिष्क, मन व बुद्धि साधन हैं। इन साधनों के द्वारा ही आत्मा को बाह्य पाञ्चभौतिक जगत का ज्ञान होता है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा अभौतिक? आँख से छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा पदार्थ भी देखा जाता है। यदि यह भौतिक होतीं तो इसके देखने की सीमा भी निर्धारित होती।

उत्तर चक्षु तैजस इन्द्रिय है, इसलिए उसकी किरणें तेज की किरणों से मिल कर दृश्य वस्तु में व्यापक हो जाती हैं; जिससे पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। अत्यन्त दूर स्थित एवं अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ नेत्र के ग्रहण-शक्ति की सीमा से बाहर होने के कारण नहीं देखे जाते। अतः सिद्ध है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। उदाहरणार्थ दीपक का प्रकाश सभी छोटी-बड़ी वस्तुओं को समान रूप से प्रकाशित करता है।

प्रश्न—आपने कहा कि चक्षु की किरणें तेज की किरणों से मिलकर दृश्य वस्तु में व्यापक हो जाती हैं। हो सकता है कि आपका कहना ठीक हो, लेकिन तेज की किरणों का तो प्रत्यक्ष होता है, जबकि चक्षु की किरणों को कोई नहीं देख पाता; अतः यह हेतु ठीक नहीं है।

उत्तर—जो वस्तु अनुमान से सिद्ध है उसे प्रत्यक्ष से यदि न ग्रहण किया जाय तो उससे उसका अभाव नहीं मानना चाहिए। जैसे पृथ्वी के नीचे का भाग या चन्द्रमा का पिछला भाग हमें नहीं दीखाई देता, फिर भी हम उसे मानते हैं। बहुत से द्रव्य ऐसे होते हैं, जिनका प्रत्यक्ष होता है और बहुत से ऐसे होते हैं जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता; अपितु वे अपने गुण से पहचाने जाते हैं। जल और अग्नि के परमाणु को कोई नहीं देखता, फिर भी वह शीत व उष्ण स्पर्श से जाने जाते हैं। अनेक द्रव्य जब आपस में मिलते हैं तब उनमें रूप का उद्भव होता है। जब वे अपने कारणरूप में रहते हैं तब रूप का अनुद्भव रहता है। इसी प्रकार आँख की किरणें भी अनुद्भूत रूप हैं, इसीलिए उनका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। तेज

के परमाणुओं में कहीं रूप और स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है, कहीं केवल स्पर्श की होती है और कहीं दोनों की ही उपलब्धि नहीं होती। जिसमें रूप-स्पर्श दोनों की उपलब्धि होती है; उसी का प्रत्यक्ष होता है। जिसमें केवल रूप की उपलब्धि होती है उसका भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे दीपक की किरणों का। जिसमें केवल स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, रूप का नहीं; उसका भी प्रत्यक्ष होता है; जैसे उष्ण जल में स्पर्श से तेज का प्रत्यक्ष होता है। जिसमें रूप और स्पर्श दोनों ही नहीं होते उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे आँख की किरणों का। समस्त इन्द्रियाँ जीवात्मा के कर्म-फलभोग के लिए हैं, इसलिए इन्द्रियों की समस्त शक्तियाँ जीवात्मा के आधीन हैं। बीच में किसी आवरण के आ जाने से चक्षु की दर्शनशक्ति अवरुद्ध हो जाती है, इसीलिए चक्षु भौतिक है।

जिस प्रकार दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर यद्यपि तारे नहीं दिखाई देते फिर भी उनके प्रकाश का अभाव नहीं माना जाता, उसी प्रकार चक्षु की रश्मि भी दिखाई नहीं देती।

प्रश्न—तारे दिन में नहीं दिखाई पड़ते, किन्तु रात में तो; दिखाई पड़ते हैं, अत यह दृष्टान्त ठीक नहीं है।

उत्तर—बाह्य प्रकाश की सहायता से आँखें देखने में समर्थ होती हैं, किन्तु ज्ञान उन्हीं पदार्थों का होता है जिनका रूप उद्भूत है, अनुद्भूत का ज्ञान नहीं होता। बाह्य प्रकाश स्थूल पदार्थों को ही दिखला सकता है, सूक्ष्म को नहीं। किरणें सूक्ष्म हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। जो पदार्थ अभिव्यक्ति उद्भूत होते हैं, बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखते, उन्हीं का अभिभाव होता है। रात को घूमने वाले सिंह, मार्जार आदि जन्तु की आँखों में तेज की किरणें देखी जाती हैं; इससे सिद्ध होता है कि जिन जीवों की आखों में तीव्र प्रकाश है उन्हें देखा जा सकता है, लेकिन जिनके मन्द प्रकाश है उन्हें नहीं देखा जा सकता।

प्रश्न—इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग ही प्रत्यक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि काँच और मणि का व्यवधान होने पर भी आँख से रूप का ग्रहण होता है, अतएव वह अभौतिक है।

उत्तर काँच और स्फटिक आदि स्वच्छ होने के कारण आँखों की किरणों को रोक नहीं सकते। इसीलिए आवरण होने पर भी संयोग में रुकावट नहीं होती। जिस प्रकार बटलोई का पानी नीचे अग्नि जलाने से गर्म हो जाता है उसी प्रकार तेज की किरणें भी सूक्ष्म होने के कारण रुक नहीं सकतीं।

प्रश्न—इन्द्रिय एक है अथवा अनेक? त्वचा ऐसी इन्द्रिय है कि इसमें समस्त इन्द्रियाँ आ जाती हैं। कोई भी इन्द्रिय ऐसी नहीं है, जिसका सहारा त्वचा न हो।

उत्तर—यदि त्वचा को ही एकमात्र इन्द्रिय माना जाय तो उसी से समस्त विषयों का ज्ञान होना चाहिए। अन्धे को रूप का ज्ञान और बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता, इससे सिद्ध है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं, जिनके होने से उन विषयों का ज्ञान होता है। त्वचा से केवल स्पर्श की उपलब्धि होती है, गन्ध, रस, रूप और शब्द का ज्ञान उससे नहीं होता। यदि सर्वशरीर में व्यापक होने के कारण त्वचा ही एकमात्र इन्द्रिय मानी जाती तो एक साथ ही बहुत से विषयों का ज्ञान होता। तब तो अन्धा, बहरा कोई होता ही नहीं, सब काम त्वचा से चल ही जाता। आँख से दूर के विषय का ज्ञान होता है, कान से दूर के शब्द सुनते हैं किन्तु त्वचा से तो दूरस्थित पदार्थ का स्पर्श नहीं हो पाता। अतः सिद्ध है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन्द्रियों के अर्थ भी पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है, शब्द-रूप-रस आदि का नहीं। सभी प्रकार के प्रत्यक्ष इन्हीं पाँचों विषयों में आ जाते हैं। जिस प्रकार इन्द्रिय एक नहीं है, उसी प्रकार विषय भी एक नहीं हैं; इसीलिए उनके कारणभूत पृथिव्यादि भी एक नहीं हैं। पञ्चभूतों से गन्धादि विषय भिन्न-भिन्न रूप में पाँच प्रकार के हैं और पञ्चभूतों के नियत गुण पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं।

स्वाभाविक गुण गन्ध एवं रस, रूप, स्पर्श नैमित्तिक गुण पृथ्वी में पाये जाते हैं। जल का स्वाभाविक गुण रस है, रूप एवं स्पर्श नैमित्तिक गुण हैं। अग्नि का स्वाभाविक गुण रूप है, स्पर्श नैमित्तिक रूप में उसमें पाया जाता है। वायु में स्वाभाविक गुण स्पर्श पाया जाता है एवं आकाश में केवल शब्द पाया जाता है। कार्यरूप पञ्चभूतों में ही नैमित्तिक गुण पाए जाते हैं, लेकिन कारणरूप भूत में केवल स्वाभाविक गुण ही रहता है। आकाश परम सूक्ष्म है, अतः वह केवल शब्द गुण वाला है। वायु उससे स्थूल है, उसमें आकाश व्यापक है, अतएव वायु में उसके स्वाभाविक गुण स्पर्श के साथ ही शब्द भी नैमित्तिक रूप से व्यापक है। अग्नि वायु से स्थूल है, इसलिए उसके स्वाभाविक गुण रूप के साथ ही नैमित्तिक रूप से स्पर्श भीपाया जाता है। जल तेज से भी स्थूल है, तेज उसमें व्यापक है। जल का स्वाभाविक गुण रस है, उसके साथ ही अग्नि का गुण रूप एवं वायु का गुण स्पर्श भी नैमित्तिक रूप से व्यापक हैं। पृथ्वी सबसे स्थूल है, उसमें स्वाभाविक गुण गन्ध है। स्वाभाविक गुण के साथ ही स्पर्श, रूप, रसरूप नैमित्तिक गुण भी उसमें पाए जाते हैं। आकाश चारो भूतों में व्यापक है, अतः उसका स्वाभविक गुण शब्द संघात द्वारा सबमें व्यापक पाया जाता है। बाह्य पञ्चभूतों के गुण स्वनियत इन्द्रिय की तन्मात्रा से टकराते हैं, इन्द्रिय में [illegible]

में कराती हैं, मन और बुद्धि के द्वारा आत्मा उस विषय का अनुभव करता है। उसके संस्कार मस्तिष्क में सञ्चित हो जाते हैं, जिनके द्वारा समय-समय पर उस विषय का स्मरण होता रहता है। अब आगे बुद्धि व मन का विश्लेषण करेंगे ॥

बुद्धि और मन

बुद्धि पाँचवाँ प्रमेय है। "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थान्तरम्" उपलब्धि व ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। जिससे स्मृति व अनुभव हों वह बुद्धि है। सांख्यशास्त्र के अनुसार अध्यवसायो बुद्धिः अर्थात् अध्यवसाय—विचार व स्मृति को बुद्धि कहते हैं। प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ साधन हैं, इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग द्वारा मन के माध्यम से जो विषय का बोध होता है उसकी स्मृति संचित रहती है एवं उस पर अध्यवसाय अर्थात् विचार ऊहापोह होता है, उसे ही बुद्धि कहते हैं।

प्रत्यक्ष का संस्कार विचार-संचार का केन्द्र बुद्धि है। इन्द्रिय और मन द्वारा आत्मा से जो ज्ञान का संस्कार पड़ जाता है और उन्हीं संस्कारो व अनुभवों के आधार पर आत्मा के चिन्मय शक्ति से जो विचार का संचार है वह बुद्धि कहलाती है। उपलब्धि-ज्ञान बुद्धि का लक्षण किया गया है, संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है। इन्द्रिय और मन द्वारा विषयों का ज्ञान उपलब्ध है। उपलब्ध अनुभूतियों के आधार पर चैतन्यगुण का अध्यवसाय व संचार-विचार है। अलौकिक प्रत्यक्षसम्बन्धी ज्ञान भी बुद्धि का ही विषय है।

आत्मा चैतन्य गुण वाला है। जिस प्रकार तेज में उष्ण स्पर्श और जल में शीतत्व है उसी प्रकार आत्मा में चैतन्य स्वाभाविक गुण है। यह जड़प्रकृति शरीर व भौतिक साधनों से संयुक्त होकर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इन चार रूपों में विभक्त होता है। इसी को अन्तःकरणचतुष्टय कहते हैं। ज्ञान, अनुभव व प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं तथा मन बुद्धि, चित्त व अहंकार अन्तःकरण हैं। अन्तःकरण-चतुष्टय में बुद्धि का कार्य विचार, निर्णय व ज्ञान है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होकर मन के माध्यम से आत्मा को प्रतीत होता है। बुद्धि मन से परे है और बुद्धि से परे आत्मा है। कहा भी है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इन्द्रियों से सूक्ष्म रूप, रस, गन्धादि विषय हैं, विषयों से परे मन है। मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है, जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है वह आत्मा है। मन व इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा है। मन व इन्द्रियों के द्वारा आत्मा में जो ज्ञान, विचार, परामर्श, निश्चय आदि सञ्चार होता है वही बुद्धि है, जो कि मन से भी सूक्ष्म है।

प्रश्न—यह संशय होता है कि बुद्धि कर्म की तरह अनित्य है अथवा आकाश की भाँति नित्य। किसी देखी हुई वस्तु को देखकर जो स्मरण होता है कि यह वही वस्तु है, उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा से भी सिद्ध है कि बुद्धि नित्य है।

उत्तर—जिस प्रकार बुद्धि का नित्य होना साध्य है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का धर्म है—यह भी साध्य है। अतः उपरोक्त जो हेतु दिया गया है वह साध्यमान होने के कारण हेतु नहीं हो सकता। बुद्धि और ज्ञान दोनों पर्य्यायवाचक शब्द हैं। ये गुण हैं, न कि द्रव्य। गुण सदा द्रव्य मे रहता है, न कि गुण में। इसमें द्रव्य केवल जीवात्मा है और सब उसी के गुण हैं; अतः प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का गुण है—यह असिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य ? यदि बुद्धि को नित्य माना जाय तो उसकी वृत्तियों को भी नित्य मानना पड़ेगा। वृत्तियों के स्थिर होने पर एक समय में ही अनेक विषयों का ज्ञान होना चाहिए। यदि बुद्धि और उसकी वृत्तियों को एक माना जाय तो वृत्ति के निवृत्त होने पर बुद्धि का भी नाश मानना पड़ेगा। जिस इन्द्रिय के साथ मन का लगाव होता है उसी का ज्ञान होता है; इससे भी वृत्तियाँ और बुद्धि एक नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार स्फटिक स्वतः सफेद होता है, लेकिन विभिन्न रंगों के मेल से रंगीन मालूम पड़ता है उसी प्रकार वृत्ति भी स्वयं में एक होते हुए भी विभिन्न विषयों के संसर्ग से अनेक प्रकार की मालूम पड़ती है, किन्तु यह ठीक नहीं है। स्फटिक में रंग की भ्रान्ति होती है, न कि ज्ञान। इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान निश्चित होता है।

बुद्धि (ज्ञान) न तो इन्द्रिय का गुण है, न ही अर्थ का; क्योंकि इनके नाश होने पर भी ज्ञान बना रहता है। एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इसलिए यह मन का भी गुण नहीं है। बुद्धि मन के अधिष्ठाता आत्मा का गुण है। यदि बुद्धि को मन का गुण मान लिया जाय तो वह अन्तःकरण न रह करके ज्ञाता हो जायगा। बुद्धि अनित्य है, क्योंकि इसके उत्पत्ति व विनाश के कारण देखे जाते हैं। यदि बुद्धि नित्य होती तो कोई भी ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं होता। सभी ज्ञान सभी काल में एक-से बने रहते। ऐसा होने पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा सबका लोप हो जाता; अतः बुद्धि अनित्य है। स्मृति भी एक ज्ञान है, जो कि निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होती है—

१. प्रणिधान—स्मरण की इच्छा से मन को किसी विषय में लगाना।
२. निबन्ध—ग्रन्थ में अनेक अर्थों का परस्पर सम्बन्ध।

३. अभ्यास—किसी कार्य को निरन्तर करने से जो दृढ़ता के संस्कार उत्पन्न होते हैं।
४. लिङ्ग—धुआँ को देखकर अग्नि का स्मरण होना लिङ्ग कहलाता है।
५ लक्षण—जो धर्म किसी पदार्थ को दूसरे से पृथक् करे या जिससे कोई पदार्थ जाना जाय।
६ सादृश्य—चित्र को देख करके उस व्यक्ति का स्मरण हो जाना।
७. परिग्रह—पुत्र को देखने से पिता का स्मरण हो जाना।
८–९. आश्रय और आश्रित के सम्बन्धों से उनका स्मरण हो जाना।
१०. सम्बन्ध—सम्बन्ध के द्वारा स्मृति होना।
११. आनन्तर्य—एक कार्य के बाद दूसरे कार्य का स्मरण हो जाना।
१२. वियोग के द्वारा स्मरण करना।
१३. यदि बहुत से मनुष्य एक कार्य के करने वाले होते हैं तो उसका स्मरण होता है।
१४. विरोध—परस्पर विरोध से भी स्मृति होती है।
१५ अतिशय प्रसिद्धि से स्मरण होता है।
१६. प्राप्ति—जिससे जिसको जिस वस्तु की प्राप्ति होती है वह वस्तु उसको याद दिलाती है।
१७. व्यवधान—आवरण को देखकर स्मृति, जैसे भित्ति को देखकर गृह का स्मरण।
१८–१९. सुख-दुःख द्वारा स्मरण।
२०–२१ इच्छा-द्वेष द्वारा स्मरण।
२२. भव्य से उसके हेतु का स्मरण।
२३. अर्थित्व=मांगने से दाता का स्मरण।
२४. क्रिया से कर्ता का स्मरण।
२५. राग से इच्छित विषय का स्मरण।
२६. धर्म से सुख की स्मृति।
२७. अधर्म से दुःख की स्मृति।

प्रत्यक अर्थ के लिए बुद्धि नियत है। जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है तब तक ही उसकी स्मृति रहती है। अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर विनाश हो जाता है। अतः बुद्धि अनित्य है। यदि बुद्धि को नित्य माना जाय तो जो पदार्थ देखे गए हैं उनका प्रत्यक्ष रहना चाहिए। ऐसा होने पर स्मृति का अभाव रहना चाहिए। इससे सिद्ध है कि बुद्धि अनित्य है।

प्रश्न—चेतनता शरीर का धर्म है या किसी अन्य का ?

उत्तर—शरीर रूपादि गुणों से रहित नहीं होता, किन्तु चेतनारहित देखा जाता है; इससे सिद्ध होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है।

प्रश्न—जैसे किसी चीज को पका देने पर उसमें गुणान्तर की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार शरीर में भी चेतना उत्पन्न हो जाती है।

उत्तर—पाक से जो गुण उत्पन्न होते हैं वे पूर्व गुणों के विरोधी होते हैं, परन्तु शरीर में चेतना के विरुद्ध कोई गुण नहीं देखे जाते। यदि चेतना शरीर का धर्म होता तो जब तक वह रहता तब तक देखा जाता, किन्तु विना चेतना के भी मृतक शरीर देखा जाता है, अतः चेतना शरीर का धर्म नहीं है। समस्त शरीर में चेतना व्यापक है। यदि चेतना को शरीर का धर्म माना जायगा तो प्रत्येक अवयव में चेतना उपलब्ध होने से अनेक चेतन हो जाएँगे। अतः चेतना शरीर का धर्म नहीं है, अपितु अतीन्द्रिय आत्मा का गुण है।

मन—"युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान का उत्पन्न न होना मन का लक्षण है। मन ग्यारहवाँ इन्द्रिय है, अन्तःकरण-चतुष्टय का महत्त्वपूर्ण अंग है, दशों इन्द्रियों का प्रेरक व सञ्चालक है। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष मन के माध्यम से आत्मा को अनुभव होता है। मन का लगाव जिस इन्द्रिय से होता है उसी के विषय का प्रत्यक्ष होता है। जिस इन्द्रिय से लगाव नहीं होता, विषयसंघात होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। कार्य-कारणभेद से मन भी दो प्रकार का है। सब प्राणियों में व्यापक विश्वमन कारण-रूप है, यह चेतना के संचार का आधार है। प्रकृति का परम कारण तत्त्व महत्तत्त्व एवं आत्मा के चैतन्य गुण के योग से विश्वमन का उदय होता है, यह कार्य मन का प्रेरक व आधार है। कार्यमन प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न है। यह इन्द्रियों से संयुक्त होकर उनके विषयों का प्रत्यक्ष कराता है। विश्व के रचना के प्रारंभ में अन्तःकरण-चतुष्टय के कारणस्वरूप की रचना होती है। प्रकृति का सर्वप्रथम आदि कारणतत्त्व महत्तत्त्व का उदय होता है, जो कि जड़ व प्रकाशमान है। उससे आत्मा का चैतन्य गुण संयुक्त होता है, जिससे कारणमन की रचना होती है। आत्मा का स्वरूप जो महत्तत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। उससे संपृक्त चिन्मय अवस्था चित्त का रूप धारण करती है। चैतन्य में जो ज्ञान आभासित होता है, उससे बुद्धि की रचना होती है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीर व इन्द्रियों में सम्बद्ध होकर कार्यरूप में अन्तःकरण-चतुष्टय का रूप धारण करते हैं। कार्यमन प्रकृति के आदितत्त्व महत्तत्त्व से संपृक्त चैतन्य गुण है, जो कि विश्वमन पर आधारित

गया है। लोकायतमत में चार्वाक के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक भी हुए हैं, जिनका उल्लेख बौद्धग्रन्थों में प्राप्त होता है; जैसे अजित केश, कम्बल, पूर्णकाश्यप, मक्खलि-गोशाल प्रकृद्ध कात्यायन आदि। इनके सिद्धान्तों का वर्णन आगे किया जायगा।

लोकायतमत पूर्णतया भौतिकवादी है। आध्यात्मिक व धार्मिक मान्यताओं का यह खण्डन करता है तथा सांसारिक सुख व भोगों में प्रवृत्त करता है। किसी भी देश में इस मत की प्रबलता तभी होती है जबकि लोग आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान से शून्य हों अथवा आध्यात्मिक दम्भ व धर्माडम्बर के प्रभाव में आकर लोग आलसी, अकर्मठ, उदासीन व दरिद्र बन गए हों। जब समाज में अध्यात्म व धर्म पर श्रद्धा अधिक हो जाती है तब धूर्त एवं दुष्ट प्रकृति के लोग धर्म के नाम पर सामाजिक श्रद्धा व आस्था का दुरुपयोग करते हुए धार्मिक ढोंग व अन्धविश्वास से अपना आर्थिक लाभ करके आलसी, अकर्मठ व दरिद्र बन जाते हैं तथा अध्यात्म व धर्म को कलंकित करते हैं। मनमानी कपोलकल्पित ग्रन्थों व सम्प्रदायों की रचना करके समाज को अज्ञान, अन्धविश्वास, दम्भ व पाखण्ड के गर्त में गिरा देते हैं।

भारतवर्ष अध्यात्मप्रधान देश है। यहाँ अतीत में कभी अध्यात्मवाद व धर्म का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि दुष्ट, दम्भी व पाखण्डी तथा लोभी प्रकृति के लोगों ने अध्यात्म व धर्म के स्वरूप को विकृत करके धर्माडम्बर व दिखावटी वैराग्य द्वारा राष्ट्र को आलसी व अकर्मठ बना दिया। लोग वैराग्य का ढोंग रच करके कर्तव्य कर्मों का परित्याग करने लगे, धर्म का ढोंग-धतूरा रच करके उसके नाम पर आजीविका चलाने लगे। धर्म की आड़ में भोगवाद चल पड़ा। श्रम करके नहीं, अपितु धर्म के नाम पर धोखा देकर आजीविका व भोगवाद चल पड़ा, वह फलने-फूलने लगा, देश का आर्थिक पतन होने लगा और दरिद्रता एवं अकर्मठता ने अड्डा बना लिया। ऐसी परिस्थिति में लोकायतमत के पैर जमने लगे। लोकायत-मत ने बजाय इसके कि अध्यात्म व धर्म के नाम पर आई बुराइयों— दम्भ, पाखण्ड व अन्धविश्वास का खण्डन करके समाज को सच्चे अध्यात्म व धर्म का मार्ग दिखलाते, अपनी बौद्धिक अशक्तता व दिवालिएपन से अध्यात्म व धर्म का खण्डन कर डाला, भौतिकवाद व भोगवाद की स्थापना व प्रचार किया। संसार से उदासीन होकर वैराग्य वृत्ति में अपने कर्तव्य कर्मों का परित्याग करनेवाले तथा धर्म के नाम पर बिना श्रम के कमाने-खाने वालों की कड़ी आलोचना लोकायतमत वालों ने किया और देश की प्रवृत्ति को भौतिकवाद की ओर मोड़ दिया।

लोकायत मत में जहाँ भौतिकवादी प्रवृत्ति को प्रेरित करके उदासीनता, वैराग्य, अकर्मठता, आलस्य व धार्मिक ढोंग को समाप्त करने की क्षमता है, वहीं चारित्रिक व नैतिक पतन लाने की क्षमता भी है। अध्यात्म विज्ञान व धर्म में जो

विकृतियाँ आती हैं उनका कारण धर्म की आड़ में भौतिकवाद व भोगवाद ही है। ~~उसी का विकसित रूप है— लोकायत दर्शन;~~ जो मनुष्य के आध्यात्मिक व धार्मिक ज्ञान-विज्ञान व प्रवृत्तियों को कुण्ठित करके उन्हें भौतिकवाद व भोगवाद के गर्त में गिरा देता है। लोकायतमत तामसी विचारों व मनोवृत्तियों की देन है, जहाँ कुण्ठित दार्शनिक बुद्धि एवं सांसारिक वैभव व भोगों की लोलुपता मनुष्य व समाज का नैतिक व चारित्रिक पतन करते हुए मानव-जीवन में पशुता, अज्ञान, स्वार्थ, संघर्ष, भोग व विनाश का उपहार प्रदान करता है ॥७९॥

[चार्वाकमतम्]

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥८०॥

तदेवाह—लोकायता इत्यादिना।

लोकायता नास्तिकाः, एवममुना प्रकारेण वदन्ति। कथमित्याह—सर्वज्ञादिर्नास्ति, निर्वृतिर्मोक्षो नास्ति, अन्यच्च न विद्येते, कौ? धर्माधर्मौ, धर्मश्चाधर्मश्चेति द्वन्द्वः, पुण्यपापे न स्त इत्यर्थः। पुण्यपापयोर्धर्माधर्मयोः फलं स्वर्गनरकादिरूपं नेति नास्ति, तदपि पुण्यपापयोरभावे कौतस्त्यं तत्फलमित्यादि।

तच्छास्त्रोक्तमेव सोल्लुण्ठं दर्शयन्नाह—तथा च तन्मतं—तथा चेत्युपदर्शने, तन्मतं प्रस्तावान्नास्तिकमतम् ॥८०॥

अन्वयः— लोकायता एवं वदन्ति देवः नास्ति निवृत्तिः न। धर्माधर्मौ न विद्येते पुण्यपापयोः फलं न ॥८०॥

सुधा—लोकायता—लोकमेव ज्ञानायतनं येषां ते चार्वाकादयः। एवम्=इत्थं, वदन्ति=कथयन्ति। देवः=ईश्वरः, नास्ति=न विद्यते। निवृत्तिः=मोक्षः, निःशेषम्, न=नास्ति। धर्माधर्मौ=धर्मश्च अधर्मश्च, न=नैव, विद्येते=स्तः, पुण्य-पापयोः=सत्कर्मदुष्कर्मयोः, फलम्=विपाकः, न=नैव भवतीति ॥८०॥

पदार्थ— लोकायता=लोकायतमत वाले चार्वाकादि। एवम्=इस प्रकार। वदन्ति=कहते हैं कि। देवः=ईश्वर अथवा परमात्मा। नास्ति=नहीं है। निवृत्तिः=मोक्ष। न=नहीं होता। धर्माधर्मौ=धर्म और अधर्म। न विद्येते=नहीं होते। पुण्य-पापयोः=पुण्य और पाप का। फलम् न=फल भी नहीं होता। संसार का रचयिता, पालक व नाशक कोई ईश्वर नहीं है। मोक्ष, निवृत्ति, निर्वाण झूठा है। धर्म-अधर्म नहीं है। पाप और पुण्य का कोई फल नहीं होता ॥८०॥

है; कार्यतन्तुओं, ज्ञानतन्तुओं व इन्द्रियों का प्रेरक है; स्थूल, पाञ्चभौतिक विषयों से लेकर सूक्ष्म महत्तत्त्व तक का अनुभव कराता है।

प्रश्न—मन प्रत्येक शरीर में एक है अथवा अनेक ?

उत्तर—मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान ही मन के होने में प्रमाण है; इसलिए मन एक है। एक साथ ही जो बहुत-से ज्ञान व क्रियाएँ देखी जाती हैं उनका कारण है—मन का शीघ्रगामी कार्यक्रम। जैसे शीघ्रगामी आतिशबाजी की चर्खी यद्यपि क्रम-पूर्वक चलती है तथापि शीघ्रगति होने के कारण उसका क्रम मालूम नहीं पड़ता; बल्कि वह एक साथ ही चलता हुआ मालूम पड़ता है।

प्रश्न—मन विभु है अथवा अणु ?

उत्तर—यदि मन विभु होता तो एक काल में ही उसका सम्बन्ध सब इन्द्रियों से होता, जिससे समस्त विषयों का ज्ञान भी एक ही साथ होता। ऐसा न होने से यह सिद्ध होता है कि मन अणु है।

प्रश्न—मन व शरीर जीवों के पूर्वकृत कर्माधीन उत्पन्न होते हैं अथवा स्वतः ही पञ्चभूतों से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—पूर्वजन्म में मन, वाणी व शरीर द्वारा जो कर्म किए गए हैं उससे जो अधर्म सुख-दुःख भोग उत्पन्न हुआ वही इस जन्म के होने में निमित्त कारण है। शरीर के उत्पन्न होते ही भोग का आरम्भ हो जाता है, जो कि बिना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। इसलिए कार्यरूप शरीर और उसके भोग से पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है, क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता; अतः शरीर का उपादान कारण पञ्चभूत है, जो कि निमित्त कारण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि बिना कर्म और फलभोग के भूतों से मिट्टी, धातु पत्थर आदिक मूर्तियाँ जैसे बनती हैं वैसे ही मान लिया जाय कि पञ्चभूतों के परमाणु उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं तो ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे शरीर की उत्पत्ति साध्य है वैसे ही मिट्टी-पत्थर-धातु की उत्पत्ति भी साध्य है; अतः यह हेतु साध्यसम हेत्वाभास है।

प्रश्न—माता-पिता के रज—वीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है, अतः प्रारब्ध को भी निमित्त कारण मानना ठीक नहीं ? माता-पिता का आहार भी निमित्त कारण है।

उत्तर स्त्री-पुरुष संयोग होने पर भी यह देखा जाता है कि सन्तानोत्पत्ति नहीं होती, अतः रजवीर्य का संयोग निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। अदृष्ट ही निमित्त कारण है। कर्म के नाश होने पर शरीर से आत्मा अलग हो जाता है। यदि शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त नहीं माने जायेंगे तो पञ्चभूतों के

नाश से शरीर व आत्मा का वियोग न हो सकेगा। यदि अदृष्ट को मन का गुण मान लिया जाय तो शरीर से मन का वियोग कभी नहीं होना चाहिए। जिन कर्मों को भोगने के लिए आत्मा शरीर में आया उसके भोगने के बाद मृत्यु हो जाती है और दूसरे कर्मों का फल भोगने के लिए दूसरा जन्म होता है। यदि भूतों से ही शरीर की उत्पत्ति मानी जाय तो मृत्यु नहीं होनी चाहिए; अतः अदृष्ट ही शरीर की उत्पत्ति में निमित्त कारण है।

वेद में कार्य की दृष्टि से मन के निम्न भेद किए गए हैं :—

१. जाग्रत, २. यक्ष, ३. प्रज्ञान, ४. धृति, ५ अन्तर और ६. सारथि। जाग्रत मन वह होता है जो जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत का अनुभव कराता है। सुषुप्ति अवस्था में भी यही मन इन्द्रियों से विलग होकर स्वप्न आदि का अनुभव कराता है। जिसकी प्रेरणा से मनुष्य संसार में बड़े से बड़े शुभ कार्य को करता है वह यक्षमन होता है। जो पदार्थों का सूक्ष्म व यथार्थ ज्ञान कराता है वह प्रज्ञानमन होता है। विज्ञान दर्शन आदि का बोध इसी के द्वारा होता है। जिसके द्वारा शरीर के आन्तरिक स्नायुमण्डल का संचालन व जीवन-धारण होता है वह धृतिमन कहलाता है। भूत भविष्य-वर्तमान का ज्ञान कराने वाला अन्तरमन होता है और विश्व का नेतृत्व करने वाला मन सारथिमन कहलाता है।

प्रवृत्ति और दोष

बुद्धि, मन, वाणी और शरीर से किसी काम का आरम्भ करना प्रवृत्ति कहलाती है। प्रवृत्ति के बिना कोई कार्य संभव नहीं होता, सब प्राणी प्रवृत्ति के आधार पर ही विभिन्न कार्यों में संलग्न देखे जाते हैं। प्रवृत्ति के आधार दोष होते हैं। दोष के कारण ही प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। राग, द्वेष एवं मोह—यह तीन दोष हैं। यह तीनों दोषों के समूह हैं। इनमें से एक-एक के अन्तर्गत बहुत से दोष आ जाते हैं। राग के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, माया, दम्भ, लोभ, इत्यादि आते हैं। द्वेष के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान इत्यादि आते हैं। मोह के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय, शोक इत्यादि आते हैं। राग से प्रवृत्ति होती है, द्वेष से क्रोध होता है और मोह मिथ्या-ज्ञान का कारण है।

प्रश्न—रागादि दोषों का तीन भेद मानना ठीक नहीं है, क्योंकि तीनों प्रकार के दोष एक ही तत्त्वज्ञान के विरोधी हैं। यदि इनके तीन भेद माने जायँ तो फिर इनके प्रतिद्वन्दी तत्त्वज्ञान को भी तीन होना चाहिए, जबकि वह एक ही है। इसलिए इनमें भेद नहीं होना चाहिए।

उत्तर—दोषों का तीन भेद मानना ठीक है, क्योंकि तत्त्वज्ञान तीनों का विरोधी है। जिस प्रकार अकेला अग्नि रक्त-हरित-पीतादि अनेक वर्णों को भस्म कर डालता है वैसे ही तत्त्वज्ञान तमाम दोषों को नष्ट कर देता है।

मोह सभी दोषों का मूल है। मोह नहीं होगा तो राग-द्वेष भी नहीं होंगे। तत्त्वज्ञान से मोह का नाश होता है, अतः मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु मोह है।

प्रश्न—मोह को जब समस्त दोषों का मूल माना गया है तो यह दोषों का कारण है, फिर रागद्वेष कार्यरूप दोष में इसकी गणना क्यों की गई है।

उत्तर—मोह में दोष के लक्षण पाए जाते हैं। मोह दोषों से भिन्न नहीं है। जिससे किसी कार्य को करने में प्रवृत्ति हो वह दोष है। दोष प्रवृत्ति का कारण है। मोह से भी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है; अतः दोष-त्रैराश्य में मोह की गणना की गई है। प्राणिमात्र इन्हीं तीनों दोषों से सदा सन्तप्त रहता है, तत्त्वज्ञान से दोषों का नाश होता है और मिथ्या ज्ञान से दोष का उदय होता है।

प्रेत्यभाव और फल

"पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः" अर्थात् बार-बार जन्म लेना और मरना प्रेत्यभाव कहलाता है। आत्मा नित्य है, इसीलिए प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है। यदि आत्मा नित्य न होता तो पूर्वजन्म की सिद्धि भी न होती। प्रेत्यभाव का अर्थ ही है—एक शरीर छोड़कर को दूसरे में जाना। पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर ही अगले शरीर का निर्माण होता है। "मति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर दूसरे जन्म के जाति (मनुष्य-पशु-पक्षी आदि) आयु एवं भोग (भौतिक इन्द्रियजन्य सुख) निश्चित होते हैं। प्रेत्यभाव के सम्बन्ध में उपनिषद में कहा भी गया है :—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥

पूर्व और परस्थिति को देखते हुए यही निश्चय होता है कि प्राणी उसी प्रकार मरता है और पुनः जन्म लेता है जैसे खेत में फसल पक जाने पर काटी जाती है और पुनः बोने पर फसल तैयार की जाती है। गीता में भी कहा गया है :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार वस्त्र जब पुराना हो जाता है तो मनुष्य उसे उतार करके नवीन वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार शरीर जब जीर्ण हो जाता है तो आत्मा भी उसे छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है।

"प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्" अर्थात् प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न विषय व भोग फल कहलाता है। दोषों के आधार पर शरीर व इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं एवं कर्म से ही विषयोपलब्धि व फल की प्राप्ति होती है। मनुष्य जिस प्रयोजन से कर्म करता है, प्रायः देखा जाता है कि कर्म कभी निष्फल भी जाता है, मनुष्य की इच्छा व कर्म के अनुसार फल होता हुआ न देखकर अनुमान होता है कि कर्मों का फल देने वाला ईश्वर है। कर्म जड़ होने के कारण स्वयं फल नहीं दे सकता; अतः फल की प्राप्ति ईश्वर द्वारा होती है। कर्मों का फल प्राप्त कराने वाला जीव है, यदि यह माना जाय तो ठीक नहीं है; क्योंकि जीव स्वयं अपनी इच्छानुसार कर्मफल की प्राप्ति नहीं करता। प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता, अपितु बहुत से कर्म ऐसे हैं जिनका फल कालान्तर व जन्मान्तर में प्राप्त होता है। भोग एवं संस्काररूप कर्म के दो स्वरूप हैं। शरीर इन्द्रिय द्वारा सम्पन्न कर्म का फल तत्काल मिलता है जो कि भोगरूप में होता है, लेकिन उसका संस्कार अन्तःकरण में बीजरूप से सुरक्षित रहता है, जो कि जन्मान्तर में फलित होता है। कर्म एवं उनके फल आत्मा से सम्बन्धित होते हैं। कर्मसंस्कार वृक्ष के बीज की भाँति जन्मान्तर में परिस्थिति पाकर उत्पन्न होते हैं।

दुःख-अपवर्ग

"बाधनालक्षणं दुःखम्" अर्थात् सुख में बाधास्वरूप फल से जो उत्पन्न होता है उसे दुःख कहते हैं। समस्त प्राणिमात्र सुख की अभिलाषा में प्रयत्नशील देखा जाता है। शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ रहें, अन्तःकरण प्रसन्न रहे, आत्मा जो भी इच्छा करे उसकी पूर्ति होती जाय—यही सुख कहलाता है। सभी प्राणी इसी सुख की साधना में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। इच्छा की पूर्ति न होने पर शरीरेन्द्रियादि साधनों एवं असमर्थता, अयोग्यता के कारण दुःख का अनुभव होता है। "प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्" अर्थात् सुख की प्रतिकूल वेदना ही दुःख कहलाता है। जीवन सुख एवं दुःख का संघर्ष है। शरीर अस्वस्थ हुआ, इन्द्रियाँ विकल हुईं तो दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। इच्छाएँ अनन्त हैं, किसी इच्छा की पूर्ति हुई तो वहाँ सुख हुआ और किसी की पूर्ति नहीं हुई तो महादुःख हुआ; इस तरह सुख व दुःख का चक्र प्रत्येक जीवन में चला करता है।

महर्षि गोतम के मत में जन्म एवं सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय है। "विविध-बाधनायोगाद्दुखमेव जन्मोत्पत्तिः" अर्थात् सुख में विविध प्रकार की बाधा होने के कारण जन्म लेना ही दुःख है।

जीवन दुःखमय है। यह बात अवश्य है कि जीवन में केवल दुःख ही नहीं है, अपितु बीच-बीच में सुख भी है। दुःख के बाद सुख अवश्य होता है। यदि दुःख न

हो तो सुख का अनुभव ही न हो, किन्तु इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक सांसारिक सुख का परिणाम दुःख ही है। दुःख का नाश आनन्द द्वारा होता है। प्रत्येक प्राणी आनन्द का इच्छुक है। सांसारिक पदार्थों मे आनन्द की छायामात्र ही सुख है, जो कि आन्तरिक न होने के कारण चलायमान, अस्थायी एवं भ्रमपूर्ण है। अलौकिक आनन्द की छाया ही भौतिक सुख कहलाता है, जो कि पर्येषण दोषपूर्ण है। विषयो में अत्यन्त लिप्सा को पर्येषण दोष कहते हैं। जिस वस्तु के प्राप्ति की इच्छा की जाती है और जिसके लिए यत्न किया जाता है, प्रथम तो वह प्राप्त होता नही या प्राप्त होकर भी उसका नाश हो जाता है, उसकी आशा में कष्ट उठाना पड़ता है और आशा पूरी होने पर भी उससे तृप्ति व शान्ति नहीं होती, बल्कि दूसरी इच्छा पुनः उत्पन्न हो जाती है। अतः भौतिक साधनों द्वारा आनन्द की क्षणिक छायामात्र प्राप्ति होती है, जिसे कि हम सुख कहते हैं। वास्तविक आनन्द तो वह है जिससे दुःख सदा के लिए दूर हो जाता है और वह मोक्ष अथवा अपवर्ग में ही है।

सुख के साधन शरीर व इन्द्रियाँ परिणामशील, परिवर्तनशील व क्षणिक हैं। इच्छाएं अनन्त हैं, परिवर्तनशील हैं; अतः इनसे प्राप्त होने वाला सुख भी परिवर्तनशील व अस्थायी है। जीवन में जब इच्छाओं की पूर्ति ही सुख का कारण है तो जीवन की समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो पाना अत्यन्त ही कठिन है। इसके अतिरिक्त आनन्द की खोज में जहाँ वास्तविक आनन्द नहीं है वहाँ केवल आनन्द के आभासमात्र सुख से दुःख की निवृत्ति नहीं होगी। यही कारण है कि सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख का चक्र जीवन भर चला करता है। हम भौतिक उपायों द्वारा सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीकर पाते। सच्चा आनन्द वही है जहाँ इच्छाओं की अविरल धारा समाप्त हो जाय, जिसे प्राप्त करके परम शान्ति मिल जाय, पुनः इच्छाओं की सन्तति न पैदा हो। जिस आनन्द की खोज में इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होना ही चेष्टा व कर्म करती है, विषय की प्राप्ति करके भी इच्छाएँ शान्त नहीं होती; वहीं जब वास्तविक आनन्द मिलता है तो सब प्रकार की इच्छाएँ स्वतः शान्त हो जाती हैं, शरीर व इन्द्रियों की आवश्यकतायें समाप्त हो जाती हैं और यही स्थिति अपवर्ग अथवा मोक्ष की है।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः अर्थात् उस दुःख से सदा के लिए छुटकारा मिल जाना ही अपवर्ग कहलाता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने विषयों की दौड़ में शान्त हो जायें, मन-बुद्धि-चित्त महाविज्ञान सागर में विलीन होकर शान्त हो जायें, अहंकार आनन्दसागर में डूब कर समाप्त हो जाय, आत्मा दिव्य अलौकिक आनन्द का नित्य अनुभव करे, प्रकृति के सत्त्व-रज-तम आदि गुण आत्मा के अर्थ में शून्य होकर अपने-

अपने कारण में विलीन हो जायँ, दुःख का सदा के लिए अन्त हो जाय तो उसी स्थिति को अपवर्ग अथवा मोक्ष अथवा कैवल्य कहते हैं। दुःख से छुटकारा दो प्रकार से होता है—१. ऐकान्तिक निवृत्ति २. आत्यन्तिक निवृत्ति। कुछ समय के लिए दुःख दूर हो जाय और उसके बाद पुनः वही दुःख आ जाय तो वह ऐकान्तिक निवृत्ति है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भौतिक साधनों से दुःख की ऐकान्तिक निवृत्ति ही होती है।

सदा के लिए दुःख से छुटकारा पा जाना ही आत्यन्तिक निवृत्ति है। अपवर्ग केद्वारा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। आत्यन्तिक निवृत्ति में दुःख का सदा के लिए नाश व नित्य परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के इन्द्रिय और मन का विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता उसी प्रकार केवल आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो जाने एवं दोषानुबन्ध टूट जाने से दुःख का सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न—राग-द्वेष प्रयत्नानिक्लेशसन्तति जीवात्मा के स्वाभाविक गुण है, अतएव उनका नाश कथमपि नहीं हो सकता; इस प्रकार अपवर्ग में भी दुःख का सर्वथा नाश असम्भव है।

उत्तर—रागादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं है। इनकी उत्पत्ति का कारण संकल्प है। तत्त्वज्ञान द्वारा जब सभी संकल्प व विकल्प समाप्त हो जाते हैं तब कारण के अभाव में रागादि कार्य भी नहीं उत्पन्न हो सकते; अतः अपवर्ग में दुःखादि की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। रागादि प्रवाह से अनादि अवश्य है, किन्तु स्वरूप से वे अनादि नहीं हैं। अपवर्ग मे प्रवृत्ति-राग-द्वेषादि क्लेशों का अभाव हो जाता है और दुःख के कारणों का अभाव हो जाने पर, दुःखनिवृत्ति होने पर परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

रूप-रस-गन्ध स्पर्श व शब्द—यह पाँचों विषयदोष के कारण हैं। इनके तत्त्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति हो जाती है। यह रूपादि विषय संकल्प से उत्पन्न होते हैं। संकल्पशुद्धि से ग्राह्य विषयों से उपराग होता है। रागादि दोषों के साधारण कारण रूपादि विषय हैं और उनका विशेष कारण अवयवी आत्मा का अभिमान है। अभिमान से ही संकल्प उत्पन्न होते हैं। यह देह मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह पुत्र, मेरा है इत्यादि भौतिक पदार्थों में ममत्व बुद्धि का होना ही अवयवी आत्मा का अभिमान है। जिस प्रकार जाग्रदवस्था में स्वप्न का अभिमान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान भी नष्ट हो जाता है। जो पदार्थ जैसा हो उसको उसी प्रकार से जानना तत्त्वज्ञान कहलाता है। जो जैसा हो उसका उस रूप

में ज्ञान न होना मिथ्याज्ञान कहलाता है। जिस प्रकार प्रकाश के आने पर अन्धकार का अभाव हो जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाता है। मिथ्याज्ञान के दो अंग हैं—१. तत्त्व और २. प्रधान। रस्सी में सर्प का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, इसमें रस्सी तत्त्व है और सर्प, जिसका भ्रम रस्सी में हुआ है, वह प्रधान है। समाधि के विशेष अभ्यास से तत्त्वज्ञान होता है और इन्द्रियों के अर्थों से मन को रोक करके परमात्मा में लगाना ही समाधि है।

समाधि के अभ्यास से तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान के होने में मन की चंचलता सबसे बड़ी बाधक है। जब तक मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है तब तक वह स्थिर नहीं होता। जब समाधि के अभ्यास से मन को विषयों से रोक दिया जाता है तब तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी-बीमारी आदि मनुष्य को स्थिर-चित्त नहीं होने देते, किन्तु यदि बार-बार मनुष्य समाधि के लिए यत्न करे तो पूर्वजन्मकृत कर्मों की सहायता से समाधि सिद्ध हो सकती है। अभ्यास में बहुत बड़ी शक्ति है। वन, गुफा, नदीतट आदि पर एकान्त में बैठकर योगाभ्यास करने का विधान है। अपवर्ग-प्राप्त मनुष्य को सांसारिक राग-द्वेषादि आकर्षित नहीं कर सकते, क्योंकि मुक्तावस्था में स्थूल शरीर नहीं होता। मोक्ष में धर्माधर्म के संस्कार न रहने से शरीरोत्पत्ति नहीं होती। समाधिसिद्धि, तत्त्वज्ञान व मोक्ष के लिए योगशास्त्र के अनुसार यम-नियमादि आठ अंगों के द्वारा आत्मसंस्कार करना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान व समाधि योग के अङ्ग हैं। अहिंसा, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य—वीर्य, रक्षा—अपरिग्रह, धन-संग्रह-त्याग—यह पाँच यम हैं। पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं सभी कर्मों को ईश्वर-अर्पण करना—ये पाँच नियम हैं। शरीर, अंगों व इन्द्रियों को एक जगह बैठ कर स्थिर करना ही आसन है और श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को समेट कर एक जगह कर लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से खींच करके मन में स्थिर करना ही प्रत्याहार कहलाता है; प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। यम-नियम के अभ्यास से चित्त की शुद्धि व योगसाधन की योग्यता आती है। आसन से स्थिरता एवं प्राणायाम व प्रत्याहार से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त की शुद्धि होने से मन एकाग्र हो जाता है। एकाग्र मन को किसी एक विषय व स्थान में बाँधना ही धारणा है। धारणा की सिद्धि हो जाने पर जिस वस्तु का साक्षात्कार करने लगता है, उसे ही ध्यान कहते हैं। चित्त के सभी व्यापार अब एकाग्र व लीन हो जाते हैं एवं अहंकार का लोप होकर केवल परमात्मा

का ही जब साक्षात्कार होता है तो उसे समाधि कहते हैं। इस प्रकार उपरोक्त आठों अंगों का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है।

योगसाधन के अतिरिक्त श्रवण-मनन द्वारा तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। तत्त्वज्ञानी पुरुषों के साथ संवाद व सत्संग करना चाहिए। तत्त्वज्ञानी गुरु के पास जाकर विद्यार्थी के रूप में जिज्ञासा की दृष्टि से संवाद करना चाहिए। यह संवाद शास्त्रार्थ की रीति पर जय-पराजय के विचार से नहीं करना चाहिए। गीता में कहा भी है कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" अर्थात् प्रणिपात – विनय-पूर्वक प्रणाम-अभिवादनादि, परिप्रश्न—गुरु से विविध शास्त्रों व विषयोंपर प्रश्न एवं गुरु की सेवा करने से ज्ञानार्जन होता है। यदि पूर्ण तत्त्वज्ञानी गुरु न मिले तो दूसरे विचारशील पुरुषों से भी प्रतिपक्षहीन होकर संवाद करना चाहिए। जिज्ञासु को आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुराग्रही मनुष्य सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार बीज बोने वाले का प्रयोजन तो केवल अन्न से होता है, किन्तु उसकी रक्षा के लिए चारो तरफ काँटों की बाढ़ लगानी पड़ती है, जिससे दुष्ट जन्तु उसे नष्ट न कर दें इसी प्रकार संवाद का तात्पर्य भी केवल तत्त्वज्ञान से है, लेकिन नास्तिक लोग अपने कुतर्कों के द्वारा विषय को अत्यन्त संशयास्पद व जटिल बना देते हैं; अतः उनसे तत्त्वज्ञान व शास्त्र की रक्षा के लिए जल्प व वितण्डा की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्ररक्षार्थ ही इनका प्रयोग होना चाहिए, सर्वदा नहीं। तत्त्वज्ञान होने पर समाधिलाभ द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति होती है, आत्मा जन्म-जन्मान्तर के चक्र से मुक्ति पाकर अमरत्व व परमानन्द को प्राप्ति करता है ॥२४॥

इस प्रकार अबतक बारह प्रमेय की व्याख्या की गई; अब इसके आगे संशय-प्रयोजनादि तत्त्वों का विवेचन किया जायगा।

किमेतदिति सन्दिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

संशयादिस्वरूपमाह—**किमेतदित्यादिना।**

दूरावलोकनेन पदार्थपरिच्छेदकधर्मेषु संशयानः प्राह–**किमेतदिति।** एतत्किं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ? यः सन्दिग्धः प्रत्ययः स संशयो नाम तत्त्व-विशेषो मतः सम्मतः तच्छासन इति।

प्रयोजनमाह—तत्तु यत्पुनः प्रयोजनं नाम तत्त्वं तत्किमित्याह—अर्थित्वात्प्राणी साध्यं कार्यं प्रति प्रवर्तते प्रतीत्यध्याहार्यम्, न हि निष्फल-कार्यारम्भ इत्यर्थित्वादुक्तम्, एवं यत्प्रवर्तनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥२५॥

अन्वयः-- एतत् किम् इति संदिग्धः प्रत्ययः संशयः मतः । यदर्थित्वात् साध्यं प्रवर्तते तत्तु प्रयोजनम् ॥

सुधा—एतत्किं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदिग्धः=सन्देहयुक्तः, प्रत्ययः=विचारः, संशयः=संशयो नाम तृतीयतत्त्वविशेषः, मतः=सम्मतः । यदर्थित्वात्=यमर्थमधिकृत्य, साध्यं=कार्यं तर्कं तत्त्वज्ञानं वा, प्रवर्तते=प्रवृत्तो भवति, तत्प्रयोजनमिति ॥२५॥

पदार्थ--एतत्=यह । किम्=क्या है । इति=इस प्रकार । संदिग्ध=सन्देहयुक्त । प्रत्ययः=विचार । संशयः=संशय । मतः=कहलाता है । यदर्थित्वात्=जिस अर्थ से । साध्यम्=कार्य । ज्ञेय अथवा तर्क में प्रवर्तते=(मनुष्य) लगता है । तत्तु=वही । प्रयोजनम्=प्रयोजन नामक चौथा पदार्थ कहलाता है ॥२५॥

भाषाप्रकाश--**संशय और प्रयोजन**--न्याय दर्शन में प्रमाण-प्रमेय के पश्चात् तीसरा पदार्थ संशय माना गया है । यदि किसी पदार्थ की जानकारी में संशय नहीं होगा तो उसमें तर्क व तत्त्वज्ञान की प्रवृत्ति भी नहीं होगी । संशय रहने पर ही ज्ञान के लिए ऊहापोह किया जाता है । **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यव्यानुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः, स संशयः** अर्थात् अनेक वस्तुओं में समान रूप से पाए जाने वाले लक्षण को किसी एक वस्तु में पाकर 'यह लक्षण इसमें है कि नहीं' इस प्रकार के सन्देह से युक्त होकर जो विशेष विचार में उधेड़बुन में पड़ना है, वही संशय कहलाता है । उदहरणार्थ किसी ने अंधेरे में पेड़ का ठूंठ देखा तो उसे उसकी लम्बाई आदि सामान्य आकार को देख कर सन्देह पैदा हुआ कि यह पेड़ का ठूंठ है अथवा मनुष्य खड़ा है । इस प्रकार का विचार ही संशय कहलाता है । संशय के रहने पर तर्क व विमर्श उत्पन्न होते हैं और तर्क से ही तत्त्वज्ञान होता है । प्रमेय के गुण-धर्म व स्वरूप के निर्णय के लिए उसमें सर्वप्रथम संशय का होना आवश्यक है; फिर प्रमाणादि से संशय का निर्णय करने पर उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

प्रयोजन के बिनाकोई प्राणी किसी भी प्रकार का कार्य नहीं करता । प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽप्यादरेत्" बिना प्रयोजन के मूर्ख मनुष्य भी कोई कार्य नहीं करता है । अतः मनुष्य जो कार्य करता है उसमें भी संशय होता है; अतः संशय होने पर प्रमाणों द्वारा प्रमेयों का तत्त्वज्ञान तर्क आदि का भी प्रयोजन है, इसीलिए प्रयोजन षोडश पदार्थों में से एक पदार्थ के रूप में मान्य किया गया है । संशय का प्रयोजन तर्क है, तर्क का प्रयोजन तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञान का प्रयोजन मोक्ष प्राप्त करना है ॥२५॥

दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः ।
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः सर्वतन्त्रादिभेदतः । २६॥

तु पुनरेष दृष्टान्तो नाम तत्त्वं भवेत्, यत्किमिति ? **विवादविषयो न, यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति, इदमित्थं भवति न वेति विवादो न भवतीत्यर्थः, तावच्चान्वयव्यतिरेकयुक्तोऽर्थः स्खलति यावन्न स्पष्टं दृष्टान्तोपष्टम्भः । उक्तं च—**

तावदेव चलत्यर्थो मन्तुर्गोचरमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥

एष दृष्टान्तो ज्ञेयः ।

सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत्, कथमित्याह— सर्वतन्त्रादिभेदत इति । सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति प्रथमो भेदः । आदिशब्दाद्द्वे इतरे इमं ज्ञेयम्, यथा प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति, अमी चत्वारः सिद्धान्तभेदाः, नाममात्रकथनमिदं, विस्तृतग्रन्थेभ्यस्तु विशेषो ज्ञेयः ॥२६॥

अन्वयः—यः विवादविषयः न एष तु दृष्टान्तः । सर्वतन्त्रादिभेदतः तु सिद्धान्तः चतुर्भेदः ॥

सुधा—यः=पदार्थः विवादविषयः न=यस्मिन् समुपन्यस्तस्ते वचने वादगोचरो न भवति । इदमेवास्ति न वेति विवादो न भवति । एष तु=एवंलक्षणयुक्तः, दृष्टान्तः=दृष्ट अन्तो यस्य लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः । सर्वतन्त्रादिभेदतः=सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरणाभ्युपगमसंस्थिति-भेदात् सिद्धान्तः=सिद्धो अन्तो यस्य, चतुर्भेदः=यथोक्तेति ॥२६॥

पदार्थः—यः=जो । विवादविषयः न=विवाद—शंका व सन्देह का विषय न हो । एष तु=वही । दृष्टान्तः=दृष्टान्त कहलाता है । सर्वतन्त्रादिभेदतः=सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण एवं अभ्युपगम-संस्थिति भेद से । सिद्धान्तः=सिद्ध है अन्त जिसका, ऐसा पाँचवाँ पदार्थ सिद्धान्त । चतुर्भेदः=उसके चार भेद होते हैं ॥२६॥

भाषाप्रकाश—जिसके कहने से किसी प्रकार का विवाद, शंका अथवा सन्देह न उत्पन्न हो, लौकिक—साधारण मनुष्य एवं परीक्षक—विद्वान् दोनों जिसको एकमत से मान लें उसे दृष्टान्त कहते हैं । जो लोग साधारण रूप से किसी बात को मानते हैं वे लौकिक कहलाते हैं और जो लोग हर एक पदार्थ के गुणों को बुद्धि तथा तर्क द्वारा ज्ञात कर निर्णीत करते हैं वे परीक्षक कहलाते हैं । जिस बात को लौकिक एवं परीक्षक दोनों ही एक-सा समझते हैं, उसी को दृष्टान्त कहते हैं ।

सिद्ध हो गया है अन्त जिसका वह सिद्धान्त कहलाता है। कोई विचार सत्य के आधार पर तर्क व विवाद द्वारा जब निश्चित हो जाता है तो वह सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लेता है, सिद्धान्त निश्चित होता है। सिद्धान्त के आधार पर तर्क व निर्णय का निगमन होता है। न्याय दर्शन में सिद्धान्त के चार भेद माने गए हैं—१. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३. अधिकरण सिद्धान्त और ४. अभ्युपगमसंस्थिति सिद्धान्त।

जिस सिद्धान्त के विरुद्ध किसी भी शास्त्र में प्रमाण न मिले, जो सर्वमान्य हो, किसी एक शास्त्र में प्रतिपादित हो किन्तु उसका विरोध किसी अन्य शास्त्र में न हो उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। उदाहरणार्थ पाँचों इन्द्रियाँ एवं उनके नियत विषय में शास्त्रों में समान मान्यता है। आँख इन्द्रिय है; उसका विषय है—रूप अथवा देखना, इस मान्यता में सभी शास्त्र अविरुद्ध हैं। अतः यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

जो किसी विचार की पुस्तक में तो सिद्ध हो किन्तु दूसरे विचार के शास्त्र वाले उसका खण्डन करें तो उसे प्रतितन्त्र (एकदेशीय) सिद्धान्त कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी शास्त्र में शब्द नित्य माना गया है और किसी शास्त्र में उसके विरुद्ध अनित्य माना गया है, इससे वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

जिसके सिद्ध हो जाने से अन्य बातें स्वयं सिद्ध हो जायें, जिसके सिद्ध किए बिना अन्य बातें सिद्ध न हों वह अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। उदाहरणार्थ इन्द्रियों से जानने वाला आत्मा शरीर से पृथक् है। यदि आत्मा न होता तो नियत विषय वाली इन्द्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान एक चैतन्य में न होता; किसी वस्तु को आँख से देखा और हाथ से छुआ तो कहा जाता है कि जिसे आँख से देखा उसी का स्पर्श किया; अतः सिद्ध हुआ कि हर एक इन्द्रिय द्वारा जानने वाला कोई और है, इसी का नाम अधिकरण सिद्धान्त है।

साधारण रूप से किसी वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् उसके धर्मों का न्याय द्वारा परीक्षण करके जो सिद्धान्त निश्चित किए जायें वे अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाते हैं। शब्द की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसके स्वरूप-नित्यत्व एवं अनित्यत्व की परीक्षा करके सिद्धान्त निश्चित किए जायें तो उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं।।२६।।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमस्तथा।
अवयवाः पञ्च तर्कः संशयोपरमो भवेत् ।।२७।।
यथा काकादिसम्पातात् स्थाणुना भाव्यमत्र हि।
ऊर्ध्वं सन्देहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ।।२८।।

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपमाह—प्रतिज्ञेत्यादिना।

अवयवाः पञ्चेति सम्बन्धः, पूर्वार्द्धमाह—प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमनं चेति [1]पञ्चावयवाः, तत्र प्रतिज्ञा—साध्यविशिष्टः पक्षः सानुमानयं कृशानुमानित्यादि, हेतुर्लिङ्गवचनम्, धूमवत्त्वादित्यादि, दृष्टान्त उदाहरणवचनं, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेश इत्यादि, उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनं धूमवांश्चायमित्यादि, निगमनं हेत्वपदेशेन पुनः साध्यधर्मोपसंहरणं, तस्माद्वह्निमानित्यादि, इति पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणम् अवयवतत्त्वं ज्ञेयमिति।

तर्कः संशयोपरमो भवेद्, यथा काकेत्यादि। दूराद् दृग्गोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति? संशयस्तस्योपरमेऽभावे सति तर्को भवेत् तर्को नाम तत्त्वं स्यात्, कथमित्याह—यथेति। दूरादूर्ध्वस्थं पदार्थं विलोक्य स्थाणुपुरुषयोः संविहानोऽवहितीभूय विमृशति, काकादिसम्पातादादिशब्दाद्वल्युत्सर्पणादयः स्थाणुधर्मा ग्राह्याः, वायसप्रभृतिसम्बन्धादत्र स्थाणुना भाव्यं, कीलकेन भवितव्यम्, पुरुषे हि शिरःकम्पनहस्तचालनादिभिः काकपातानुपपत्तेः, एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति।

ऊर्ध्वमित्यादि पूर्वोक्तलक्षणाभ्यां सन्देहतर्काभ्यामूर्ध्वमुत्तरं यः प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति प्रतीतिविषयः, स निर्णयः निर्णयनामा तत्त्वविशेषो ज्ञेयः, यत्तदावर्थसम्बन्धादनुक्तावपि ज्ञेयौ ।।२७-२८।।

अन्वयः—प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-उपनयाः निगमः तथा पञ्च अवयवाः संशयोपरमः तर्कः भवेत्। यथा हि काकादिसंपातात् अत्र स्थाणुना भाव्यम्। सन्देहतर्काभ्याम् ऊर्ध्वं प्रत्ययः निर्णयो मतः ।।२७-८।।

सुधा—प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः साध्यनिर्देशः, प्रतिज्ञा यथा पर्वतो वह्निमान्। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः, यथा धूमवत्त्वात् साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्म भावी दृष्टान्त उदाहरणम्, यथा यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः। उदाहरणापेक्षस्तथेति उपसंहारो न तथेति साध्यस्योपनयः, यथा पाकशालायां वह्निः तथा पर्वतेऽपि। हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्। संशयस्य=सन्देहस्य उपरमः=समाधानम् वस्तुतत्त्वविवेकः तर्कः, अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। भवेत्=स्यात्, तस्योदाहरणम् यथा हि अत्र=अस्मिन् स्थले, काकादिसंपातात्=वायसपतनात् सम्बन्धात् स्थाणुना भाव्यम्=कीलकेन भवितव्यम्। पुरुषे हि शिरः-

१. 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'—न्या०सू० १-१-३२।

कम्पनहस्तचालनादिभिः काकपातानुपपत्तेः एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति । सन्देहः=संशयः, तर्कः=ऊहः, ताभ्याम् ऊर्ध्वम्=उत्तरम्, प्रत्ययः=स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति प्रतीतिविषयः स निर्णयः=निर्णयनामा तत्त्वविशेषः, मतः=ज्ञेयः ॥२७-२८॥

पदार्थ--प्रतिज्ञा=जो सिद्ध करना है उसे बतलाना, जैसे यह पर्वत अग्निवाला है। हेतुः=उदाहरण के ज्ञान से साध्य को सिद्ध करना हेतु है, जैसे पर्वत अग्निवाला है धुआँ दिखलाई पड़ने से। दृष्टान्तः=उदाहरण को दृष्टान्त कहते है, जैसे रसोईघर में देखा था कि अग्नि से धुआँ निकलता है। उपनय=जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इसे उपनय कहते हैं। निगमन=धुआँ देखने से पर्वत अग्निवाला है। पञ्च=यह पाँच। अवयवाः=अवयव—अंग कहलाते हैं। संशयोपरमः=संशय का समाधान। तर्कः=तर्क कहलाता है। यथाहि=उदाहरणार्थं। काकादिसंपातात्=कौआ आदि पक्षियों के बैठने से। अत्र=यहाँ। स्थाणुना=पेड़ का ठूंठ भाव्यम्=होना चाहिए, न कि मनुष्य। यदि मनुष्य होता तो हाथ-पैर-शिर आदि चलाने से कौआ आदि पक्षी उस पर न बैठते। सन्देहतर्काभ्याम्=संशय और तर्क—इन दोनों से। ऊर्ध्वम्=ऊपर। प्रत्ययः=ज्ञान। निर्णयः=निर्णयनामक नवाँ पदार्थ मतः=माना गया है ॥२७-२८॥

भाषाप्रकाश—अवयव और तर्क का निरूपण करते हुए कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन—यह पाँच अवयव हैं—ये अनुमान में प्रयुक्त किए जाते हैं अथवा इन पाँचों का समुदाय की अनुमान है। अनुमान में इन पाँचों अंगों की प्रक्रिया से ज्ञान उत्पन्न होता है। वह वस्तु, जिसे सिद्ध करना है, उसका निर्देश करना प्रतिज्ञा है। लिङ्ग—चिह्न का निर्देश करना हेतु है। साध्य और हेतु के साहचर्य का दृष्टान्त देना उदाहरण है। उदाहरण के द्वारा हेतु और साध्य का निर्देश उपनय है। साध्य को लिङ्ग के आधार पर सिद्ध कर देना निगमन है। पर्वत में धुआँ देखकर किसी ने कहा कि पर्वत में अग्नि है, यह प्रतिज्ञा हुई। धुआँ के दखने से अग्नि का अनुमान होता है, यह हेतु हुआ। रसोईघर में अग्नि के रहने पर धुआँ निकलते देखा था, यह उदाहरण हुआ। जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है, यह उपनय हुआ। अतः पर्वत में धुआँ होने के कारण इसमें अग्नि है, यह निगमन हुआ। इस प्रकार पाँचों अवयवों को मिलाकर अग्नि को न देखने पर भी अनुमान द्वारा ज्ञान कर लिया गया।

अज्ञात विषय को कारणपूर्वक सिद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान के लिए विचार करना तर्क कहलाता है। तर्क से संशय का निवारण एवं समाधान होता है, तत्त्वज्ञान का उदय होता है। मनुष्याकार वृक्ष के ठूंठ को देखकर संशय हुआ कि

यह ठूँठ है अथवा मनुष्य खड़ा है? फिर उस पर देखा गया कि कौए आदि पक्षी उड़-उड़ करके उस पर बैठते हैं। फिर सन्देह का निवारण हुआ कि यह वृक्ष का ठूँठ है, न कि मनुष्य। यदि यह मनुष्य होता तो हाथ-पैर-सिर के चलाने से उसके ऊपर कौवा आदि पक्षी नहीं बैठ सकते थे।

इस प्रकार जिसके द्वारा संशय का निवारण हुआ, यथार्थ ज्ञान का प्रतिपादन हुआ, उसे तर्क कहते हैं। तर्क के द्वारा संशय, भ्रम एवं अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान का उदय होता है। तर्क बुद्धि का कार्य है, तर्कशक्ति बौद्धिक शक्ति पर निर्भर होती है।

सन्देह और तर्क—इन दोनों से ऊपर होने पर निश्चित तत्त्वज्ञान निर्णय कहलाता है। सर्वप्रथम किसी वस्तु के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है, उसके बाद तर्क किया जाता है और तर्क के द्वारा निर्णय होता है। अन्धकार में किसी वृक्ष के ठूँठ को देखकर संशय हुआ कि यह ठूँठ है अथवा मनुष्य खड़ा है? तर्क किया गया कि यदि यह मनुष्य होता तो इसके ऊपर कौआ आदि पक्षी न बैठते। मनुष्य हाथ-पैर-सिर हिला-डुला सकता था, किन्तु इसके ऊपर कौवा आदि पक्षी आकर बैठे हैं; अतः यह मनुष्य नहीं, बल्कि वृक्ष का ठूँठ है। इस प्रकार का जो निश्चय किया गया वह निर्णय कहलाता है। सन्देह एवं तर्क के पश्चात् निर्णय होता है। "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः" अर्थात् पक्ष और विपक्ष को समाप्त करके तत्त्वज्ञान का निश्चय करना ही निर्णय कहलाता है। निर्णय होने पर संशय व तर्क समाप्त हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान का निश्चय हो जाता है ।२७-२८॥

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्।
यः कथाऽभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः॥२९॥

वादतत्त्वमाह --**आचार्यशिष्ययोरित्यादिना।**

असौ वाद उदाहृतः कथितस्तज्ज्ञैरित्यर्थः, यः कः? इत्याह—**कथाऽभ्यासहेतुरिति।** कथा प्रामाणिकी तस्या अभ्यासः कारणम्, कयोराचार्यशिष्ययोः, आचार्य्यो गुरुरध्यापकः, शिष्यश्चाध्येता विज्ञेय इति, कस्मात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्, पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञाऽऽदिपरिग्रहः, प्रतिपक्षः उत्तरपक्षः पूर्वपक्षवादिप्रयुक्तप्रतिज्ञाऽऽदिप्रतिपक्षकोपन्यासप्रौढिः तयोः परिग्रहात्संग्रहादित्यर्थः। आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे, शिष्यश्चोत्तरपक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति, एवं निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादिनिरपेक्षतयाऽभ्यासनिमित्तम्, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः स वादो ज्ञेयः ॥२९॥

अन्वयः आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् यः कथाऽभ्यासहेतुः स्यात् असौ वाद उदाहृतः ॥२९॥

सुधा आचार्यः=गुरुरध्यापकः, उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः, साङ्गं च सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते । शिष्यः=अध्येता, तयोः पक्षः=पूर्वपक्षः, प्रतिपक्षः=उत्तरपक्षः, परिग्रहात्=ग्रहणात् संग्रहात् यः=वादः, कथाभ्यासहेतुः स्यात्=कथाप्रामाणिकी, तस्याः अभ्यासः=कारणम्, आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे शिष्यश्चोत्तरपक्षमङ्गीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति, निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादिनिरपेक्षतयाऽभ्यासनिमित्तम् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः, असौ=स वादः=नामधेयं तत्त्वम्, उदाहृतः=ज्ञेयः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥१॥२९॥

पदार्थ—आचार्यः=गुरु अध्यापक । शिष्ययोः=और शिष्य इन दोनों का । पक्ष=पूर्वपक्ष । प्रतिपक्ष=उत्तरपक्ष । परिग्रहात्=ग्रहण करने से । यः=जो । कथाभ्याम्=वार्तालाप का । हेतुः=कारण । स्यात्=हो । असौ=वह । वाद=वाद-नामक पदार्थ । उदाहृतः=कहा गया है ॥ २९ ॥

भाषाप्रकाश—गुरु और शिष्य शास्त्राभ्यास के प्रयोजन से जब पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष ग्रहण करके आपस में वार्तालाप व शास्त्रचर्चा करें तो उसे वाद कहते हैं । जो शिष्य का उपनयन करके अङ्ग व रहस्यसहित वेद पढ़ावे उसे आचार्य कहते हैं । आचार्य पूर्वपक्ष लेकर प्रश्न करे और शिष्य उत्तरपक्ष लेकर उत्तर दे जिससे कि शास्त्राभ्यास हो, तो उसे वाद कहते हैं । वाद जय-पराजयपूर्वक शास्त्रार्थ के लिए नहीं होता, अपितु शास्त्राभ्यास के लिए होता है । एक पदार्थ के दो विरोधी धर्मों को ले लिया गया प्रमाण तर्क-साधनों सहित सिद्धान्त के विरुद्ध न होकर प्रतिज्ञा हेतु उदाहरणादि पाँचों अवयवों के सहित जो प्रश्नोत्तर किया जाय वह वाद है; जैसे किसी ने कहा कि आत्मा है, किसी ने कहा कि नहीं है । अब यह वाद है जबकि प्रमाण और युक्तियों के सहित प्रश्नोत्तर हो । जहाँ भिन्न-भिन्न वस्तुओं में दो विरुद्ध धर्मों का वर्णन किया जाय वह वाद नहीं है । इसीलिए न्यायदर्शन में लक्षण किया गया—प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥१॥२९॥

विजिगीषुकथा या तु छलजात्यादिदूषणा ।
स जल्पः, सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ॥३०॥

अथ तद्विशेषमाह—**विजिगीषुकथेति ।**

स जल्प इति सम्बन्धः, यद् विजिगीषुकथायां विजयाभिलाषिवादिप्रतिवादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्यां सत्यां छलजात्यादिदूषणम्, छलं त्रिप्रकारम्—वाक्छलं, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति । जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं

परोपन्यस्तपक्षादेर्दूषणजालमुत्पाद्य निराकरणम्, अभिमतं च स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैः परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम्, तथा चोक्तम्—

दुःशिक्षितकुतर्काँशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डादोषमण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥ इति ॥

संकटे प्रस्तावे च सति च्छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम्, परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसम्भवस्तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः ।

प्रतिपक्षस्तेन विवर्जितो रहित इति प्रतिपक्षसाधनविहीनो वितण्डावादः, वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किञ्चिद्वादेन परोक्तं दूषयतीत्यर्थः ॥३०॥

अन्वयः—विजिगीषुकथायां तु या छलजात्यादिदूषणं स जल्पः । तु या प्रतिपक्षवर्जिता सा वितण्डा ॥३०॥

सुधा—या विजिगीषुकथायाम्=विजयाभिलाषिवादिप्रतिवादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्यां, छलजात्यादिदूषणम्=छलम्=त्रिप्रकारकम्—वाक्छलं सामान्यछलम् उपचारछलञ्चेति वचनं विद्यातोऽर्थोपपत्त्या छलम्, साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः । जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः दूषणजालमुत्पाद्य परपक्षनिराकरणम् स=तथोक्तः जल्पः तु या=वृत्तिः प्रतिपक्षवर्जिता=प्रतिपक्षस्थापनाहीना, सा=वृत्तिः, वितण्डा, प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति ।३०॥

पदार्थ—विजिगीषुकथायाम्=विजय की अभिलाषा से वाद-विवाद व शास्त्रार्थ में । तु या=जो । छल-जात्यादिदूषणम्=छल-जाति आदि के द्वारा दोषारोपण के जाल से परपक्ष का निराकरण करना है । सः=वह । जल्पः=जल्प कहलाता है । तु=फिर । या=जो । प्रतिपक्षवर्जिता=छल आदि के द्वारा प्रतिपक्ष को स्थापित ही न होने देने वाली होती है । सा=वह । वितण्डा=वितण्डा नामक पदार्थ है ॥ ३० ॥

भाषाप्रकाश—जब हार-जीत के लिए कोई वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ किया जाता है और उससे उसे छल-जाति आदि के द्वारा दूषित करके स्वपक्षमण्डन एवं परपक्ष खण्डन करने को जल्प कहते हैं । जल्प से हार-जीत भले ही हो, किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता । वाद तत्त्वज्ञान के उद्देश्य से होता है । जल्प केवल जय-पराजय के विचार से किया जाता है । वाद में छल का प्रयोग नहीं होता, किन्तु जल्प में छल का प्रयोग होता है । इसलिए तत्त्वान्वेषण के प्रयोजन से वार्तालाप का नाम वाद एवं जय-पराजय के विचार से जो वार्तालाप है, वह जल्प कहलाता है ।

जब विवाद इस प्रकार का हो कि कोई पक्षी अपना कोई सिद्धान्त न रखे, किन्तु केवल अन्य के पक्ष का खण्डन करना ही अपना कार्य समझे तो उसे वितण्डा कहते हैं। वितण्डा से शास्त्रार्थ व तत्त्वज्ञान नहीं होता, केवल बकवास व जय-पराजय ही होता है ॥३०॥

हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥ ३१ ॥

हेत्वाभासा ज्ञेया इति । के ते ? इत्याह—असिद्धाद्याः, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासा ज्ञेयाः । तत्र पक्षे धर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः, विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः, पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः, प्रत्यक्षानुमानागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः, विशेषाग्रहणे हेतुत्वेन प्रयुज्यमानः प्रकरणसमः, उदाहरणानि स्वयमभ्यूह्यानि ।

छलं कूपो नवोदक इति, परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतार्थान्तरकल्पनया वचनविघातश्छलम्, कथमित्याह—वादिना कूपो नवोदक इति कथायां नवसंख्यार्थवाचकतया नवशब्दप्रयोगे छलवादी नवसंख्यामारोप्य दूषयति, कुतः एक एव कूपो नवसंख्योदक इति वाक्छलम्, प्रस्तावागतत्वेन शेषच्छलद्वयमप्याह—सम्भावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्य हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्, यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति, तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते, यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद्भवति, व्रात्येऽपि सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलं, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्तीति छलत्रयस्वरूपं ज्ञेयमिति ।

जातय इत्यादि । दूषणाभासा जातयः, अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः यैः पक्षादिर्न दूष्यते, आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः समुद्भावयितुं शक्यते, केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झटिति तद्दोषप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः, सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन ।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः ।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं—यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्त्तत्वान्नित्यः स्यादिति ।

वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः ।

पूर्वस्मिन्नेव प्रयोगे वैधर्म्येणैवोक्ते वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं, नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वाद्, अनित्यं हि मूर्त्तं यथा घटादि ।

यदि हि नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दस्तर्हि घटाद्यनित्यवैधर्म्यादमूर्त्तत्वान्नित्यः स्याद्, विशेषाभावादिति ।

उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः, तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते, यदि घटवत्कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवेद्, न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दो धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति, अपकर्षस्तु—घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट एवं शब्दोऽपि भवेद्, नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षति ।

वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः । ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते, यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग् घटधर्मो, यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मौ हि तुल्यौ कर्तव्यौ, अत्र तु विपर्यासः यतो यादृग्घटधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् शब्दधर्मः, घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वम्, शब्दस्य हि तालुवोष्ठादिव्यापारजमिति ।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः, यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कवशय्याऽऽदि, किञ्चित्कठोरं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादिकं, किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति ।

साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः, यथा घटः तथा शब्दः प्राप्तस्तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति, शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तो, विरुद्धलक्षणत्वान्न दृष्टान्तः स्यात्, न चेदेवं तथाऽपि वैलक्षण्यात्सुतरामदृष्टान्त इति ।

प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती, यथा यदेतत्कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्य वा, प्राप्यं चेद् तर्हि द्वयोर्विद्यमानयोरेवप्राप्तिर्भवति न सदसतोरिति, द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा, अप्राप्य तु साधनमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति ।

प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह - यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं, कृतकत्वमिदानीं किं साधनं तत्साधने किं साधनम् ? इति ।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह—यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति, न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं, भवदन्तरेण प्रत्यवस्थानात् ।

अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः, यथाऽनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते, तदेव हेत्वभावादसिद्धिरनित्यस्येति ।

साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिर्यथा पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति, यथा किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाम्यान्निरवयवत्वान्नित्य इति ।

द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्धया प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति, तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् ।

त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः, यथा हेतुः साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा सह वा भवेद् यदि पूर्वमसत् साध्यं तत्कस्य साधनम्, अथ पश्चात्साधनं पूर्वं तर्हि साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन, अथ युगपत्साध्यसाधने तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति ।

अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिमा जातिः, यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते, नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति अस्ति चास्य नित्येनाकाशेन साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति ।

अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः, यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषः, तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति ।

उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः, यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं, निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् ।

उपलब्धेन प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्द प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनं, साधनं तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते, उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वं, शब्देऽपि क्वचिद् वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथेति ।

अनुपलब्धिप्रत्यवस्थानादनुपलब्धिसमा जातिः यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते, स प्राह जातिवादी न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेद् ? न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावादावरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः, तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति, ततश्च तदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणमिति प्रयत्नकार्याभावान्नित्यः शब्द इति ।

साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यताऽऽपादनं नित्यसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते, जातिवादी विकल्पयति—येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति, यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अभावान्नित्यः शब्दः, अथ नित्यैवेति तथाऽपि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रितस्यानुपपत्तेः तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव स इति चेत् ? न, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथा नित्यः शब्द इति ।

एवं सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः, यथा घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति, तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते तद्घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्याद्, अथ पदार्थान्तराणां तथा भावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदित्यनित्यत्वमात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः ।

प्रयत्नाकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः । यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह—प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टं किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकं; किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिना व्यज्यते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि ।

एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेषु प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति संशयापादानप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते ।

तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्ये संकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिजातिभेदा एते दर्शिता इति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—असिद्धाद्या हेत्वाभासाः, नवोदकः कूपः छलम्, दूषणाभासाः जात्य यैः पक्षादिः न दूष्यते ॥३१॥

सुधा—असिद्धाद्या= असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः [illegible] हेत्वाभासाः ज्ञेयाः, यस्य पक्षे धर्मत्वं नास्ति सोऽसिद्धः, विपक्षे सन् सपक्षे [illegible] विरुद्धः, पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः, प्रत्यक्षानुमानागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः। विशेषाग्रहणे प्रयुज्यमानः प्रकरणसमः। नवोदकः कूपः इति छलम्। यादिना कूपो नवोदक इति कथायां छलवादी नवशब्दप्रयोगे नवसंख्यामारोप्य दूषयति कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति वाक् छलम्। भावनयाऽतिप्रसङ्गेनोपि सामान्यस्य हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम्, यथा "विद्याचरणसम्पन्नः ब्राह्मणः" इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे सामान्यछलवादी वदति यदि विद्याचरणसम्पन्नः ब्राह्मणः तर्हि "व्रात्योऽपि ब्राह्मणः" तल्लक्षणात्। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलम्, यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति" उपचारज्ञवादी वदति कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति।"

दूषणाभासाः जातयः। अदूषणान्यपि दूषणवदवभासन्त इति दूषणाभासाः, यैः पक्षादिर्न दूष्यते आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः संभवितुमर्हति। दोषत्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः। सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यवैधर्म्यादिभेदेनेति।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः, यथा अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, घटवत्। प्रत्यवस्थानं यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः स्यादिति ॥

वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः, यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, हि यन्नित्यं मूर्तं यथा घटादि

उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः। अनित्यः शब्दः [illegible] शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवेत् न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दः धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति। घटः कृतकः सन्श्रावणो दृष्ट एवं शब्दोऽपि भवेत् नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षति। वर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः, शब्दधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृग् घटधर्मो यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति। यतो यादृक् घटधर्मः कृतकत्वादिर्न [illegible] ब्दधर्मः।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः, यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं तूलशय्यादि किञ्चित्कठोरं कुठारादि एवं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादिकं किञ्चिन्नित्यं शब्दादि। साध्यसाम्यप्रदर्शनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः, यथा घटः तथा शब्दः प्राप्तस्तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तसाध्यसमत्वात्। प्राप्त्याप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती, कृतकत्वं साधनमुपन्यस्तं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्यं वा प्राप्ये द्वयोर्प्राप्तिः अप्राप्य साधनमयुक्तमिति। प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः घटवदिति तथाहि यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं तत् किं साधनं साधने किं साधनमिति।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः, यथा अनित्यः शब्दः घटवदित्युक्ते यथा घटः अनित्यः प्रयत्नान्तरीयकत्वात् तथा आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकम् कूपखननप्रयत्नान्तरदर्शनात्।

अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः, यथाऽनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः कु वर्तते तदेव असिद्धिरनित्यस्य हेत्वभावात्। साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जातिः संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति; यथा किं घटसाधर्म्यादनित्यः शब्दः किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाम्यान्निरवयवत्वान्नित्येति। द्वितीयपक्षोत्थानबुद्धया प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्वादिति।

त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः, यथा हेतुः साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा सह वा भवेत् यदि पूर्वमसति साध्यं तत्कस्य साधनम्, यदि पश्चात्साधनं पूर्वं तर्हि साध्यं तस्मिंश्च पूर्वंसिद्धे किं साधनेन युगपत्साध्य-साधने साध्य-साधनभाव एव न भवेत् अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा जातिः, यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्येति।

अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः, यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषः, तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः। उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः। यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति। उपलब्धेन प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नान्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनं, साधनं तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते, तेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम्।

अनुपलब्धिप्रत्यवस्थानादनुपलब्धिसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरकत्वादिति प्रयुक्ते न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासावावरणयोगात्तु नोपलभ्यते । प्रयत्नकार्याभावान्नित्यः शब्द इति । साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यताऽऽपादनं नित्यसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते येयमनित्यता शब्दस्य सा किमनित्या नित्या वेति । यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यतायाः अभावान्नित्यः शब्दः । सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः, यथाऽनित्यत्वेन शब्दस्य घटसाधर्म्यम् तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते तर्हि घटेन सर्वपदार्थानां किमपि साधर्म्यं अस्त्येव, अतः तेषामपि स्यादनित्यत्वम् यदि पदार्थान्तराणां तथापि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि नानित्यत्वमिति ।

प्रयत्नकार्यज्ञानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः, यथाऽनित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टं किंचिदसदेव तेन जन्यते, यथा घटादिकं किंचित्सदेवावरणव्युदासादिना व्यज्यते मृदन्तरितमूलकीलादि ।।३१।।

पदार्थ—असिद्धाद्याः=असिद्ध आदि । हेत्वाभासाः=पाँच हेत्वाभास हैं । नवोदकः=नये पानी वाला अथवा नौ संख्या का पानी वाला । कूपः=कुआं । छलम्=इस प्रकार अर्थान्तर करना छल कहलाता है । दूषणाभासाः=वाद में दोष का प्रभाव दिखाना । जातयः=जाति कहलाता है । यैः=जिनसे । पक्षादिः=पक्ष आदि । न दूष्यन्ते=दूषित नहीं होते ।।३१।।

भाषाप्रकाश—**हेत्वाभास**— उदाहरण द्वारा साध्य को सिद्ध करना हेतु कहा गया है, जैसे पर्वत में अग्नि को सिद्ध करना है तो उसमें धुआं हेतु है । साध्य को सिद्ध करने के लिए ऐसा हेतु दिया जाय जो वास्तव में हेतु न हो, केवल हेतु मालूम पड़ता हो तो उसे हेत्वाभास कहते हैं । यह हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है—**१. असिद्ध, २. विरुद्ध, ३. अनैकान्तिक, ४. कालात्ययापदिष्ट और ५. प्रकरणसम ।**

भ्रामक हेतु जो स्वयं असिद्ध है और जिसकी सिद्धि के लिए हेत्वन्तर की आवश्यकता पड़े वह असिद्ध हेत्वाभास है । किसी ने कहा कि छाया द्रव्य है, हेतु दिया—गतिमान होने से । अब छाया गतिमती है कि नहीं, यह स्वयं असिद्ध है, क्योंकि छाया का चलना भ्रम है ।

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः" अर्थात् जो हेतु साध्य के प्रमाण में उपस्थित होकर उसी का विरोधी है, जिस वस्तु को सिद्ध करना है उसके विरुद्ध हेतु दिया जाय वह विरुद्ध हेत्वाभास है । जैसे किसी ने कहा कि पर्वत में आग है, उसे सिद्ध करने के लिए कहा कि स्रोत वाला होने से अर्थात् पर्वत के सोते से पानी आ रहा है, अतएव सिद्ध है कि पर्वत में आग है । वस्तुतः जल अग्नि का विरोधी है; अतः अग्नि की सिद्धि में जल का हेतु देना विरुद्ध हेत्वाभास है ।

जो हेतु एक स्थान पर स्थिर न रहे वह अनैकान्तिक हेतु है । "अनैकान्तिकः सव्यभिचारः" । साध्य की सिद्धि के लिए ऐसा हेतु देना जो साध्य को छोड़ कर और स्थान पर भी जाय, वह अनैकान्तिक हेतु कहलाता है । जैसे कहा कि शब्द नित्य है । इसमें हेतु दिया कि स्पर्शाभाववान् होने से । यह व्यभिचारी हेतु है, क्योंकि अन्य चीजों में भी पाया जाता है । सुख एवं दुःख में स्पर्श नहीं होता, फिर भी यह अनित्य है । परमाणुओं में स्पर्श होता है, फिर भी वे नित्य होते हैं ।।

"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" अर्थात् ऐसा हेतु देना जिसका समय व्यतीत हो गया हो कालात्ययापदिष्ट कहलाता है । जैसे कि शब्द नित्य है, इसमें हेतु दिया गया कि नेत्र और प्रकाश के संयोग से घट का प्रत्यक्ष होता है । प्रकाशाभाव में भी यद्यपि घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि घट विद्यमान रहता है; इसी प्रकार शब्द भी नित्य विद्यमान है । यह हेतु कालातीत हेत्वाभास कहलाता है ।

जिस वस्तु के सत्यत्व पर विश्वास न हो और विवाद का विषय भी वही हो उसी को हेतु के स्थान पर रखना प्रकरणसम कहलाता है । "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" यथा आत्मादि आकृतिरहित पदार्थ नित्य हैं उसी प्रकार शब्द भी आकृतिशून्य होने से नित्य है । यहाँ नित्यत्व की विशेषता देना हेतु नहीं, अपितु हेत्वाभास है ।

छल—विवाद करने वाले विपक्षी के शब्दों का उल्टा अर्थ करके उसके अभिप्राय से उल्टा अर्थ निकालना छल कहलाता है—"वचनविघातोऽर्थोपपत्त्या छलम्" । यह छल तीन प्रकार का होता है—१. वाक्छल, २. सामान्य छल और ३. उपचार छल । जहाँ दो अर्थ वाले शब्द हों वहाँ वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ करके उसके पक्ष का खण्डन कर देना वाक्छल कहलाता है । जैसे कहा गया कि कूपो नवोदकः अर्थात् कुआं नवीन जल वाला है । इस पर छलवादी कहता है कि कुयें के जल में "नौ" संख्या कहाँ है, जल तो एक ही है । वक्ता का अभिप्राय नव शब्द से नवीन—नया था, जबकि छलवादी ने नव का तात्पर्य नौ संख्या का ले लिया । "अभिशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्" ।।

दो शब्दों के अर्थ सामान्यतया जो सम्भव हों उनके सम्पर्क से असम्भव अर्थों की कल्पना करके विवाद करना सामान्य छल कहलाता है—"सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम्" । यथा किसी ने कहा कि "विद्याचरणसम्पन्नः ब्राह्मणः" अर्थात् विद्या और आचार से जो सम्पन्न हो वह ब्राह्मण है । छलवादी कहता है कि यदि ब्राह्मण का यही लक्षण है तब तो सभी ब्राह्मणों में विद्याचरण होना आवश्यक है, जो कि असम्भव है; अतः आपका यह लक्षण ठीक नहीं है । वक्ता जिस गुण को एक ब्राह्मण में बतला रहा था छलवादी उस गुण को हर ब्राह्मण में ढूंढने लगा, इसी धोखे से उसके वचन को असत्य सिद्ध करने लगा ।

पर उसका जोड़ कमजोर होने से वह पृथ्वी द्वारा खींच लिया जाता है तो हम कहते हैं कि फल गिर गया। हम वेग से ईंट का टुकड़ा ऊपर फेंकते हैं लेकिन वेग समाप्त होने पर पृथ्वी पुनः उसे अपनी ओर खींच लेती है और वह जमीन पर गिर पड़ता है। प्राकृतिक चिकित्सक रोगों को दूर करने के लिए शुद्ध मिट्टी का लेपन व पट्टी का प्रयोग करते हैं। मिट्टी रोग के विकार को खींच करके आँव व मल रेचक अंगों पर कर देती है और विकारों के निकल जाने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार आकुञ्चन कर्म पृथ्वी का है। प्रसारण कर्म आकाश का है, यह तत्त्वों को फैलाता है। सभी तत्त्व आकाश में गतिमान होते हैं। यदि आकाश न होता तो स्थिति व गति भी न होती। सभी तत्त्व व उनकी क्रियाएँ आकाश के प्रसारण पर ही आधारित हैं, उसी से हम गति अर्थात् गमन करते हैं। फूल से सुगन्धित और मल से दुर्गन्धित वायु आकाश के प्रसारण कर्म द्वारा ही वेग से फैलती है। गमन कर्म वायु का है; जहाँ भी गमन क्रिया है वह वायु से ही है। वायु के विना गमन असंभव है। विश्व में जो भी गति अर्थात् गमन है वह सब वायु के सहारे व गमन कर्म पर ही आधारित है। हमारे शरीर में सभी अंगों में जो क्रियाएँ हो रही हैं, जिसके फलस्वरूप शरीर जीवित है वह वायु के गमन कर्म के कारण ही है। पञ्च प्राण के रूप में वायु हमारे शरीर में कार्य कर रहा है। वायु को कुपित किए विना कोई भी विकार हमारे शरीर को रोगी नहीं बना सकते। इन पाँच कर्मों के आधार पर ही समग्र विश्व आधारित व संचालित है। घूमना, रेचन, काँपना, उर्ध्वगमन, तिरछा चलना—यह सब गमन के ही अन्तर्गत है।

सामान्य चौथा पदार्थ है। सामान्य का अर्थ है—जो सब में पाया जाय। सामान्य के दो भेद हैं—१. परसामान्य और २. अपरसामान्य। अधिक देशवृत्ति वाला परसामान्य है और न्यून देशवृत्ति वाला अपर सामान्य है। जैसे मानव जाति कहने से सम्पूर्ण मनुष्य जाति का बोध होता है, किन्तु ब्राह्मण जाति कहा गया तो मानव जाति के एक वर्ग का ही बोध होता है। यहाँ पर एक व्यक्ति के प्रति मानव जाति परसामान्य है, लेकिन ब्राह्मण जाति अपर सामान्य है; क्योंकि वह व्यक्तिविशेष है। इसी प्रकार द्रव्यत्व जाति परसामान्य है और पृथ्वी-जल आदि अपर सामान्य है। घट पट जलाशय-नदी आदि विशेष हैं ॥६४॥

तत्र परं सत्ताऽख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥६५॥

तत्र तयोर्मध्ये परं सत्ता भावो महासामान्यमिति वोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वाद्, अपरसामान्यं द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथा हि—द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यं, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति।

एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिरूपमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्।

एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः, एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्।

एवं पञ्चसु कर्मसु वर्त्तमानत्वात्कर्मत्वं सामान्यं द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, एवं कर्मत्वापेक्षयोत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम्।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं; कया युक्त्येति चेद् ? उच्यते—न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्य इत्यर्थः, एकद्रव्यत्वाद्, एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्रव्यत्ववद्, यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति किं तु सामान्यं विशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्ताऽपि वैशेषिकाणां क्वाद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यं, तत्राद्रव्यं द्रव्यमाकाशं कालो दिगात्मानः परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति. एकद्रव्यवती सत्तेति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम्।

एवं न गुणः सत्ता, गुणेष्वभावाद् गुणत्ववत्, यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्त्तेत, निर्गुणत्वाद्. गुणानां वर्त्तते च, गुणेषु सत्ता 'सन् गुण' इति प्रतीतेः, तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात् कर्मत्ववत्, यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्त्तेत, निष्कर्मत्वात्कर्मणां, वर्त्तते च कर्मसु भावः, सत्कर्मेति प्रतीतेः, तस्मात्पदार्थान्तरं सत्ता।

अथ विशेषपदार्थमाहार्याऽर्द्धेन—विशेषस्त्विति। निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्यो विनिर्दिष्टः कथितः, आचार्येणेति ज्ञेयम्। कथमित्याह—अन्त्यो विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तिरिति, तथा हि—नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम्, तथा च प्रशस्तकारः—अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः, विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्त्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः, तथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिक्रियाऽवयवोपचयापचयविशेषसंयोगनिमित्तासम्भवाद्, येभ्यो निमित्तेभ्यः

च परमाणौ स एवायमिति च प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषा इति, अमी च विशेषा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत्सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वादि यथा ॥६५॥

अन्वयः तत्र द्रव्यत्वादि अपरं सत्ताऽऽख्यं परम् अथ विशेषस्तु निश्चयतो निर्भ्रान्तद्रव्यवृत्तेः अन्त्यः विनिर्दिष्टः ॥६५॥

सुधा तत्र=सामान्ये । द्रव्यत्वादि=द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च जातिसत्कम् । अपरम् न परम् न्यूनदेशवृत्तित्वमपरत्वमिति । सत्ताऽऽख्यम्=यतो द्रव्यगुणकर्मसु या सत्ता, परम्=परसामान्यमिति । अथ=तदनन्तरम्, विशेषस्तु=विशेषः पञ्चमः पदार्थः । निश्चयतः=निश्चयसम्मतः निर्भ्रान्तः संशयादिरहितः, निर्भ्रान्तद्रव्यवृत्तेः=पृथिव्यादिनित्यद्रव्येषु प्रतिष्ठितः, अन्त्यः=विशेषः, विनिर्दिष्टः=निरूपितः ॥६५॥

पदार्थः— तत्र=सामान्यनिरूपण में । द्रव्यत्वादि=द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व जाति । अपरम्=अपर सामान्य है अर्थात् न्यून देश में रहने वाला सामान्य अपर सामान्य है । सत्ताऽऽख्यम्=द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व में समान रूप से रहने वाली सत्ता परम्=परसामान्य है । अथ=इसके बाद । विशेषस्तु=विशेष नामक पाँचवाँ पदार्थ । निश्चयतः=निश्चित, भ्रान्तिरहित व संशयरहित रूप में । नित्यद्रव्यवृत्तिः=नित्य द्रव्यों में रहने वाला । अन्त्यः=विशेष । विनिर्दिष्टः=निरूपित किया गया ॥६५॥

भाषाप्रकाश— द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व जातियों में जो सामान्य है वह अपर सामान्य है, इन जातियों में सामान्य रूप [redacted] जो सबमें सामान्य रूप में पाया जाता है वह परसामान्य है । सामान्य का अर्थ है— जो सबमें समान रूप से पाया जाय । पृथ्वी द्रव्य है, द्रव्यत्व उसकी जाती है । द्रव्यत्व जाति में नवो द्रव्य हैं; अतः पृथ्वी आदि नवो द्रव्यों का अपरसामान्य द्रव्यत्व जाति है । परसामान्य वह सत्ता है, जो द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व जातियों का भी आधार है और सबमे समान रूप से पायी भी जाती है । अतः सबमें पायी जाने वाली व सबाधार सत्ता ही परसामान्य है ।

पाँचवाँ पदार्थ विशेष है । यह नित्य द्रव्यों में रहने वाला है, भ्रान्ति व संशय से रहित है तथा पर सामान्य व अपर सामान्य सत्ता का अन्त्य है, द्रव्यत्व जाति अपरसामान्य है, पृथ्वी आदि द्रव्यविशेष हैं । गुणत्व जाति अपरसामान्य है । रूप-

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः स समवायः ॥६६॥

समवायपदार्थव्यक्तिलक्षणमाह—य इहेत्यादिना ।

इह प्रस्तुतमते, अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः, यथेह तन्तुषु पट इत्यादि—प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः, यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते, यथा छिदिः क्रिया छेद्ये नेति । अयुतसिद्धानामिति । परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इति । परस्परवैधर्म्यं तु विविक्तैरभ्यूह्यं, षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वाद् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यत इति ॥६६॥

अन्वयः— इह अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानामिह प्रत्ययहेतुः यः सम्बन्धः स समवायः ॥६६॥

सुधा— इह=वैशेषिकमते । अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्=परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इत्यर्थः । प्रत्ययहेतुः=ज्ञानप्रतीतिकारणस्वरूपः । यः=यत् । सम्बन्धः=आधाराधेयभावः । स समवायः=षष्ठः पदार्थः । नित्यः सम्बन्धः समवायः, यथा तन्तुषु पट इत्यादि ॥६६॥

पदार्थ— इह=वैशेषिकमत में । अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्=अयुतसिद्ध पदार्थों व गुणों का आधाराधेय नित्य सम्बन्ध । प्रत्ययहेतुः=ज्ञान का जो कारण है । यः सम्बन्धः=जो उनमें नित्य सम्बन्ध है । स समवायः=वह समवाय है ॥६६॥

भाषाप्रकाश— वैशेषिक मत में पदार्थों में आधार-आधेय भाव से जो नित्य सम्बन्ध है वह समवाय है । जैसे पृथ्वी में गन्ध गुण, तेज मे रूप उत्क्षेपण कर्म, द्रव्यों-गुणों-कर्मों में सामान्य और विशेष । इन सबमें नित्य सम्बन्ध समवाय है ॥६६॥

प्रमाणं च द्विधाऽमीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैवं संक्षेपः परिकीर्त्तितः ॥६७॥

प्रमाणव्यक्तिमाह—प्रमाणञ्चेत्यादिना ।

यद्यप्योलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि; [illegible] वैशेषिकाणां, प्रमाणं

द्विविधमेदपरामर्शे लैङ्गिकमनुमानम् । उपसंहरन्नाह—एवमिति । एवमिति कारसूचनं. यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं. तथाऽप्येवममुना प्रकारेण वैशेषिकमतस्य संक्षेपः कथितः परिकीर्त्तित इति । ६७॥

अन्वयः—अमीषां प्रत्यक्षं तथा लैङ्गिकं द्विधा च प्रमाणम् । एवं वैशेषिकमतस्य संक्षेपः परिकीर्तितः ॥६७॥

सुधा—अमीषाम्=वैशेषिकाणाम । प्रत्यक्षम्=इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । तथा=च, लैङ्गिकम्=अनुमानम्, द्विधा=द्विप्रकारम्, प्रमाणम्=प्रमाकरणम् मन्यते, यद्यपि वैशेषिकदर्शने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं च तथापि श्रीधरमतापेक्षयाऽत्रोभे एव निगदिते । एवम=इत्थम् । वैशेषिकमतस्य=औलूक्यदर्शनस्य । संक्षेपः=संक्षिप्तरूपः । परिकीर्तितः=कथितः । अत्र वैशेषिकदर्शनस्य संक्षेपः कथितः । विस्तरस्तु कणादरचितवैशेषिकदर्शने भाष्येषु च द्रष्टव्यमिति ॥६७॥

पदार्थ—अमीषाम्=वैशेषिक मत वालों का । प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष । तथा=और । लैङ्गिकम्=अनुमान । द्विधा च=दो प्रकार का । प्रमाणम्=प्रमाण माना गया है । एवम्=इस प्रकार । वैशेषिकमतस्य=वैशेषिक दर्शन का । संक्षेपः=संक्षेपवर्णन । परिकीर्तितः किया गया ॥६७॥

भाषाप्रकाश—वैशेषिकदर्शन में दो प्रमाण माने गए हैं—१. प्रत्यक्ष एवं २. अनुमान । इन्द्रियों और विषयों के मेल से संशयरहित, सत्य एवं नियमित ज्ञान प्रत्यक्ष है । चिह्न को देखकर पश्चात्वर्ती अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही अनुमान है । किन्तु श्रीधराचार्य के मत में इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द—ये तीन प्रमाण हैं, किन्तु श्रीधर के मत में दो ही प्रमाण हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थ में वैशेषिक दर्शन का संक्षिप्त वर्णन किया गया । इस दर्शन का विशद वर्णन कणादरचित वैशेषिकसूत्रों व प्रशस्तपाद, रावण आदि भाष्यों तथा व्याख्याग्रन्थों में देखना चाहिए ॥६७॥

[illegible]

जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

षष्ठं दर्शनमाह—जैमिनीयाः पुनरित्यादिना ।

जैमिनिमुनेरमी इति जैमिनीयाः, पत्रपौरादित्वात्तद्धितार्थे [illegible]

मीमांसावादिनो वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डनाय युक्तीः खेटयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे व्यवतिष्ठन्ते । यदाहुः—

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ॥
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्यत्तत्त्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न वीरधीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥

एवं वादिप्रतिवादिनोः—

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तद्वद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्भतैराशङ्क्यनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥

इत्यादिप्रलयकालानिलक्षुभितचरमसलिलराशिकल्लोलमालानुकारिणः परब्रह्माद्वैतसाधकहेतूपन्यासाः प्रोच्छलन्तश्चतुरचमत्कारं जनयन्तः क्व पर्यवस्यन्ति, तास्तु युक्तयः सूत्रकृतानुल्लिखितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नेह प्रपञ्च्यन्तेऽभियुक्तैस्तु खण्डनमहातर्कादवसेयाः ।

पूर्वमीमांसावादिनश्च द्विधा—प्राभाकरा भाट्टाश्च, क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः, अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् ।

ते पुनर्जैमिनीयाः प्राहुः— कथयन्ति, कथमित्याह – सर्वज्ञादिविशेषणः कोऽपि देवो न विद्यते यस्य वचो वचनं मानं प्रमाणं भवेत् । सर्वज्ञादिविशेषण इति । सर्वज्ञादिना गुणेन विशेष्य इति, आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्मकत्वादिविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति यद्वचनं प्रमाणतामनुभवेद्, मानुषतनुत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वाद् दुष्टपुरुषवत्, सर्वज्ञादिगुणविशिष्टपुरुषाद्यभाव इत्यर्थः ।

अथ किङ्करायमाणसुरासुरसेव्यमानताऽऽद्युपलक्षणेन त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकच्छत्रचामरादिविभुत्वान्यथानुपपत्तेश्चास्ति कश्चित् पुरुषविशेषः सर्वज्ञ इति चेत्? न, त्वद्ययोक्तवचनप्रपञ्चोपन्यासैरेव निरस्तत्वाद्, यथा—

अथ यथाऽनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया शोध्यमानस्य निर्मलत्वम्, एवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात् किं न सम्भवेदिति मतिः ? तदपि न —ह्यभ्यासमात्रसाम्ये शुद्धेरपि तदैव नादवन्ध्यम् । यदुक्तम्—

गरुत्मच्छाखामृगयोर्लङ्घनाभ्याससम्भवे ।
समानेऽपि समानत्वं लङ्घनस्य न विद्यते ।।

न च सुतरां चरणशक्तिमानपि षड्गुरखर्वपर्वतशिखामधिरोढुं क्षमः । उक्तञ्च—

दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।।

अथ मा भवतु मानुषस्य सर्वज्ञत्वं, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामस्तु, ते हि देवाः, सम्भवत्यपि तेष्वतिशायिसम्पत् । यदाह कुमारिलः—

अथापि वेदहेतुत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ।।

एतदपि न रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानां सम्भाव्योन्मेषमिति । न च प्रत्यक्षं तत्साधकं —'सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने'ति वचनात् । न चानुमानं—प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः । न चागमः—सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तस्य विवादास्पदत्वात् । न चोपमानं—तदभावादेव, अर्थापत्तिरपि न—सर्वज्ञसाधकस्यान्यथाऽनुपपन्नलिङ्गस्यादर्शनाद्, यदि परमभावप्रमाणगोचरः सर्वज्ञ इति स्थितम्—

प्रयोगश्चात्र—नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ।।६८।।

अन्वयः—सर्वज्ञादिविशेषणः कोऽपि देवो न विद्यते यस्य मानं वचो भवेत् पुनः जैमिनीयाः प्राहुः ।।६८।।

सुधा—सर्वज्ञादिविशेषणः—सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः । सर्वज्ञादिना गुणेन विशिष्य इति आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्मकत्वादिविशिष्टः, कोऽपि=कश्चिदपि । देवः=देवता, न विद्यते=नास्ति, यस्य=देवस्य, वचः=वचनं उपदेशः, मानम्=प्रमाणम्, भवेत्=अनुभवेत्, मानुषतनुत्वात् सर्वज्ञादिगुणविशिष्टपुरुषाद्यभाव इत्यर्थः । पुनः=पुनरेवम्, जैमिनीयाः—जैमिनिमुनेरमी जैमिनीयाः=पूर्वमीमांसावादिनः, प्राहुः=कथयन्ति ।

उत्तरमीमांसावादिनः वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डनाय युक्तीः खेटयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे व्यवतिष्ठन्ते । तत्र हि सर्वोपनिषदो प्रमाणवचनम् । वेदव्यासनिर्मितानि ब्रह्मसूत्राणि । बादरायणब्रह्मसूत्राणां बहवः भाष्यकाराः आचार्याः वेदान्तदर्शनं समलंकुर्वन्ति । यदाहुः—

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ।।
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।।
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न वीरधीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु ।।

पूर्वमीमांसावादिनश्च द्विधा—प्राभाकरा भाट्टाश्च, क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः, अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुपदिष्टवान् । तेषां मते नास्ति सर्वज्ञः देवः प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात् शशकशृङ्गवदिति । यथाहि—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।।६८।।

पदार्थ—सर्वज्ञादिविशेषणः=सर्वज्ञादि की विशेषता वाला । कोऽपि=कोई भी । देवः=देवता । न विद्यते=नहीं है । यस्य=जिसकी । वचः=वाणी । मानम्=प्रमाण । भवेत्=माना जाय । पुनः=इस प्रकार । जैमिनीयाः=पूर्वमीमांसक । प्राहुः=कहते हैं । मीमांसक के मत में कोई भी देवता व मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता, अतः उसकी वाणी को मान करके प्रमाण नहीं माना जा सकता ।।६८।।

भाषाप्रकाश—पूर्वमीमांसा के कर्ता महर्षि जैमिनि हैं, अतः इसे जैमिनीय दर्शन भी कहते हैं । वेदप्रतिपादित धर्म व दर्शन की मीमांसा इस शास्त्र में की गई है । वेदों के धर्म व कर्मकाण्ड का विस्तृत विवेचन करने के कारण इसे पूर्वमीमांसा कहा जाता है । वेद में प्रतिपादित ज्ञानकाण्ड व अध्यात्म विज्ञान की मीमांसा महर्षि वेदव्यास ने वेदान्त दर्शन में की है, अतः उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं । दोनों ही शास्त्रों में वेदमन्त्र व श्रुतियाँ ही प्रमाण मानी गई हैं । पूर्वमीमांसा में कर्मवाद है और उत्तरमीमांसा में ब्रह्मवाद । वैदिक ज्ञानकाण्ड व अध्यात्मविज्ञान की प्रतिपादक श्रुतियाँ, आरण्यक, उपनिषदसाहित्य उत्तरमीमांसा के आधारभूत ग्रन्थ हैं, जिन पर महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है । ब्रह्मसूत्रों पर शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति आदि अनेक आचार्यों

के महत्त्वपूर्ण भाष्य हैं। उत्तरमीमांसा में वैदिक अध्यात्म विज्ञान व ब्रह्मवाद का निरूपण है।

वैदिक धर्म व कर्मकाण्डों की मीमांसा के लिए महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा-सत्रों की रचना की है। इसकी सूत्रसंख्या सभी दर्शनों से अधिक है। इसमें बारह अध्याय हैं, जिनके अन्तर्गत प्रतिपादित विषयों की सूची संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित है—

१. **प्रथम अध्याय**—विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, नामधेयार्थक शब्दराशि की प्रामाणिकता।

२. **द्वितीय अध्याय**—कर्मभेद, उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद, प्रयोग, भेदरूप अर्थ का वर्णन।

३. **तृतीय अध्याय**—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या का विरोधप्रतिपत्ति कर्म, अनारभ्य अधीत, बहु प्रधानोपकारक, प्रयाजादि यजमान चिन्तन।

४. **चतुर्थ अध्याय**—प्रधानप्रयोजकत्व, अप्रधानप्रयोजकत्व, जुहूपर्णतादि का फल, राजसूयगत जघन्य अंग, अक्षदूतादि विचार।

५. **पञ्चम अध्याय**—श्रुति-लिङ्गादि कर्मवृद्धि, अवर्धन, प्राबल्य, दौर्बल्य-विचार।

६. **षष्ठ अध्याय**—अधिकारी, उसका धर्म, द्रव्य, प्रतिनिधि, अर्थलोपन, प्रायश्चित्त, सत्रदेय वह्नि।

७. **सप्तम अध्याय**—प्रत्यक्षवचन अतिदेश में शेष नाम-लिङ्गातिदेश-विचार।

८. **अष्टम अध्याय**—स्पष्ट-अस्पष्ट प्रबल लिंगातिदेश, अपवाद।

९. **नवम अध्याय**—प्रकृति में उपदिष्ट मन्त्र साम संस्कार, कर्म का विकृति में अतिदेश, प्राप्त का प्रकृति, विकृति अग्निसूर्यादि देवता के भेद में प्रकृति-गत, देवतादि विकृति में देवतादिवाचक, पद का अध्याहार रूप निरूपण।

१०. **दशम अध्याय**—बाधहेतु द्वार लोप विस्तार, बाधकारण-कार्य, एकत्व, ग्रहादि साम प्रकीर्ण, नञर्थ।

११. **एकादश अध्याय**—तन्त्र, उपोद्घाततन्त्र, आवापतन्त्र, प्रपंचन, आवापप्रपञ्चन।

१२. **द्वादश अध्याय**—प्रसंगतन्त्रनिर्णय, समुच्चयविचार, विकल्प-विचार।

जैमिनीय दर्शन में किसी महापुरुष को सर्वज्ञ प्रमाण मान करके उसके वचनों को नहीं माना गया है। इस दर्शन के अनुसार कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता और न ही उसके वचन व उपदेश को "वावावाक्यं प्रमाणम्" माना जा

सकता है। यदि महापुरुषों को सर्वज्ञ मान करके उनके वचनों को प्रमाण मान लिया जाय तो संसार में अनेक सर्वज्ञ झूठे कपोलकल्पित देवता बन कर मिथ्यावाद की सृष्टि करके नाना प्रकार के मत, सम्प्रदाय बना करके धर्म व ज्ञान के पथ को कण्टकाकीर्ण बना देंगे। मनुष्य के लिए स्वतः सर्वज्ञ हो जाना असंभव है; अतः किसी सर्वज्ञ देव की कल्पना तथा उसके वचनों को धर्म-निर्णय में प्रमाण मानना घोर अन्धविश्वास व अज्ञान है। शरीरधारी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। आज मनुष्यों को सर्वज्ञ मान करके अनेक मत-मतान्तर चल पड़े हैं; जिनसे सम्प्रदाय, अन्धविश्वास व अज्ञान का प्रसार हुआ है एवं धर्म को स्वार्थपूर्ति का साधन बना करके धर्मविज्ञान को दूषित व कलंकित करते हुए मानवता के विरुद्ध धर्म का ढोंग व स्वांग रचा गया है ॥६८॥

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥

अथ कथं यथाऽवस्थिततत्त्वनिर्णयः? इत्याह—**तस्मादतीन्द्रियार्थानामिति।**

तस्मात्प्रामाणिकपुरुषाभावादतीन्द्रियार्थानां चक्षुरगोचरपदार्थानां साक्षाद् द्रष्टुर्ज्ञात्रादेः पुरुषस्याभावाद् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथार्थतत्त्वविनिर्णयो यथाऽवस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं 'भवती'त्यध्याहारः, अपौरुषेयत्वं च वेदानाम्—

अपाणिपादो ह्यमनोगृहीतः पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' ॥
—श्वेता० उ० ॥३॥१९

इत्यादिभावनया रागद्वेषादिदोषतिरस्कारपूर्वकं भावनीयमिति ॥६९॥

अन्वयः—तस्मात् अतीन्द्रियार्थानां साक्षात् द्रष्टुः अभावतः, नित्येभ्यः वेदवाक्येभ्यः यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥

सुधा—तस्मात्=प्रामाणिकपुरुषाभावात्। अतीन्द्रियार्थानाम्=चक्षुरगोचर-पदार्थानाम् अध्यात्मविषयाणाम्। साक्षाद् द्रष्टुः=सर्वज्ञस्य, अभावतः=पुरुषस्याभावात्। नित्येभ्यः=शाश्वतेभ्यः। वेदवाक्येभ्यः=अपौरुषेयवेदवचनेभ्यः। यथार्थत्व-विनिश्चयः=यथाऽवस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपनिर्णयः भवतीति ॥६९॥

पदार्थ—तस्मात्=प्रामाणिक पुरुष के न मानने पर। अतीन्द्रियार्थानाम्=परोक्ष विषयों का। साक्षात् द्रष्टुः=साक्षात् देखने वाले सर्वज्ञ पुरुष का।

अभावतः=अभाव होने के कारण । नित्येभ्यः=सदा नित्य रहने वाले । वेदवाक्येभ्यः=वेदवचनों से । यथार्थत्वविनिश्चयः=पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है । मीमांसा में किसी पुरुष के वचन को प्रमाण न मान करके वेदवचन को प्रमाण माना गया है ।।६९।।

भाषाप्रकाश—जैमिनीय दर्शन में ऐसे किसी सर्वज्ञ पुरुष को नहीं माना गया है, जिसका उपदेश प्रमाण माना जाय । अब प्रश्न यह होता है कि तब तत्त्वनिर्णय व तत्त्वज्ञान कैसे होगा ? ऐसे गूढ आध्यात्मिक विषय, जिनका भौतिक इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं हो सकता, उनका साक्षात्कार करने वाला जब कोई व्यक्ति नहीं माना जाता तब तत्त्वज्ञान व तत्त्वनिर्णय कैसे होगा ? परोक्ष विषयों का ज्ञान कैसे होगा ? और धर्म-अधर्म का विवेक कैसे होगा ? इस समस्या का समाधान मीमांसाशास्त्र में यह दिया गया है कि नित्य वेदवाक्यों के द्वारा तत्त्वनिर्णय, तत्त्वज्ञान, अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार व धर्माधर्म का विवेक किया जा सकता है । वेद अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान हैं । वे किसी मनुष्य की बुद्धि से कल्पित नहीं हैं और न ही किसी के उपदेशमात्र हैं, अपितु वेद नित्य शाश्वत ईश्वरीय वाणी हैं; जिनका अक्षरशः मन्त्रशः अवतार ऋषियों के हृदयों में हुआ है । उन पर अनेक ऋषियों ने खोज व अनुसन्धान किया है । विभिन्न विषयों का देवताओं के आधार पर ऋषियों ने वेदवाणी व अर्थ का साक्षात्कार किया हैं । अतः वेदमन्त्रों के आधार पर ही अतीन्द्रिय विषयों एवं धर्म व अधर्म का निर्णय किया जा सकता है । वेदों में किसी महापुरुष को सर्वज्ञ मान करके व्यक्तिपूजा नहीं की गई है, अपितु सभी विषयों पर अनुसन्धान व ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है ।

वेदमन्त्र विज्ञान के सत्य सिद्धान्तों की भाँति सार्वभौम हैं । किसी व्यक्ति, जाति, देश, काल या इतिहास से परिच्छिन्न नहीं हैं ।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि वेद अपौरुषेय एवं ईश्वरीय ज्ञान हैं ? अन्य सम्प्रदाय वाले भी तो अपने धर्मग्रन्थ को अपौरुषेय व ईश्वरीय ज्ञान ही बतलाते हैं ।

उत्तर—वेदों में अपौरुषेय ज्ञान के लक्षण पाए जाते हैं । अपौरुषेय व ईश्वरीय ज्ञान वही हो सकता है, जिसमें निम्नलिखित लक्षण हों—

१. जिनकी शब्दरचना, वाक्यविन्यास मानवशक्ति से परे हो । किसी व्यक्तिविशेष के लेखन, चिन्तन, काव्य, वाक्यरचना से परे हो ।

२. जिसका ज्ञान वैज्ञानिक सिद्धान्तों की भाँति सार्वभौम हो, तर्क की कसौटी पर खरा उतरे एवं जिस पर अनुसन्धान करके उसका विकास किया जा सके । अनुसन्धान करने पर भी जो खोज का विषय बना रहे, जिसकी कोई सीमा न बन सके ।

३. जो किसी देश-काल-जाति-वंश या इतिहास से सम्बद्ध व सीमित न हो, जिसमें सम्प्रदाय व वर्गवाद न हो ।

४. जिसमें समस्त मानवसमुदाय के लिए बिना किसी भेदभाव के प्रेरणा विद्यमान हो, किसी प्रकार का पक्षपात न किया गया हो ।

५. जिसमें किसी प्रकार का व्यक्तिगत, जातिगत, राष्ट्रीय व मानवीय स्वार्थ, अन्धविश्वास, दम्भ, पाखण्ड की बातें न हों, सभी ज्ञान व सिद्धान्त अटल हों, संशयरहित हों ।

६. जो किसी व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित न हो, किसी व्यक्ति को सर्वज्ञ ईश्वर अथवा ईश्वर का दूत मान करके जिसमें व्यक्तिपूजा न की गई हो ।

७. जिसका विकास विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुसन्धान व तत्त्वचिन्तन तर्कनिर्णय द्वारा किया गया हो, जो वैज्ञानिक व आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन यथार्थ रूप में करता हो ।।६९।।

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ।।७०।।

अथ यथाऽवस्थितार्थव्यवस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह—अत एवेत्यादिना ।

यतो हेतोर्वेदाभिहितानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः, अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नतो यत्नाद्वेदपाठः कार्यः, ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदास्तेषां पाठः कण्ठपीठलुठत्पाठप्रतिष्ठा, नानुश्रवणमात्रेण सम्यगवबोधस्थिरता, ततोऽनन्तरं साधनीयपुण्योपचयहेतुर्धर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा कर्त्तव्या विधेया, वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ।।७०।।

अन्वयः—अत एव पुरा प्रयत्नतः वेदपाठः कार्यः । ततो धर्मसाधनी धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या ।।७०।।

सुधा—अतएव=एतस्मादेव कारणात् । पुरा=प्राक् । प्रयत्नतः=यत्नात् । वेदपाठः=ऋग्यजुःसामाथर्वणो वेदास्तेषां पाठः=पाठप्रतिष्ठा । कार्यः=सम्पादनीया, ततः=तदनन्तरम् । धर्मसाधनी—धारणात् धर्मः, तं साधयति इति धर्मबोधिनी । धर्मस्य=वेदाभिहितस्य । जिज्ञासा=ज्ञातुमिच्छा। कार्या=विधेया ।।७०।।

पदार्थ—अतएव=अतः । पुरा=पहले । वेदपाठः=वेद का पाठ व अध्ययन । प्रयत्नतः=प्रयत्नपूर्वक । कार्यः=करना चाहिए । ततः=इसके बाद । धर्मसाधनी=धर्म को सिद्ध करनेवाली । धर्मस्य=धर्म की । जिज्ञासा=जानने की आकांक्षा । कर्तव्या=करनी चाहिए । सर्वप्रथम वेद का पाठ व अध्ययन करना चाहिए, उसके पश्चात्

धर्म के स्वरूप को जानने के लिए धर्म, अधर्म-कर्तव्य अकर्तव्य के विवेक के लिए धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। जानने की विशेष अभिलाषा व आकांक्षा को जिज्ञासा कहते हैं ॥७०॥

भाषाप्रकाश—वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। वे स्वतः प्रमाण हैं। अतः सबसे पहले वेदों का पाठ व अध्ययन करना चाहिए; उसके पश्चात् धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानने व उसका साक्षात्कार करने की जिज्ञासा करनी चाहिए। किसी तत्त्व की विशेष जानकारी व साक्षात्कार की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं। जिज्ञासा ऐसी होनी चाहिए जिससे धर्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सके। वेदों के अध्ययन व पाठ से धर्म के प्रति प्रेरणा जागृत होगी, फिर उसकी जिज्ञासा होगी। जिज्ञासा होने पर धर्म के स्वरूप का अनुसन्धान व वेदार्थ द्वारा निर्णय होगा, जिससे धर्म के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा।

वेद की ऋचाएँ धर्म की प्रेरणा से ओत-पोत हैं; उनमें मानवधर्म, विज्ञान भरा पड़ा है। वेद में व्यक्तिविशेष को ईश्वर का पुत्र मान करके उसका महत्त्व नहीं बढ़ाया गया है; अपितु सभी मनुष्यों को ईश्वर की सन्तान माना गया है—"अमृतस्य वै पुत्राः"। उनके पाठ करने से धर्म की प्रेरणा मिलती है। उनका मनन-चिन्तन करने से धर्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान व साक्षात्कार होता है।

प्रश्न—वेदों का पाठ करने से धर्म का ज्ञान हो ही जाना चाहिए, फिर धर्म की जिज्ञासा क्यों?

उत्तर किसी ग्रन्थ के पाठमात्र से उसके विषयों की जानकारी नहीं हो जाती, अपितु उसके विषयों की जिज्ञासा होती है। अतः वेदपाठ से जिज्ञासा होगी और वेदमन्त्रों के अध्ययन-मनन से धर्म का ज्ञान होगा ॥७०॥

नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति।
प्रवर्त्तकं वचः प्राहुः स्वः कामोऽग्निं यजेद्यथा ॥७१॥

वेदोक्तधर्मोपदेशमेवाह—**नोदनालक्षण इत्यादिना।**

(नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षणो धर्मः,) तत्स्वरूपमेव सूत्रकृदाह—तु पुनर्नोदनां क्रियां प्रवर्त्तकं वचः प्राहुः, वेदोक्तस्वर्गादिसाधकाम्नायस्य क्रियाप्रवर्त्तकं वचनं नोदनामाहुरित्यर्थः, शिष्यानुकम्पया तत्सूत्रेणैव दृष्टान्तयन्नाह—**स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा।** यथा येन प्रकारेण स्वःकामः स्वर्गाभिलाषी जनोऽग्नियजेद् अग्निकार्यं कुर्यात्, यथाऽहुस्तत्सूत्रम्—अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति ॥७१॥

अन्वयः—नोदनालक्षणः धर्मः। नोदना तु क्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः प्राहुः यथा स्वः कामः अग्निं यजेत् ॥७१॥

सुधा—नोदना=चोदना, लक्षणः=लक्ष्यते अनेनेति। धर्मः=धार्यतेति धर्मः, नोदनैव लक्षणं यस्य स धर्मः। नोदना तु क्रियां प्रति=स्वर्गादिसाधकं कर्मकलापं प्रति, प्रवर्तकम्=नियोजकम्। वचः=वचनम्, प्राहुः=आहुरित्यर्थः। यथा=उदाहरणार्थम्। स्वः=स्वर्गः, कामः=अभिलाषी, यजेत्=अग्निहोत्रं कुर्यात्। "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" ॥७१॥

पदार्थ—नोदना=प्रेरणा। लक्षणम्=लक्षण वाला। धर्मः=धर्म कहलाता है। नोदना तु=नोदना। क्रियाम्=वेदोक्त कर्म के। प्रति=विषयक। वचः=वचन को। प्राहुः=कहा गया है। यथा=जैसे। स्वः काम=स्वर्ग का इच्छुक। यजेत्=यज्ञ करे ॥७१॥

भाषाप्रकाश—वेदों में स्वर्गादिसाधक कर्मों के प्रति जो आदेश व वचन है, जिससे उन कर्मों की प्रेरणा मिलती है उसी को धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ वेद में कहा गया है कि जो स्वर्ग की कामना करे उसे अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए। इस वाक्य से अग्निहोत्र का आदेश व प्रेरणा मिलती है। अतः वेद का यह वाक्य नोदना कहलाता है। धर्म का लक्षण नोदना है। वेदों में शुभ कर्मों का विधान ही धर्मवाक्य है।

मीमांसक वैदिक वाक्य व आदेश को धर्म में प्रमाण मानते हैं। नोदनाजन्य प्रमा का विषय धर्म है। जो अनर्थ का हेतु है वह अधर्म है।

नोदना से जिस धर्म का ज्ञान होता है वह भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म आदि सभी अर्थों के बोधन में समर्थ है। कोई प्रमाण व इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान का बोध कराने में समर्थ नहीं हैं।

वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनका वाक्य ही धर्म का बोध कराने में समर्थ है। धर्म के विषय में वेद ही प्रमाण हैं। वेदों से भिन्न मनुष्य व दैववाक्य प्रमाण नहीं हो सकते ॥७१॥

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥

प्रमाणान्याह—**प्रत्यक्षमनुमानमित्यादिना।**

जैमिनेः पूर्ववेदान्तवादिनः, षट् प्रमाणानि ज्ञेयानीति सम्बन्धः, यद्यपि प्राभाकराणां मते पञ्च प्रमाणानि, भाट्टानामेव षट्, तथाऽप्यत्र ग्रन्थकृत्सामान्यतः षट्सङ्ख्यामाचष्टे। प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव ॥७२॥

अन्वयः—प्रत्यक्षम्, अनुमानम् च, उपमया सह शब्दः, अर्थापत्तिः, अभावः [illegible]

सुधा—प्रत्यक्षम्=इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् ज्ञानमिति। अनुमानम्=लिंगादिजन्यम्। च=एव, उपमया=सादृश्यज्ञानेन, सह=सार्धम्, शब्दः=वैदिकः आदेशः च=एव, अर्थापत्तिः=दृष्टार्थानुपपत्त्या कस्याप्यर्थस्य कल्पना, अभावः=वस्तुनोऽभावरूपस्य वस्तुसत्तावबोधार्थं प्रामाणिकपथावतारणम् तदर्थं प्रमाणम्, च=एव, जैमिनेः=मीमांसादर्शने षट्प्रमाणानि ज्ञेयानीति ॥७२॥

पदार्थ—प्रत्यक्षम्=इन्द्रियों और विषयों के मेल से उत्पन्न। अनुमानम्=चिह्नमात्र देख करके जान लेना। च=और। उपमया सह=उपमान प्रमाण के सहित। शब्दः=वेदवाक्य आप्तवचन। च=और। अर्थापत्तिः=जो प्रत्यक्ष द्वारा न जाना जाय किन्तु वेदवाक्य से अर्थ को खींच करके यथार्थ विषय को जान लेना। च=और। अभावः=अभाव प्रमाण। जैमिनेः=जैमिनि मत में। षट् प्रमाणानि=छः प्रमाण माने गए हैं ॥७२॥

भाषाप्रकाश—जैमिनीय दर्शन में छः प्रमाण माने गए हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान ३. उपमान, ४. शब्द, ५. अर्थापत्ति और ६. अभाव। न्यायशास्त्र में प्रथम चार प्रमाण ही माने गए हैं, लेकिन मीमांसा में अर्थापत्ति और अभाव दो प्रमाण अधिक माने गए हैं। मीमांसक प्रामाण्य स्वतः एवं अप्रामाण्य परतः मानते हैं। मीमांसक का मत है कि यदि ज्ञान स्वतः प्रामाण्य स्वतः निश्चय करने में असमर्थ है तो जगत् में निश्चय का अत्यन्ताभाव हो जायगा। जो स्वतः निश्चित नहीं है वह परतः कैसे निश्चित हो सकता है? अतः कहीं न कहीं तो स्वतः प्रामाण्य मानना ही पड़ेगा।

सभी ज्ञान स्वयं प्रकाशित हैं। अतः स्वतः प्रामाण्य मानना ही उचित है। अब उन सभी छः प्रमाणों का लक्षण व व्याख्या आगे की जायगी ॥७२॥

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां मतिः।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥७३॥

निरुक्तमाह—तत्रेत्यादिना।

(तत्र प्रमाणषट्के, अक्षाणामिन्द्रियाणां सम्प्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे; सतामनुपहतेन्द्रियाणां मतिर्बुद्धिरिदमित्यवबोधः, तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं 'भवती'-त्यध्याहारः) यत्तदावनुक्तावप्यर्थसम्बद्धौ ज्ञेयौ, सतामिति—विदुषामदुष्टेन्द्रियार्थः. एतावता मरुमरीचिकायां जलभ्रमः, शुक्तौ रजतभ्रमश्चेन्द्रियार्थसम्प्रयोगजोऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं तत्प्रमाणकोटिमधिशेते। अनुमानमाह—'आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः'। आत्मा यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमित्यर्थः। अनुमानलैङ्गिकयोः शब्दाभेदेऽप्यनुमीयत इत्यनुमानं, लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकमिति व्युत्पत्तिभेदाद् भेदो ज्ञेयः, उभयशब्दकथनं तु बालावबोधार्थमेवेति ॥७३॥

अन्वयः—तत्र अक्षाणां संप्रयोगे सतां मतिः प्रत्यक्षम्। पुनः आत्मनः बुद्धिजन्म इति लैंगिकं अनुमानम् ॥७३॥

सुधा—तत्र=प्रमाणेषु। अक्षाणाम्=इन्द्रियाणाम्। संप्रयोगे=पदार्थैः सह संयोगे। सताम्=अनुपहतेन्द्रियाणाम्। मतिः=बुद्धिः। प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्षं प्रमाणम्। पुनः=पुनरपि। द्वितीयम् आत्मनः=जीवस्य। बुद्धिजन्मेति=ज्ञानजन्मेति। लैंगिकम्=लिंगाज्जातं लैङ्गिकम् ज्ञानम्। आत्मा यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमिति अनुमीयत इत्यनुमानम् ॥७३॥

पदार्थ—तत्र=प्रमाणों में। अक्षाणाम्=इन्द्रियों का। संप्रयोगे=विषयों के साथ मेल होने पर। सताम्=स्वस्थ एवं भ्रमरहित इन्द्रियों द्वारा। मतिः=जो ज्ञान उत्पन्न हो। प्रत्यक्षम्=वह प्रत्यक्ष कहलाता है। पुनः=फिर। आत्मनः=आत्मा का स्वयं। बुद्धिजन्म=विचार द्वारा जो उत्पन्न हो। लैंगिकम्=लिङ्ग चिह्न को देखकर वस्तु का ज्ञान होना। अनुमानम्=अनुमान प्रमाण है ॥७३॥

भाषाप्रकाश—इन्द्रियों का बाह्य विषयों के साथ संयोग होने पर स्वस्थ इन्द्रियों द्वारा जो यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यदि इन्द्रिय में दोष है अथवा असमर्थता है तो बाहरी विषयों के साथ संयोग होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मृगमरीचिका को देख करके इन्द्रिय-विषय संयोग होने पर भी जल का भ्रम हो ही जाता है, सीप को देख कर रजत का भ्रम हो जाता है, पीलिया रोग वाले को सारा संसार पीला ही दीख पड़ता है, अतः प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों का स्वस्थ रहना एवं भ्रमरहित होना आवश्यक है।

किसी चिह्न को देख करके अपनी बुद्धि द्वारा ही स्वतः वस्तु का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। लिंग और वस्तु के साहचर्य का प्रत्यक्ष पहले हुआ था, अब केवल लिंग को देख करके स्वयं विचार द्वारा वस्तु का ज्ञान किया गया, इसलिए उसे अनुमान कहते हैं। रसोईघर में अग्नि देखा और उसके साथ धुआँ भी देखा, फिर निश्चय किया कि अग्नि के रहने पर धुआँ होता है। पश्चात् किसी पर्वत पर गया, वहाँ केवल धुआँ देखा, अग्नि नहीं देखी, फिर भी धुआँ रूप लिंग को देख करके स्वयं विचार हुआ कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि भी होती है, क्योंकि रसोईघर में अग्नि और धुआँ साथ देखा था। उसी प्रकार यहाँ इस पर्वत में भी धुआँ है, अग्नि और धुआँ का साहचर्य नियम है, अतः पर्वत में अग्नि है। इस प्रकार पर्वत में अग्नि का ज्ञान अनुमान द्वारा हुआ ॥७३॥

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं प्रकीर्त्तितम्।

(शाब्दमागमप्रमाणं शाश्वतवेदोत्थं, शाश्वतान्नित्यावेदाज्जातम्, आगमप्रमाणमित्यर्थः। शाश्वतत्वं च वेदानामपौरुषेयत्वादेव।) उपमानमाह—यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं प्रमाणं प्रकीर्त्तितं कथितम्। (यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरोऽप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरिकं प्राह—'यथा गौस्तथा गवय' इति, भोः! खुरककुदलाङ्गूलसास्नाऽऽदिमन्तं पदार्थं गामिति जानासि; गवयोऽपि तथास्वरूपो ज्ञेय इत्युपमानम्।) अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसम्बन्धार्थमध्याहार्यौ ॥७४॥

अन्वयः—शाश्वतवेदोत्थम् शाब्दम्। प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य भाजनम् उपमानं प्रकीर्तितम् ॥७४॥

सुधा—शाश्वतात्=नित्यात्। वेदोत्थम्=वेदाज्जातम्, शाब्दम्=शब्दप्रमाणम्, आगमप्रमाणमित्यर्थः। शाश्वतत्वं तु वेदानामपौरुषेयत्वात् प्रसिद्धार्थस्य=प्रतीतपदार्थस्य, साधर्म्यात्=धर्मसाम्यज्ञानात्, अप्रसिद्धस्य=अविज्ञातस्य, ज्ञेयपदार्थस्य, भाजनम्=साधनम्, उपमानम्=उपमानप्रमाणम्, प्रकीर्तितम्=कथितम्, यथा गोसदृशः गवयः इति परामर्शात् गोलक्षणसाधर्म्यात् गवयज्ञानमिति ॥७४॥

पदार्थ—शाश्वत=नित्य। वेदोत्थम्=वेद से प्राप्त होने वाला ज्ञान। शाब्दम्=शब्द प्रमाण कहलाता है। प्रसिद्धार्थस्य=जाने हुए वस्तु के। साधर्म्यात्=समान धर्म के लक्षण से। अप्रसिद्धस्य=न जाने हुए वस्तु का। भाजनम्=जानना, उसे सिद्ध करना। उपमानम्=उपमान प्रमाण। प्रकीर्तितम्=कहा गया है ॥७४॥

भाषाभाष—तीसरा प्रमाण शब्दप्रमाण है और चौथा है—उपमान प्रमाण। नित्य एवं अपौरुषेय वेदों का वाक्य शब्दप्रमाण है। अन्य दर्शनों में आप्तवचन को शब्दप्रमाण माना गया है, किन्तु मीमांसा दर्शन में आप्तवचन शब्दप्रमाण नहीं हैं। अपौरुषेय वेदवाणी को ही आप्तवचन माना गया है और वही शब्द प्रमाण है। वेदों के बिना यथार्थ ज्ञान असंभव है; अतः वेदों के वाक्य ही शब्दप्रमाण हैं। मनुष्यकृत ग्रन्थों व व्यक्तिविशेष के वाक्य शब्दप्रमाण नहीं हैं, अतः मीमांसा दर्शन में आप्तवचन वेदवाक्य ही हैं।

प्रश्न—वेदवाणी के अतिरिक्त देश-विदेश में अनेकों ऋषि, मुनि, महर्षि, दार्शनिक, योगी, सन्त महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने ईश्वर व अध्यात्म-विषयों का साक्षात्कार कर अपनी भाषा में उनका उपदेश दिया है; क्या उनके उपदेश शब्दप्रमाण नहीं हैं?

उत्तर—यह ठीक है कि देश-विदेश में ऋषियों-महर्षियों, मुनियों, योगियों, सन्तों ने उपदेश अपनी भाषाओं में दिए, फिर भी परिणाम क्या हुआ? सारा मानवधर्म व अध्यात्म विज्ञान अनेक मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों में बँट गया और अन्धविश्वास,

द्वेष, दम्भ, पाखण्ड का साम्राज्य हो गया। धर्म के नाम पर असंख्य प्राण वाले वेदी पर चढ़ गए। अत्याचारों से पृथ्वी काँप गई। अपनी-अपनी ढपली और राग से मानवधर्म एवं ईश्वरवाक्य की छीछालेदर हो गई।

यह सब वेदों की जानकारी व प्रचार न होने के कारण हुआ। यदि महापुरुष, सन्त व पैगम्बर वेदों का अध्ययन किये होते तो ऐसी छीछालेदर शायद न मचती। वे भी वेदों का प्रभाव मानते, अपनी भाषाओं में उसकी पुष्टि करते, वैदिक विज्ञान पर शोध व अनुसन्धान करते। वेदों का विरोध न करते और तब विश्व में सारी मानव जाति का एक ही धर्म होता; किन्तु जब हमने वेदों का ज्ञान भुला दिया, वाममार्गी हो गए, वेदविरुद्ध आचरण करना शुरु कर दिया, वेद के नाम पर अनाचार, पापाचार, पाखण्ड करने लगे तो विश्व में अनेक मतों, धर्मों, सम्प्रदायों का जन्म हुआ। अतः वेदविरुद्ध धर्म अमान्य है और वेदानुकूल स्मृतियाँ, धर्म, उपदेश, दर्शन ही मान्य हैं।

जो वस्तु जानी हुई है उसे प्रसिद्ध वस्तु कहते हैं। उसके लक्षण से किसी अज्ञात वस्तु को जानना ही उपमान प्रमाण है। जैसे कोई मनुष्य गाय को देखा है और जानता है किन्तु नीलगाय को नहीं जानता। किसी व्यक्ति से उसने पूछा कि नीलगाय कैसा है तो उसने उत्तर दिया कि "गोसदृशो गवयः" अर्थात् जो गाय के समान हो उसे नीलगाय कहते हैं और फिर गाय के लक्षण के आधार पर नीलगाय के लक्षण का ज्ञान करना उपमान प्रमाण द्वारा होता है। किसी अन्य वस्तु की उपमा से अन्य वस्तु की जानकारी उपमान द्वारा होती है ॥७४॥

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥७५॥

अर्थापत्तिमाह—दृष्टार्थानुपपत्त्येत्यादिना।

असौ पुनरर्थापत्तिरुदाहृता कथिता। (अर्थापतिप्रमाणं प्रोक्तमित्यर्थः।) यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्यार्थस्य कल्पना क्रियते सङ्घटना विधीयते, कया दृष्टार्थानुपपत्त्या दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्यो योऽर्थो देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्याऽघटमानतयाऽन्यथाऽनुपपत्तेः, यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या रात्राववश्यं भुङ्क्त इत्यर्थ इत्यत्र, दृष्टं विना भोजनं पीनत्वं दुर्घटं, दिवा च न भुङ्क्तेऽतो रात्राववश्यमदृष्टं भोजनं ज्ञापयतीत्यर्थापत्तिः प्रमाणम्॥७५॥

अन्वयः—दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्य अपि अर्थस्य कल्पना यद् बलेन क्रियते असौ अर्थापत्तिः उदाहृता ॥७५॥

सुधा—दृष्टार्थानुपपत्त्या—दृष्टः=प्रत्यक्षः, अर्थः=विषयः तस्यानुपपत्त्या, कस्याप्यर्थस्य=कस्यापि विषयस्य, कल्पना=अवधारणा, यत्=यस्य, बलेन=सामर्थ्येन, क्रियते=विधीयते, असौ=प्रमाणम्, अर्थापत्तिरुदाहृता=अर्थापत्तिः कथिता; यथा देवदत्ते पीनत्वादिः ॥७५॥

पदार्थ—दृष्टार्थानुपपत्त्या=प्रत्यक्ष विषयों की सिद्धि न होने पर। कस्यार्थस्य=किसी भी विषय की। कल्पना=अवधारणा—विचार। यद बलेन=जिसके सामर्थ्य से। क्रियते=किया जाता है। असौ=वह। अर्थापत्तिरुदाहृता=अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है ॥७५॥

भाषाप्रकाश—प्रत्यक्ष अर्थ के उपलब्ध न होने पर जिसके बल से बिना देखे हुए विषय की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। यद्यपि विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी उस विषय की कल्पना कर ली जाती है। जैसे देवदत्त मोटा-ताजा है, किन्तु दिन में नहीं खाता। क्योंकि दिन में खाते उसे किसी ने नहीं देखा। जो खाता नहीं वह मोटा-ताजा कैसे रह सकता है? अतः यहाँ अर्थापत्ति के आधार पर निर्णय किया जायगा कि वह रात में अवश्य खाता है। इसी को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं ॥७५॥

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥७६॥

अर्थाभावप्रमाणमाह—प्रमाणपञ्चकमित्यादिना।

यत्र वस्तुरूपेऽभावादौ पदार्थे प्रमाणपञ्चकं पूर्वोक्तं न जायते, तत्राभावप्रमाणता ज्ञेयेति सम्बन्धः। किमर्थमित्याह—वस्तुसत्ताऽवबोधार्थम्। वस्तुनोऽभावरूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतारणं तदर्थं तद्धेतोरित्यर्थः ॥७६

ननु कथमभावस्य प्रामाण्यं, प्रत्यक्षं—तावद्भूतलमेवेदं घटादि न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तुपरिच्छेदः, तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति, किं विषयमाश्रित्याभावप्रामाण्यं स्याद् मुण्डभूतले घटाभावमाश्रित्येति चेद्? मैवम्—घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः। तदुक्तम्—

न तावदिन्द्रियेणैषां नास्तीत्युत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।

इति नास्तितज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य, केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकर्षजत्वेन पञ्चप्रमाणागोचरसञ्चरिष्णुतामनुभवन्नाबालगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं व्यवहारं प्रवर्त्तयति, अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात्केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणव्यपदेशमश्नुत इति सिद्धमभावस्यापि युक्तियुक्ततया प्रामाण्यमिति ॥७६॥

अन्वयः—यत्र वस्तुरूपे प्रमाणपञ्चकं न जायते तत्र वस्तुसत्तावबोधार्थम् अभावप्रमाणता ॥७६॥

सुधा—यत्र वस्तुरूपे=यत्र पदार्थे अभावादौ, प्रमाणपञ्चकम्=पूर्वोक्तं प्रत्यक्षानुमानादिकं प्रमाणम्। न जायते=न गृह्यते। तत्र=तस्मिन् स्थले। वस्तुसत्तावबोधार्थम्=वस्तुतत्त्वज्ञानाय प्रामाणिकपथावतारणार्थम्, अभावः—न भावः इत्यभावः, प्रमाणता=प्रमाणं मन्यते। घटाभाववत् भूतलमित्यत्र घटाभावविशिष्टभूतलस्य परिज्ञानात् घटपदार्थस्य बोधः, अतः तत्र घटसत्तायां घटाभाववैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमेव प्रमाणम्। भूतले यस्य घटस्याभावः तस्य ज्ञाने प्रामाण्यं घटस्यैवास्ति। नास्तिताज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य। अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात्केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणं भवति। अभावस्यापि युक्तितया प्रामाण्यं सिद्धमिति, यथाहि—

न तावदिन्द्रियेणैषां नास्तीत्युत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥७६॥

पदार्थ—यत्र=जहाँ। वस्तुरूपे=वस्तु के स्वरूपज्ञान में। प्रमाणपञ्चकम्=प्रत्यक्षानुमानादि पाँच प्रमाणों से। न जायते=ज्ञान नहीं होता है। तत्र=वहाँ। वस्तुसत्तावबोधार्थम्=वस्तु की सत्ता के ज्ञान के लिए। अभाव=अभाव की। प्रमाणता=प्रामाणिकता होती है अर्थात् अभाव प्रमाण माना जाता है ॥७६॥

भाषाप्रकाश—जब किसी वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमानादि प्रमाणों द्वारा नहीं होता तब उस वस्तु की सत्ता के ज्ञान के लिए अभाव को प्रमाण माना गया है। किसी स्थान पर किसी वस्तु का अभाव ही उस वस्तु की सत्ता को सिद्ध करता है; जैसे कहा कि "घटाभाववत् भूतलम्" अर्थात् यह स्थान घटाभाव वाला है अर्थात् यहाँ पहले घड़ा था, अब नहीं है। यहाँ घटाभाव कहने से ही घट की सत्ता का ज्ञान होता है। इससे ज्ञान होता है कि घटनामक वस्तु यहाँ पहले थी, अब नहीं है। इसीलिए अभाव को भी प्रमाण माना गया है। यहाँ

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्त्तनम् ॥७७॥

उपसंहरन्नाह— **जैमिनीयमतस्यापीति ।**

अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां, जैमिनीयमतस्याप्ययं सङ्क्षेपो निवेदितः कथितः, वक्तव्यस्य बाहुल्याट्टीकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् सङ्क्षेप एव प्रोक्तोऽस्ति ।

अथ सूत्रकृत्सम्मतसङ्क्षेपमुक्त्वा निगमनमाह—एवमिति । एवमित्थम्, आस्तिकवादिनामिह परलोकगतिपुण्यपापास्तिक्यवादिनां बौद्धनैयायिकसाङ्ख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां सङ्क्षेपकीर्त्तनं कृतं, सङ्क्षेपेण वक्तव्यमभिहितमित्यर्थः ॥७७॥

अन्वयः—जैमिनीयमतस्य अपि अयं संक्षेपः निवेदितः । एवं आस्तिकवादानां संक्षेपकीर्तनम् कृतम् ॥७७॥

सुधा—जैमिनीयमतस्य=मीमांसादर्शनस्य, अपि=एव, अयम्=पूर्वोक्तः, संक्षेपः=समासः, निवेदितः=कथितः । एवम्=पूर्वोक्तम् । आस्तिकवादानाम्—अस्त्यात्मा, अस्तीश्वरः, अस्ति परलोकम्, पापपुण्यधर्माधर्मादयः सन्तीति ये मन्यन्ते ते आस्तिकाः=बौद्धजैनन्यायवैशेषिकसांख्यजैमिनीयाः आस्तिकाः, तेषां मतानां, संक्षेपकीर्तनम्=समासेन वर्णनम्, कृतम्=निगदितम् ॥७७॥

पदार्थ—जैमिनीयमतस्य=पूर्वमीमांसा दर्शन का । अपि=भी । अयं=यह । संक्षेपः=संक्षिप्त वर्णन । निवेदितः=किया गया । एवम्=इस प्रकार । आस्तिकवादानाम्=बौद्ध न्याय-सांख्य-जैन-वैशेषिक-मीमांसा रूप आस्तिक मतों का । संक्षेपः=संक्षिप्त । कीर्तनम्=वर्णन । कृतम्=किया गया । पूर्वमीमांसा का संक्षिप्त वर्णन किया गया, इसी प्रकार आस्तिक दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया ॥७७॥

भाषाप्रकाश जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा दर्शन का संक्षिप्त वर्णन किया गया । पूर्वमीमांसा दर्शन का साहित्य अत्यन्त विशाल है, किन्तु ग्रन्थकार ने थोड़े-से श्लोकों में ही उसके सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया । विस्तृत ज्ञान के लिए उसके मौलिक ग्रन्थों को देखना चाहिए । जैमिनि महर्षि का बनाया हुआ पूर्वमीमांसा दर्शनसूत्र इस मत का आदिग्रन्थ है, जिस पर शबरस्वामी का भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व द्रष्टव्य ग्रन्थ है । पूर्वमीमांसासूत्रों पर कुमारिल भट्ट की टीका, बृहती एवं जैमिनीयन्यायमालाविस्तर आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं । सूत्रों के आधार पर इस दर्शन में तीन मत स्थापित हुए हैं—१. भाट्टमत, २. प्राभाकरमत और ३. मुरारिमत । पूर्वमीमांसा दर्शन-ग्रन्थों का परिचय इस पुस्तक में पहले ही [illegible]

इस प्रकार आस्तिक दर्शनों का वर्णन कर दिया गया । बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक व जैमिनीय आस्तिक दर्शन हैं, इन सबका संक्षिप्त निरूपण किया गया । जिसमें आत्मा-परमात्मा, मुक्ति-बन्धन, लोक-परलोक, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि माने गए हैं उसे आस्तिक दर्शन कहते हैं । जिसमें ये सभी न माने जायें वह नास्तिक दर्शन है ।

प्रश्न—न्याय, वैशेषिक और जैमिनीय—यह तीन तो आस्तिक दर्शन हैं, क्योंकि इनमें तो आत्मा-परमात्मा को स्वीकार किया गया है; किन्तु बौद्ध, सांख्य और जैन को क्यों आस्तिक माना जाय ? जबकि उनमें ईश्वर की सत्ता ही नहीं मानी गई है और बौद्ध तो आत्मा को भी नहीं मानते ।

उत्तर—यह समझना कि बौद्ध, सांख्य और जैन नास्तिक दर्शन हैं, बहुत बड़ा भ्रम एवं भयंकर भूल है । यह तीनों ही दर्शन आस्तिक हैं, जो कि इस प्रत्यक्षगोचर लोक से परे सूक्ष्म अध्यात्म सत्ता को स्वीकार करते हैं । यह तीनों ही दर्शन बन्धन, मोक्ष एवं अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान तथा समाधि को मानते हैं, इसलिए आस्तिक हैं । जो केवल प्रत्यक्ष को मान करके लोक की ही सत्ता मानता है उसे नास्तिक कहते हैं, नास्तिक पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, बन्धन-मोक्ष को नहीं मानता । नास्तिक मत केवल चार्वाक है, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा । उपरोक्त सभी दर्शन आस्तिक हैं । केवल ईश्वर को न मानने से वे नास्तिक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें लोक-परलोक, मुक्ति-बन्धन, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य को माना गया है । सांख्य और जैन तो आत्मा को भी मानते हैं । यदि सूक्ष्मता व गम्भीरता से इन दर्शनों का अध्ययन किया जाय तो इनमें भी अप्रत्यक्ष रूप में ईश्वर के सत्ता की मान्यता पायी जाती है, क्योंकि मोक्ष व समाधि—ध्यान तीनों ही दर्शनों में माने गए हैं, जिसके अन्तर्गत परमात्मा की सत्ता का अनुभव पाया जाता है । परमात्मा की सत्ता मोक्ष व समाधि की मान्यता से ही सिद्ध हो जाती है ।

उपरोक्त सभी छः दर्शनों का साहित्य अत्यन्त विशाल है । सबके मौलिक ग्रन्थ हैं और उन पर टीकाएँ व भाष्य भी हैं, जो कि मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त विशेषता-सम्पन्न हैं । उनके सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, जो विभिन्न कालों में विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं । इन सभी दर्शनों का परिचय व सूची पहले ही भाषाप्रकाश में लिखी जा चुकी है; विशेष अध्ययन के लिए तत्सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए ॥७७॥

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

विशेषान्तरमाह—नैयायिकमतादित्यादिना ।

अन्य आचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते दर्शनाधिष्ठात्रेकदैवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति, तेषां मतापेक्षयाऽऽस्तिकवादिनः पञ्चैव ॥७८॥

अन्वयः—अन्ये नैयायिकमतात् वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते। तेषां मते पञ्च एव आस्तिकवादिनः ॥७८॥

सुधा—अन्ये=अपरे आचार्याः। नैयायिकमतात्=अक्षपाददर्शनात्, वैशेषिकैः=काणादैः, सह=सार्द्धम्, भेदम्=पार्थक्यम्, न मन्यन्ते=नाभ्युपगच्छन्ति, दर्शनाधिष्ठात्रैकदैवतत्वात्। तेषाम्=आचार्याणाम्, मते=मतापेक्षया, पञ्च एव=बौद्धं नैयायिकं साङ्ख्यं जैनं जैमिनीयमेव, आस्तिकवादिनः=आस्तिकदर्शनानि सन्ति ॥७८॥

पदार्थ—अन्ये=अन्य आचार्य लोग। नैयायिकमतात्=न्याय दर्शन से। वैशेषिकैः सह=वैशेषिक दर्शन के साथ। भेदम्=भेद। न मन्यन्ते=नहीं मानते हैं। तेषाम्=उन आचार्यों के। मते=मत में। पञ्च एव=न्याय-वैशेषिक को एक मान करके पाँच ही। आस्तिकवादिनः=आस्तिक मत के दर्शन माने गए हैं। कुछ आचार्यों के मत में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में भेद नहीं है, अपितु वह दोनों एक ही हैं; अतः उनके मत में पाँच ही आस्तिक दर्शन हैं ॥७८॥

भाषाप्रकाश—कुछ आचार्य मानते हैं कि न्याय एवं वैशेषिक में कोई भेद नहीं है अतः दोनों को एक ही दर्शन मानना चाहिए; क्योंकि गौतम के न्याय में जिन पदार्थों का सामान्य निरूपण किया गया है उनकी ही विशेष रूप से विवेचना कणाद ने वैशेषिक दर्शन में की है, इसीलिए उसका नाम वैशेषिक पड़ा। अतः दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं, इसलिए दोनों को एक ही मत के अन्तर्गत मानना चाहिए। वैशेषिक एवं न्याय में विशेष मतभेद नहीं है, अतः बहुत से आचार्य दोनों को न्याय के अन्तर्गत ही मानते हैं। दोनों में मात्र व्यावहारिक मतभेद है, पारमार्थिक नहीं। न्यायदर्शन में सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना गया है, जबकि वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष माना गया है। न्याय दर्शन में मोक्ष के लिए अपवर्ग शब्द आया है, जबकि वैशेषिक में निःश्रेयस शब्द आया है। योगाभ्यास, मोक्ष, पदार्थभाव, आत्मा, ईश्वर आदि विषय दोनों में समान हैं। इस प्रकार न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों को एक ही मत का मान लेने पर आस्तिक दर्शन पाँच ही होते हैं और उन दोनों को अलग-अलग मानने पर छः की संख्या होती है, जिनका वर्णन संक्षिप्त रूप में अब तक किया गया है ॥७८॥

षड्दर्शनसङ्ख्या तु पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपात्कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

दर्शनानां षट्सङ्ख्या जगति प्रसिद्धा कथं फलतीत्याह—**षड्दर्शनेत्यादिना।**

ये नैयायिकवैशेषिकयोरेकरूपत्वेनाभेदं मन्यमाना दर्शनपञ्चकमेवाचक्षते, तन्मते षड्दर्शनसङ्ख्या लोकायतमतक्षेपात्पूर्यते। तु पुनरर्थे, किलेति परमाप्ताम्नाये, तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते तत्स्वरूपमुच्यत इति ॥७९॥

अन्वयः—तन्मते किल लोकायतमतक्षेपात् षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते। तेन तन्मतम् कथ्यते ॥७९॥

सुधा—तन्मते किल=ये न्यायवैशेषिकयोरभेदं मन्यन्ते तेषां मते वै। लोकायतमतक्षेपात्=चार्वाकमतसमावेशात्। षष्ठदर्शनसंख्या तु=षष्ठदर्शनसंख्यायाः मान्यता, पूर्यते=क्रियते, तेन=कारणेन। तन्मतम्=लोकायतदर्शनम्। कथ्यते=निरूप्यते ॥७९॥

पदार्थ—तन्मते=जो लोग न्यायवैशेषिक का भेद नहीं मानते हैं उनके मत में। किल=निश्चय करके। लोकायतमतक्षेपात्=चार्वाक मत को सम्मिलित करके। षष्ठदर्शनसंख्या=छः दर्शनों की संख्या। पूर्यते=पूरी की जाती है। तेन=इस कारण से। तन्मतम्=चार्वाकमत को। कथ्यते=आगे कहा जायगा ॥७९॥

भाषाप्रकाश—न्याय और वैशेषिक को एक मान लेने पर पाँच ही दर्शन होते हैं। अतः लोकायत दर्शन को सम्मिलित करने पर षड्दर्शन संख्या पूर्ण होती है, अतः अब लोकायत दर्शन का निरूपण किया जायगा ॥

लोकायतमत चार्वाक दर्शन को कहते हैं। यह मत नास्तिकमत है, जो कि अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। आस्तिक दर्शनों के साथ ही यह मत भी सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। न्याय-सांख्य आदि आस्तिक दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में इस मत का उल्लेख है और इसकी आलोचना भी की गई है। नास्तिक अनीश्वरवादियों में आचार्य बृहस्पति का शिष्य चार्वाक मुख्य है, किन्तु लोकायत मत से केवल चार्वाकमत का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु चार्वाकमत से पहले भी इस मत के संस्थापक अनेक विद्वान हुए हैं और उन सबका मत लोकायत मत कहलाता है। इनमें चार्वाक मुख्य है, अतः इसे चार्वाक दर्शन भी कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि चार्वाक किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है, अपितु "चारु वाक्यमिति चार्वाकः" अर्थात् जिस मत की बातें मन को अच्छी लगें, विषय-वासनाओं व भौतिक प्रवृत्तियों की ओर मन जाय—वह चार्वाक है।

चार्वाक दर्शन इस समय व्यवस्थित ग्रन्थाकार में उपलब्ध नहीं है, बल्कि केवल आस्तिक दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में इसके फुटकर श्लोक ही उपलब्ध होते हैं। माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ में सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन का ही उल्लेख किया

है कि परमाणु ही उपादान कारण है, जो कि नित्य है। तो फिर यह अनुमान कैसे किया जाय कि जगत् का मूल कारण अव्यक्त प्रधान है ?

उत्तर—अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः नास्तिक मत खण्डित हो जाता है। महर्षि कपिल ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि 'नासतः स्यान्नृशृङ्गवत्' मनुष्य के सींग नहीं होती। यदि कोई यह कहे कि मनुष्य को सींग है तो यह असम्भव है, उसी प्रकार असत् तो हो ही नहीं सकता।

'नासदुत्पादः नृशृङ्गवत्'—मनुष्य के सींग की भाँति ही अभाव से भाव की उत्पत्ति भी असम्भव है। 'नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः' अर्थात् बिना किसी वस्तु के उसकी सिद्धि भी नहीं देखी जाती; अतः यह जगत, जिसका हम साक्षात्कार करते हैं, इसका मूल उपादान द्रव्य कोई एक अवश्य है, क्योंकि यदि हम कहें कि कर्म ही से संसार की उत्पत्ति होती है तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'न कर्मणः उपादानत्वायोगात्' अर्थात् कर्म उपादान हो ही नहीं सकता। अतः 'नास्तिकमत स्वयमेव खण्डित हो जाता है।

वैज्ञानिक अनेक तत्त्वों को मूल उपादान मानते हैं, किन्तु जब मूल तत्त्वों का भी विश्लेषण करते हैं तो उनका भी खण्ड-खण्ड हो जाता है और वे कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः वैज्ञानिक विखण्डन प्रक्रिया से भी यह सिद्ध हो जाता है कि सभी तत्त्वों का एक मूल उपादान कारण है, जो कि मूल प्रकृति ही है। न्याय-वैशेषिक ने परमाणु को कारण माना है और उसे नित्य कहा है। यद्यपि वह जगत के तत्त्वों का कारण अवश्य है और सृष्टि की आयुपर्यन्त नित्य भी है, परन्तु उनका विखण्डन करने से वे कार्य प्रतीत होते हैं और उनके भी पारमार्थिक नित्य नहीं सिद्ध होते, क्योंकि सारे संसार का मूल उपादान एक है और वह परिच्छिन्न (सीमित) नहीं हो सकता, क्योंकि "परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्" अर्थात् जो सबका उपादान है वह परिच्छिन्न हो ही नहीं सकता।

३ **शब्द प्रमाण** – आप्त पुरुष, जिन्होंने योगाभ्यास द्वारा अव्यक्त प्रधान का साक्षात्कार कर लिया है, उनके वचन भी मूल प्रकृति की सिद्धि में प्रमाण हैं। वेदों में भी कहा है कि—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजाः सृजमानां समन्ताद्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

वह मूलप्रकृति नित्य है; लोहित (रजोगुण), शुक्ल (सतोगुण) एवं कृष्ण (तमोगुण) स्वभाव वाली है एवं बहुत से प्राणियों को उत्पन्न करनेवाली है। भोगी इसका भोग करते हैं और ज्ञानी एवं योगी जन इसे भोगकर छोड़ देते हैं॥३६॥

ततः सञ्जायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते।
अहङ्कारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः॥३७॥

अनेन दुःखत्रयेणाभिहतस्य प्राणिनस्त्वजिज्ञासोत्पद्यतेऽतस्तान्येव तत्त्वान्याह — तत इत्यादिना।

ततो गुणत्रयाद् बुद्धिः संजायते यका बुद्धिर्महानित्युच्यते महानिति-शब्देन कीर्त्यत इत्यर्थः। एवमेतन्नान्यथा, गौरयं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येवं निश्चयस्तेन पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायःसा बुद्धिरिति, तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि तद्दर्शनविश्रुतानि, यदाह—धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीत्यष्टौ, ततो बुद्धेरहंकारः; स चाभिमानात्मको यथा 'अहं शब्दे, अहं रूपे, अहं रसे, अहं स्पर्शे, अहं गन्धे, अहं स्वामी, अहम् ईश्वरः, असौ मया हतः, अहं त्वा हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपस्तस्मादहंकारात्षोडशको गणो 'जायत' इत्यध्याहारोऽस्तिभवतीत्यादिवत्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च भूतानि, षोडशको गणः। तथाऽऽह ईश्वरकृष्णः—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ ३७॥ इति

सुधा—अथ विकृतिमाह—ततः सञ्जायत इत्यादिना।

अन्वय—ततः बुद्धिः संजायते यका महान् इति उच्यते। ततः अपि अहंकारः स्यात् तस्मात् षोडशकः गणः॥३७॥

व्याख्या—ततः=सत्त्वरजतमगुणत्रयात्। बुद्धिः=अध्यवसायो बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमिति, संजायते=उत्पद्यते। यका=बुद्धिः, महान्=महानिति शब्देन, उच्यते=कथ्यते। पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायः सा बुद्धिरिति। तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यरूपाणि चत्वारि तामसानि; ततः=बुद्धेः, अपि=एव, अहंकारः=अभिमानः, यथा अहं शब्दे, अहं, रूपे, अहं रसे, अहं स्पर्शे अहं गन्धे अहं स्वामी, असौ मया हतः, अहं त्वा हनिष्यामि। तस्मात्=अहंकारात् अभिमानाद्वा, षोडशकः गणः=षोडशकः विकारः श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी नासिका रसनेति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पायूपस्थहस्तपादवाक् एवं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशकं मनः पृथ्वीजलतेजवायुराकाशमिति पञ्च भूतानि षोडशको गणः, तथाऽऽह सांख्यकारिकायाम्—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुषः॥

पदार्थ— सत्त्वः=सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुणों से। बुद्धिः=बुद्धि। संजायते=उत्पन्न होती है। यका=वह बुद्धि। महान् इति=महत्तत्त्व के नाम से। उच्यते=कही जाती है। तस्मात्=इससे। अपि=भी। अहंकारः=अभिमान, "मैं" की भावना। स्यात्=होती है। तस्मात्=अहंकार से। षोडशको गणः=सोलह विकार होते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन एवं पञ्चमहाभूत यह सब मिल करके सोलह विकार होते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा ॥३७॥

भाषाप्रकाश—सत्त्व, रज एव तम—यह तीन मूल प्रकृति के गुण हैं, जिनका वर्णन पीछे किया गया है। जब यह तीनों गुण असमान होते हैं तो पहला तत्त्व बुद्धि अथवा महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। यही आदितत्त्व है। पुरुष का चैतन्य जब इससे संयुक्त होता है तो उसमें ज्ञान इसी के कारण उत्पन्न होता है। यही जब इन्द्रियों से सम्बद्ध मन के माध्यम से अनुभव पुरुष के चैतन्य में भासित करता है तो निश्चय का ज्ञान भी इसी के आधार पर होता है। इसीलिए इसे अध्यवसाय के कारण बुद्धि भी कहते है। यह अत्यन्त प्रकाशमय तथा समस्त विश्व का एक तत्त्व है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व सञ्चालित है। योगीजन ध्यान में इसी का साक्षात्कार करते हैं।

पुरुष का चैतन्य जब महत्तत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है तो अविवेकवश पुरुष उसी को अपना स्वरूप मान लेता है। पुरुष और प्रकृति का यह प्रथम संयोग होता है। इसी से अहंकार उत्पन्न होता है। पुरुष और प्रकृति के संयोग का कारण अविवेक है। मैं शब्द में हूँ, मैं रूप में हूँ मैं रस में हूँ, मैं स्पर्श में हूँ, मैं गन्ध में हूँ, मैंने अमुक को मारा, मैंने अमुक कार्य किया, मैं अमुक को मारूँगा इत्यादि अभिमान अहंकार है। अहंकार विकृतियों के साथ फिर सोलह विकारों में संयुक्त होता जाता है। फिर शरीर के साथ संयुक्त रहता है। यही समस्त बन्धनों व दुःखों का मूल है। जब यह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श एवं शब्द से उत्पन्न हो जाता है तब सत्रह सोलह विकार होते हैं। नाक, कान, जीभ, त्वचा और आँख—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियां एवं गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और वाणी—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन तथा पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश—ये पाँच महाभूत; इस प्रकार ये सोलह प्रकृति के विकार हैं। मैं और मेरा का भाव अहंकार से ही उत्पन्न होता है। मैं मनुष्य हूँ मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अमुक जाति व गोत्र का हूँ। मेरा नाक, मेरा कान, मेरी आँख मेरी जिह्वा, मेरी त्वचा, मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा धन आदि सब अहंकार के ही परिणाम हैं, जिससे अविवेक की सन्तति बढ़ती रहती है॥

(युग्मम्)

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम्।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥३८॥

पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥३९॥

षोडशकगणमेवाह—स्पर्शनमित्यादिना।

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणीति सम्बन्धः, स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, रसनं जिह्वा, घ्राणं नासिका, चक्षुर्नेत्रं, पञ्चमं श्रोत्रं कर्ण इति, एतानि पञ्च बुद्धिप्रधानानि बुद्धिसहचराण्येव ज्ञानं जनयन्तीति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाण्याहुः कथयन्ति तन्मतीया इति। तथा कर्मेन्द्रियाणि चेति। तथा पूर्वोद्दिष्टपञ्चसंख्यामात्रमपि परामृशति, तान्येवाह— पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानीति। पायुरपानम्, उपस्थः प्रजननं, वचो वाक्यं, पाणिर्हस्तः, पादश्चरणः, तदाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, कर्म कार्यव्यापारस्तस्य साधनानीन्द्रियाणीति कर्मेन्द्रियाणि; तथा मन एकादशमिन्द्रियमित्यर्थः, पञ्चरूपाणि तन्मात्राणि चेति, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि तन्मात्राणीति षोडश ज्ञेयाः ॥३८-३९॥

अन्वयः—स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमं पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तथा च पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः। तथा मनः अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणि इति षोडश ॥३८-३९॥

सुधा— स्पर्शनं=त्वगिन्द्रियं, रसनं=जिह्वा, घ्राणं=नासिका, चक्षुः=नेत्रं, पञ्चमं श्रोत्रं=कर्ण इति, एतानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि=ज्ञानेन्द्रियाणि, तथा च पायुः=गुदा, उपस्थं=लिङ्गेन्द्रियः, वचः=वाणी, पाणिः=हस्तः, पादाख्यानि=चरणाख्यानि, कर्मेन्द्रियाणि=कार्यव्यापारः तस्य साधनानि, आहुः=कथयन्ति, तथा मनः=एकादशेन्द्रियाणि, अन्यानि=अपराणि, पञ्चरूपाणि=शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि तन्मात्राणि इति षोडशविकाराः ॥३८-३९॥

पदार्थ—स्पर्शनम्=त्वचा। रसनम्=जिह्वा। घ्राणम्=नासिका। चक्षुः=नेत्र। पञ्चमं श्रोत्रम्=पांचवाँ कान। एतानि=यह। बुद्धीन्द्रियाणि=ज्ञान इन्द्रियाँ, तथा च=और भी। पायुः=गुदा। उपस्थः=लिङ्ग। वचः=वाणी। पाणिः=हाथ। पादाख्यानि=पैर नामक। कर्मेन्द्रियाणि=कर्म इन्द्रियाँ। आहुः=कही गई हैं। तथा मन=और मन। ग्यारहवीं इन्द्रिय है, अन्यानि=और भी। पञ्चरूपाणि=पांच प्रकार की। रूप, रस,

रूप, स्पर्श एवं शब्द— यह उनके पाँच सूक्ष्म रूप तन्मात्राएँ। इति=इस प्रकार। षोडश=सोलह विकार माने गए हैं ॥३८-३९॥

भाषाप्रकाश —अब सोलह विकार बतलाते हैं। प्रकृति से विकृति होती है फिर उनसे सोलह विकार उत्पन्न होते हैं। विकृति के परिणाम विकार कहलाते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, महत्तत्त्व और अहंकार— यह सात विकृतियाँ हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म एवं दिव्य पदार्थ हैं। योगाभ्यास के द्वारा स्थूल पदार्थों से चित्तवृत्ति का निरोध कर लेने पर इन सातों विकृतियों का प्रत्यक्ष व साक्षात्कार किया जा सकता है। सृष्टि का उदय इन सातों विकृतियों से ही होता है। चक्षु इन्द्रिय की बाह्य वृत्ति का निरोध कर लेने पर दिव्य रूप का अन्तःप्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार जिह्वा से दिव्य रस, नासिका से दिव्य गन्ध, त्वचा की बाह्य वृत्ति का निरोध होने पर दिव्य स्पर्श व कान से दिव्य अनाहत शब्द का अन्तःप्रत्यक्ष होता है। इन पञ्च-तन्मात्राओं के भी चित्तवृत्ति का जब निरोध हो जाता है तो अहं प्रत्यय का साक्षात्कार होता है तथा 'सोऽहम्' की भावना से सारा विश्व अनुभव में आता है। उससे भी जब चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है तो प्रकृति का आदि विकृति तत्त्व—महत्तत्त्व का साक्षात्कार होता है, जो समस्त जगत का आधार है। सब प्रकार की गति, शक्ति व सत्ता का आश्रय दिव्य पदार्थ है। जहाँ पर जंगम स्थावर सभी प्राणियों व पदार्थों की एकता का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार यह सातों विकृतियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। पञ्चभूतों व इन्द्रियों के द्वारा इनका अनुमान भी किया जाता है। ऐसे आप्त पुरुष, जिन्होंने इनका साक्षात्कार कर लिया है, उनके शब्दों व शास्त्रप्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध होते हैं।

नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा एवं कान - ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर, वाणी—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ; ग्यारहवाँ मन तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश -ये पाँच महाभूत, यह सोलह विकार कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों भूतों का प्रत्यक्ष होता है। नेत्र से तेज और उसके विषय रूप, जिह्वा से जल और उसके विषय रस, नासिका से पृथ्वी व उसके विषय गन्ध, त्वचा से वायु व उसके विषय स्पर्श एवं कान से आकाश व उसके विषय शब्द का प्रत्यक्ष होता है। पाँचों कर्मेन्द्रियों से इन पाँचों विषयों व महाभूतों के अनुभव व भोग के लिए क्रिया का संचार होता है, जिससे नाना प्रकार की गतियों व भोगों का संचार होता है। भौतिक जगत् में विक्रिया व भोग का संचार होता रहता है। गुदा से मलविसर्जन होता है, जहाँ गन्ध की प्रधानता रहती है। लिङ्ग से मूत्रविसर्जन एवं मैथुन होता है, जहाँ स्पर्श व आनन्द की प्रधानता रहती है। हाथ-पैर से कर्म होता है, जहाँ रूप व स्पर्श की प्रधानता रहती है। वाणी से शब्दोच्चारण होता है, जहाँ शब्द

की प्रधानता रहती है। ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन है, जो ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभव व प्रत्यक्ष का केन्द्र है, चेतना का स्थान है। ज्ञानतन्तुओं द्वारा विषयों का अनुभव इसी इन्द्रिय द्वारा पुरुष को होता रहता है। इसी इन्द्रिय द्वारा कर्मतन्तुओं के माध्यम से चेष्टापूर्वक कर्म का संचार होता है, जिसका सम्पादन कर्मेन्द्रियाँ करती रहती हैं, कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रियासंचालन एवं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान व अनुभव मन के द्वारा ही होते हैं। मन में ही कर्म व ज्ञान के संस्कार होते हैं। इसी में वासना व प्रवृत्ति का वास होता है। यही दशो इन्द्रियों का प्रेरक व अधिष्ठाता है।

पञ्च महाभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है, जिसका शब्द विषय है। उससे स्थूल वायु है, इसका विषय स्पर्श है। उससे स्थूल तेज है, इसका विषय रूप है। उससे स्थूल जल है, जिसका रस विषय है। उससे स्थूल पृथ्वी है, इसका विषय गन्ध है। यह पाँचों महाभूत कार्यरूप में इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किए जाते हैं। उन समस्त प्राणियों, जिनके इन्द्रिय स्वस्थ हैं, जिनमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, उनके द्वारा प्रत्यक्ष किए जाते हैं। इन पाँचों के कारण रूप भी हैं, जो सूक्ष्म परमाणु हैं और वैज्ञानिक सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा देखे जाते हैं। न्याय-वैशेषिक के मत में यह परमाणु नित्य एवं जगत के कारण हैं, किन्तु सांख्यमत में परमाणु नित्य नहीं हैं, बल्कि वह भी कार्य हैं। अब आगे पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन करेंगे ॥३८-३९॥

रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद् भूमिः स्वरान्नभः।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतोत्पत्तिमाह —**रूपात्तेज इत्यादिना।**

पञ्चभ्य इति। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतकमिति सम्बन्धः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्राद् भूमिः, स्वरतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, एवं पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते, असाधारणैकैकगुणकथनमिदम्, उत्पत्तिश्च शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणं शब्दो ह्याम्बरगुण इति, शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुण इति, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणमिति, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितादरसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा इति, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति, पञ्चभ्यः पञ्चभूतकमित्यर्थः ॥४०॥

अन्वयः - रूपात् तेजः, रसात् आपः, गन्धात् भूमिः, स्वरात् नभः, स्पर्शात् वायुः तथा एवम् च पञ्चभ्यः भूतपञ्चकम् ॥४०॥

सुधा—रूपात्=रूपतन्मात्रात्, तेजः, रसात्=रसतन्मात्रात्, आपः=जलम्, गन्धात्=गन्धतन्मात्रात्, भूमिः=पृथ्वी, स्वरात्=आकाशतन्मात्रात्, नभः=आकाशः, स्पर्शनात्=स्पर्शनतन्मात्रात्, वायुः, तथा एवम् च=एवमेव, पञ्चभ्यः=पञ्चतन्मात्रेभ्यः, भूतानि पञ्चकम्=पृथिव्यादि पञ्चभूतानि । चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्, रसनाग्राह्यो रसः, घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः, कर्णमात्रग्राह्यो स्वरः, त्वग्मात्रग्राह्यो स्पर्शः । एवं पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्ते । असाधारणैकगुणकथितम् । उत्पत्तिश्च शब्दतन्मात्रात्स्पर्शः शब्दगुणकमाकाशः । शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः, शब्दस्पर्शरूपगुणमिति; शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा इतिः शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथ्वीति [illegible] ॥४०॥

पदार्थ रूपात्=रूपतन्मात्रा से। तेजः=तेज उत्पन्न हुआ। रसात्=रसतन्मात्रा [illegible]=जल उत्पन्न हुआ। गन्धात्=गन्धतन्मात्रा से। भूमिः=पृथ्वी उत्पन्न हुई। [illegible]=शब्दतन्मात्रा से। नभः=आकाश उत्पन्न हुआ। स्पर्शात्=स्पर्शतन्मात्रा से। वायुः=वायु उत्पन्न हुआ। तथा एवं च=और इस प्रकार से। पञ्चभ्यः=पाँचों तन्मात्राओं से। भूतपञ्चकम्=पाँचों भूत—पृथ्वी आदि उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥

भाषाप्रकाश—पाँचों तन्मात्राएँ—रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द सूक्ष्म पञ्च महाभूत हैं, जिनसे ही स्थूल पञ्च महाभूत की उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राएँ अतीन्द्रिय, सूक्ष्म एवं दिव्य हैं। इन्द्रियों में तन्मात्राएँ अधिष्ठित हैं, अतः उन्हीं के माध्यम से स्थूल भूतों का साक्षात्कार होता है। सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति होती है। स्थूल से सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली व दिव्य होता है। पञ्चतन्मात्रा सप्त विकृतियों में आती हैं, उनसे स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं, जो कि विकार हैं। सप्त विकृतियों से विकार उत्पन्न होते हैं और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है। जो नेत्र से ग्रहण किया जाय उसे तेज कहते हैं। रूप के आश्रय सूक्ष्म तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है। तेज के चार भेद हैं

१ औत—अग्नि आदि।

२ दिव्य—विद्युत-सूर्य आदि।

३ उदर्य—पेट के अन्दर जठराग्नि, जिससे भोजन पचता है और शरीर का तापमान बना रहता है।

४ आकर ज—स्वर्ण मणि, चमकीली धातुएँ।

रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। वही रसतन्मात्रा जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है, जिसके द्वारा जल के रस का अनुभव होता है। गन्धतन्मात्रा से भूमि की उत्पत्ति होती है, नासिका इसकी इन्द्रिय है। शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है, इसे ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय कान है। स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है, इसकी इन्द्रिय त्वचा है। आकाश सबसे सूक्ष्म भूत है, जिसकी उत्पत्ति शब्दतन्मात्रा से है; अतः आकाश में एक ही गुण है—शब्द। शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है; अतः वायु में शब्द और स्पर्श दोनों गुण पाए जाते हैं, किन्तु उसका स्वाभाविक गुण स्पर्श ही है। शब्द तो शब्दतन्मात्रा उसमें सम्मिलित होने के कारण नैमित्तिक गुण के रूप में पाया जाता है। रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है, रूप इसका स्वाभाविक गुण होता है किन्तु इसमें शब्द और स्पर्श तन्मात्राएँ व्यापक हैं; अतः तेज में शब्द, स्पर्श एवं रूप गुण होते हैं। शब्द एवं स्पर्श इसके नैमित्तिक गुण हैं।

रसतन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है। रस जल का स्वाभाविक गुण है, किन्तु इसमें शब्द, स्पर्श एवं रूप व्यापक है; अतः जल में रस स्वाभाविक एवं शब्द, स्पर्श एवं रूप नैमित्तिक रूप में पाए जाते हैं। गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति है, गन्ध पृथ्वी का स्वाभाविक गुण है। गन्धतन्मात्रा में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस व्यापक हैं। अतः पृथ्वी में स्वाभाविक गुण गन्ध के साथ-साथ शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस भी पाए जाते हैं। मन ग्यारहवाँ इन्द्रिय है, जो कि महत्तत्त्व का विकार है। इस प्रकार सात विकृतियों से सोलह विकार उत्पन्न होते हैं।

पच्चीस तत्त्वों में जो इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं उनका तो प्रत्यक्ष होता ही है, जो इन्द्रियगम्य नहीं हैं, उनका अनुमान व शब्द के द्वारा बोध होता है। सांख्य दर्शन में कहा भी गया है कि 'अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः धूमादिभिरिव वह्नेः'। जिस प्रकार धुएँ को देखकर अग्नि का बोध अनुमान के द्वारा हो जाता है उसी प्रकार अतीन्द्रिय तत्त्वों का भी अनुमान द्वारा बोध होता है। यद्यपि योगाभ्यास द्वारा सभी अतीन्द्रिय तत्त्वों का प्रत्यक्ष व साक्षात्कार होता है तथापि सर्वसाधारण को अनुमान द्वारा ही बोध हो पाता है।

स्थूल पञ्चमहाभूत प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव किए जाते हैं। सभी प्राणी, जिनके इन्द्रियाँ हैं वे सभी पञ्च स्थूल महाभूतों का प्रत्यक्ष करते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश—इन पाँच महाभूतों के प्रत्यक्ष से इनके कारणरूप परम सूक्ष्म गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द का अनुमान होता है। पञ्चतन्मात्राओं के साथ बाह्य व आभ्यन्तर वृत्तियों में अहंकार सम्बद्ध है, अतः उनके द्वारा अहंकार की सिद्धि होती है। जैसा कि सांख्यसूत्र भी है—''स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य, बाह्याभ्या-

तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य । तेनान्तःकरणस्य" अहंकार से मन, बुद्धि और चित्त की सिद्धि होती है । "ततः प्रकृतेः" ॥ अन्तःकरण से मूल प्रकृति की सिद्धि होती है । "संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य" । प्रकृति, विकृति व विकार दूसरे के लिए हैं, अतः उनसे पुरुष (आत्मा) का अनुमान होता है ॥४०॥

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
अन्यस्त्वकर्ता विगुणस्तु भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥४१॥

प्रकृतिविस्तरमेवोपसंहरन्नाह—**एवमित्यादिना** ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम् । प्रकृतिर्महानहङ्कारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनस्त्वेकं, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानि.रूपं यस्येत्येवंविधा प्रकृतिः कथितेत्यर्थः । पञ्चविंशतितमं तत्त्वमाह—**अन्यस्त्विति** । अन्योऽकर्ता पुरुषः, प्रकृतेरेव संसरणादिधर्मत्वाद्, यदुक्तं—प्रकृतिः करोति प्रकृतिर्बध्यते, प्रकृतिर्मुच्यते, पुरुषोऽबद्धः पुरुषो मुक्तः, पुरुषस्तु—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

पुरुषगुणानाह—**विगुण इति** । सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः, **तथा** भोक्ता भोगी, एवंप्रकारः पुमान् तत्त्वं पञ्चविंशतितमं तत्त्वमित्यर्थः । **तथा** नित्यचिदभ्युपेतः, नित्या चासौ चिच्चैतन्यशक्तिस्तयाऽभ्युपेतः सहितः, आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते, सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति, बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते, आह च पातञ्जले—'शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रतिभासत' (यो० सू० ।२।२०॥ व्यासभाष्यम्) **इति** । **मुख्यतस्तु** चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या, बुद्धेरेव **विषयपरिच्छेदस्वभावत्वात् चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनाऽपि बुद्धिश्चेतना वतीवावभासते, बादमहार्णवोऽप्याह**—

बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थविप्रतिबिम्बकम् ।
द्वितीयदर्पणकल्पं पुरुषे ह्यधिरोहति ॥

तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु विकारोत्पत्तिरिति । तथा चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिको यथा ॥

इति नित्यचिज्ज्ञानयुक्तः ।

बन्धमोक्षसंसाराश्च नित्येऽप्यात्मनि भृत्यगतयोर्जयपराजययोरिव तत्फलकोशलाभादिसम्बन्धे नस्वामिन्युपचारवदत्राप्युपचर्यन्त इत्यदोषः॥४१॥

अन्वयः—एवं सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम् । अन्यः तु अकर्ता, विगुणः तु भोक्ता नित्यचित् अभ्युपेतः तत्त्वं पुमानिति ॥४१॥

सुधा—एवम्=पूर्वोक्तप्रकारेण, सांख्यमते=सांख्यदर्शने, चतुर्विंशतितत्त्वरूपं=प्रकृतिर्महानहङ्कारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनः, पञ्चतन्मात्राणि, पञ्च भूतानि एवं चतुर्विंशतिविधा; प्रधानं=प्रकृतिः, निवेदितं=कथिता । अन्यः=प्रकृतिभिन्नः, तु=एवं, अकर्ता=अक्रियः, विगुणः=सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः, भोक्ता=भोगी, नित्यचित्—नित्या चासौ चित् चैतन्यशक्तिस्तया, अभ्युपेतः=सहितः, तत्त्वं=पञ्चविंशतितत्त्वरूपम्, पुमानिति=पुरुषः मन्तव्येति । उक्तञ्च—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥४१॥

पदार्थ—एवम्=इस प्रकार । सांख्यमते=सांख्यमत में । चतुर्विंशतितत्त्वरूपम्=चौबीस तत्त्वरूप में । प्रधानम्=मूल प्रकृति । निवेदितम्=कही गई । अन्यः=प्रकृति से भिन्न । तु, अकर्ता=क्रियारहित । विगुणः=सत्त्व-रज-तम से भिन्न गुणरहित । भोक्ता=भोग करने वाला । नित्यचित्=नित्य चैतन्यवान् । अभ्युपेतः=चैतन्यगुणयुक्त । तत्त्वम्=पच्चीसवाँ तत्त्व । पुमान्=पुरुष अथवा आत्मा माना गया है, जो कि प्रकृति-विकृति व विकार से भिन्न है ॥४१॥

भाषाप्रकाश—सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्व माने गए हैं—१. मूल-प्रकृति, २. महत्तत्त्व, ३. अहंकार, ४. रूप, ५. रस, ६. गन्ध, ७. स्पर्श, ८. शब्द, ९. पृथ्वी, १०. जल, ११. तेज, १२. आकाश, १३. वायु, १४. नासिका, १५. कान, १६. नेत्र, १७. त्वचा, १८. जिह्वा, १९. हाथ, २०. पैर, २१. गुदा, २२ उपस्थ, २३. वाणी, २४. मन और २५. पुरुष। संक्षेप में मूल प्रकृति, उसकी सात विकृतियाँ एवं उनसे सोलह विकार तथा पुरुष—यही पच्चीस तत्त्व हैं ।

अब तक मूल प्रकृति, उसकी सात विकृतियाँ एवं सोलह विकारों का निरूपण किया गया । अब पच्चीसवाँ तत्त्व, जो पुरुष है, का निरूपण किया जायगा ।

पुरुष (आत्मा) प्रकृति से भिन्न है, चेतना और नित्यत्व उसके मुख्य लक्षण हैं। संसार में जड़ एवं चेतन की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। प्राणियों में चेतना प्रत्यक्ष रूप में देखी जाती है। चेतन ज्ञाता है, जड़ ज्ञेय है। वह भोक्ता है, जड़ भोग्य है। जड़-चेतन का भेद स्पष्ट एवं स्वयंसिद्ध है। इसीलिए सांख्य दर्शन में कहा गया कि—"अस्त्यात्मानास्तित्वसाधनाभावात्" अर्थात् आत्मा है, क्योंकि उसके न होने में कोई प्रमाण नहीं है।

सांख्य दर्शन में महर्षि कपिल ने कहा है कि "शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्" अर्थात् शरीरादि से आत्मा भिन्न है। महर्षि कपिल ने पुरुष (आत्मा) की सिद्धि में निम्नलिखित हेतु दिए हैं -

१. **संहतपरार्थत्वात्**—प्रकृति के सभी कार्य एवं सम्पूर्ण सृष्टिरचना दूसरे के लिए है। जिस प्रकार बिस्तर से युक्त चारपाई को देख कर यह अनुमान किया जाता है कि यह किसी बैठने वाले के लिए बिछाई गई है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार पुरुष (आत्मा) के लिए है। यदि आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो समग्र सृष्टि की रचना ही व्यर्थ हो जायगी; क्योंकि सभी जड़पदार्थ प्रयोजन से हैं और बिना आत्मा की सत्ता के प्रयोजन की सिद्धि असम्भव है।

२. **त्रिगुणादिविपर्ययात्**—सुख-दुःख-मोहादि प्रवृत्तियों व अनुभवों की विचित्रता है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी। कोई गाता है तो कोई रोता है। इस प्रकार सत्त्व, रज एवं तम—इन तीनों गुणों की विषमता से भी सिद्ध है कि पुरुष (आत्मा) है।

३ **अधिष्ठानाच्च**—चेतन जड़ का अधिष्ठाता है, उसका वह साक्षी है। पुरुष के साक्षित्व में ही सारा जड़ जगत नियन्त्रित हो रहा है, अतः इससे भी सिद्ध है कि पुरुष (आत्मा) है।

४. **भोक्तृभावात्**—भोक्ता और भोग्य दो देखे जाते हैं। जड़ भोग्य है और चेतन भोगने वाला है। अतः भोगनेवाला होने के कारण भी पुरुष (आत्मा) की सिद्धि होती है। पुरुष भोग करता है, प्रधान भोग्य है।

५. **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च** दुःख से छूटने की अभिलाषा एवं परमानन्द प्राप्त करने की इच्छा चेतन में है; अतः कैवल्य के लिए इच्छा व प्रवृत्ति देखे जाने से यह सिद्ध होता है कि पुरुष है, जो कि शरीरादि प्रकृति से भिन्न है। इसी को ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में इस प्रकार कहा है—

संघातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

क्षेमेन्द्रविरचित सांख्यतत्त्वविवेचन में भी पुरुष का निरूपण करते हुए इस प्रकार कहा गया है—

१. पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुवृत्तितः ।
स चानादिः सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽपरः ॥
२. दृष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मकः ।
सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि सः ॥
३ सर्वमाप्तमनेनेति तस्मात् सर्वगतस्तु सः ।
सुखोपलब्धिमत्वाच्च चेतनोऽनिर्गुणस्तथा ॥
४. सत्त्वादिगुणराहित्यात् परः परतया स्मृतः ।
दृश्यप्रकृतिसम्बन्धात् दृष्टा भोक्तानुभावनात् ॥
५. क्षेत्रे गुणगतं वेत्ति क्षेत्रज्ञ इति कीर्तितः ।
शुभाशुभादिसंसर्गाभावादमल इष्यते ॥
६ निर्बीजत्वात् प्रसूते च नेत्यप्रसवधर्मकः ।
निरङ्गत्वादीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मो नित्यः सनातनः ॥
७. एवं सांख्यः स पुरुषो व्याख्यातः पूर्वसूरिभिः ।
जीवो जन्तुः पुमानात्मा पुरुषः पूजको नरः ॥

'पुरि शयनात् पुरुषः' अर्थात् शरीर में रहने के कारण यह पुरुष कहलाता है। प्रमाणों से यह सिद्ध है कि यह पुरुषार्थ वृत्तिवाला है एवं पूर्णता इसका स्वभाव है। यह अनादि है, सर्वव्यापक है, निर्गुण है तथा सबसे सूक्ष्म है। द्रष्टा एवं भोगने वाला है, प्रकृति को जानने वाला है, विकृति का ज्ञाता है, विकारों का अनुभव करने वाला है तथा असंग एवं निर्दोष है। पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, यह सूक्ष्म एवं नित्य है, शरीर छोड़ने के बाद में भी रहता है। उससे सब कुछ व्याप्त है, सुख-दुःख का अनुभव करने के कारण वह चेतन है, तीनों गुणों से परे है। दृश्य जगत का वह दर्शन व अनुभव करता है, अतएव द्रष्टा है। अनुभव करने के कारण वह भोक्ता है। क्षेत्र (जगत) के गुणों का अनुभव करता है, अतएव क्षेत्रज्ञ है। स्वभाव से पुण्य-पाप-रहित है, अतएव वह पवित्र है। अतीन्द्रिय है, अतः सूक्ष्म है, नित्य एवं सनातन है। गीता में कहा भी गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति सदात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

पुरुष असंग एवं अकर्ता है। सारे कर्म प्रकृति के द्वारा ही होते रहते हैं। अहंकार से विमूढ़ होकर पुरुष ही अपने को यद्यपि कर्ता मानता है किन्तु प्रकृति एवं कर्म के रहस्य को जो जानता है वह पुरुष को अकर्ता ही देखता है।

प्रश्न चेतना ही पुरुष (आत्मा) का प्रधान लक्षण है। चार्वाक मत में माना गया है कि चेतना पञ्च भूतों के मेल से उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है; अतः शरीर से भिन्न आत्मा (पुरुष) की सिद्धि नहीं होती।

उत्तर—चेतना पञ्चभूतों के मेल से उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि वह किसी भूत में नहीं पाई जाती। जैसा कि महर्षि कपिल ने कहा भी है कि "न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः" अर्थात् प्रत्येक भूत में चैतन्य गुण नहीं पाया जाता, इसलिए उनके मेल से आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार महुआ में शराब नहीं पाई जाती किन्तु उसे सड़ा देने से उसके विकारस्वरूप मादक द्रव्य शराब उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि पञ्चभूतों में से प्रत्येक में चेतना नहीं पाई जाती, किन्तु जब यह आपस में मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं तो आत्मा उत्पन्न हो जाता है—तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सड़ने से पूर्व पदार्थ में मादक द्रव्य अनुद्भूत रूप में विद्यमान था। जब उसे सड़ाया गया तो वह द्रव्य उद्भूत हो गया, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। अतः देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥

प्रश्न—पुरुष (आत्मा) एक है अथवा अनेक ?

उत्तर—सांख्यशास्त्र में पुरुष को अनेक माना गया है। "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्" अर्थात् जन्मादि व्यवस्था में अनेकता, विविधता एवं विचित्रता है; अतः पुरुष (आत्मा) अनेक है। पुण्यात्मा स्वर्ग की प्राप्ति करता है, पापी नरक में जाता है। अज्ञानी बँधता है, ज्ञानी छूटता है। एक ही क्षण व काल में कोई सुखी है तो कोई दुःखी अतः सिद्ध है कि पुरुष अनेक है। ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका में कहा भी गया है—

जन्ममरणकारणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

जन्म-मरण की व्यवस्था में अनेकता होने के कारण, पृथक्-पृथक् शरीर व इन्द्रियों में स्थिति के कारण एवं भिन्न-भिन्न प्राणियों की विभिन्न प्रवृत्तियों के कारण; साथ ही सभी प्राणियों में सत्त्व, रज एवं तम गुण की विषमता के फलस्वरूप भिन्न भिन्न स्वभाव देखने से यह सिद्ध होता है कि पुरुष (आत्मा) अनेक है ॥४१॥

पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यस्यैवं भवन्ति च।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

तत्त्वोपसंहारमाह—**पञ्चविंशतितत्त्व नोत्यादिना।**

पूर्वार्धं निगदसिद्धम्, अत्र सांख्यमते प्रधाननरयोः प्रकृतिपुरुषयोर्वृत्तिर्वर्तनं पंग्वन्धयोरिव पङ्ग्वगुश्चरणविकलः, अन्धश्च नेत्रविकलः, यथा पङ्ग्वन्धौ संयुक्तावेव कार्यसाधनाय प्रभवतो न पृथग्भूतौ प्रकृतिपुरुषयोरपि तथैव कार्यकर्तृत्वम्, प्रकृत्युपात्तं पुरुषो भुङ्क्त इत्यर्थः ॥४२॥

अन्वयः—एवं च सांख्यस्य पञ्चविंशतितत्त्वानि भवन्ति। अत्र च प्रधाननरयोः पङ्ग्वन्धयोः इव वृत्तिः ॥४२॥

सुधा—एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण, च=विशेषः, सांख्यस्य=कपिलदर्शनस्य, पञ्चविंशतितत्त्वानि=मूलप्रकृतिः, सप्तविकृतिः, षोडशविकाराः पुरुषश्च पञ्चविंशतितत्त्वानि, भवन्ति=प्रतिपादितानि। अत्र च=सांख्यमते, प्रधाननरयोः=प्रकृतिपुरुषयोः, पङ्ग्वन्धयोः इव—पङ्गुश्चरणविकलः अन्धश्च नेत्रविकलः, तयोरिव; वृत्तिः=संयोगः ज्ञेयः। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः ॥४२॥

पदार्थ—एवं च=इस प्रकार। सांख्यस्य=सांख्यदर्शन के। पञ्चविंशतितत्त्वानि=पच्चीस तत्त्व। भवन्ति=होते हैं। अत्र च=सांख्यमत में। प्रधाननरयोः=प्रकृति और पुरुष का। पङ्ग्वन्धयोरिव=लंगड़े और अन्धे की भाँति। वृत्तिः=संयोग होता है; उसी से सृष्टि होती है ॥४२॥

भाषाप्रकाश—मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्राएँ सात विकृतियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं पञ्चमहाभूत आदि सोलह विकार एवं पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष का वर्णन किया गया। यही पच्चीस तत्त्व सांख्य-प्रतिपादित पदार्थ हैं, जिनका निरूपण किया गया। मूल प्रकृति (प्रधान) एवं पुरुष (आत्मा)—यह दोनों ही नित्य हैं। सातों विकृतियाँ एवं सोलह विकार—यह तेईस तत्त्व अनित्य हैं। प्रधान एवं पुरुष के संयोग से विकृति व विकारस्वरूप सृष्टि का निर्माण होता है, अविवेक के कारण पुरुष प्रकृति से बँधता है और प्रकृति का ज्ञान व विवेक हो जाने पर पुरुष प्रकृति से छूट करके कैवल्य की प्राप्ति करता है। प्रकृति पुरुष को तबतक ही बाँधती है जबतक वह प्रकृति के स्वरूप को नहीं जानता। जब उसे जान जाता है तब प्रकृति उसे मुक्त कर देती है। वह पुरुष के प्रति उदासीन हो जाती है। इसी को कैवल्य अथवा अपवर्ग कहते हैं। सांख्यशास्त्र में कहा भी गया है कि—

"रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति विमोचयत्येकरूपेण ।"

अर्थात महत्तत्त्व, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्रायें—यह सात रूप हैं, इन्हीं से प्रकृति पुरुष को बाँधती है, जन्म-जन्मान्तर देकर सुख-दुःख का भोग कराती है, किन्तु जब पुरुष को प्रकृति के स्वरूप का बोध हो जाता है तो विवेक के द्वारा ही प्रकृति उसे मुक्त कर देती है।

जब पुरुष में अविवेक आता है तब वह प्रकृति से संयुक्त होता है। सत्त्व-रज और तम तीनों प्रकृति के गुण विषम हो जाते हैं आदि तत्त्व महत्तत्त्व का उदय होता है। महत्तत्त्व में पुरुष का चैतन्यगुण प्रतिबिम्बित होता है तब अहंकार की उत्पत्ति होती है। पुरुष प्रकृति को ही अपना स्वरूप मानने लगता है तब उससे रूप-रस-स्पर्श-गन्ध व शब्द—ये पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होकर सोलह विकारों को जन्म देती है। शरीर धारण करके अहंकार से युक्त पुरुष अनेक कर्मबन्धनों में पड़ता है और उससे सुखी-दुःखी होता रहता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन त्रिविध तापों से वह पीड़ित रहता है और अन्ततः जन्म-जन्मान्तर के चक्र में पड़ करके असंख्य शरीर को कर्मानुसार प्राप्त करता रहता है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग लंगड़े और अन्धे के संयोग के समान है। लंगड़े में चलने की शक्ति नहीं और अन्धे में देखने की क्षमता नहीं, जबकि दोनों को रास्ता तय करना है, कुछ दूर तक जाना है; फलतः दोनों में समझौता और संयोग हुआ। लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर सवार हो गया, लंगड़ा रास्ता बतलाने लगा और अन्धा चलने लगा। इस प्रकार दोनों ने यात्रा पूरी कर ली। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का संयोग है। प्रकृति में चेतना व ज्ञान भले न हों, किन्तु शक्ति है कर्तृत्व है; अतएव वह अन्धे की भाँति है। पुरुष में चेतना है, ज्ञान है किन्तु शक्ति नहीं, कर्तृत्व नहीं; अतः वह लंगड़ा है। प्रकृति की शक्ति व कर्तृत्व तथा पुरुष का चैतन्य व ज्ञान मिलकर सृष्टि का निर्माण होता है। यही प्रकृति और पुरुष का संयोग है, जो कि जगत का मूल कारण है। जब अविवेक का नाश हो जाता है और विवेक का उदय होता है तब लंगड़े पुरुष की यात्रा समाप्त हो जाती है। वह अन्धी प्रकृति के कन्धे से उतर जाता है और दोनों का संयोग छिन्न हो जाता है। वही परम कैवल्य है, जहाँ वह विवेक द्वारा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

अंधे-लंगड़े के दृष्टान्त के सम्बन्ध में एक प्राचीन रोचक कहानी कही जाती है, जो इस प्रकार है—

नदी किनारे ग्राम एक था बसा हुआ भारी।
उसी ग्राम में रहते निसिदिन बाल वृद्ध नर नारी॥

एक समय में आग लगी जब भाग बचे नर-नारी।
सबने अपनी जान बचायी जितने थे घर-बारी॥
उसी ग्राम में एक आदमी था आँखों का अन्धा।
उसी ग्राम में एक लंगड़ा था जिसे न था कुछ धन्धा॥
अन्धा बोला लंगड़े से तुम कन्धे पर चढ़ जाओ।
मैं चलता हूँ तुमको लेकर आगे राह बताओ॥
अन्धा चलता जाता था तो लंगड़ा राह बताता था।
चलते-चलते अन्धा अपनी रोचक बात बताता था॥
दोनों मिलकर एक साथ हो एक जगह पर आए।
इसी तरह से दोनों मिलकर अपनी जान बचाए॥
इसी तरह से प्रकृति पुरुष ने मिलकर सृष्टि बनाये।
लंगड़ा पुरुष प्रकृति है अन्धी ज्ञान हुए बिलगाए॥४२॥

प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्यैवान्तरज्ञानात्।
मानत्रितयं च भवेत् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम्॥४३॥

मोक्षप्रमाणं चाह—**प्रकृतिवियोग** इत्यादिना।

मोक्षः किमुच्यत इत्याह—पुरुषस्यात्मन आन्तरज्ञानाद्विविधबन्धविच्छेदात्प्रकृतिवियोगो यः स मोक्षः प्रकृत्या सह वियोगे विरहे सति पुरुषस्यापवर्ग इति, आन्तरज्ञानं च बन्धविच्छेदाद्भवति, बन्धश्च प्राकृतिकवैकृतिकदाक्षिणभेदात्त्रिविधः। तद्यथा—प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्धयोपासते तेषां वैकारिकः, इष्टापूर्ते दाक्षिणः, इष्टापूर्तं जनभोजनदानादिकं तस्मिन् पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टकारी कामोपहतमना बध्यत इति।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यत् श्रेयो वेऽभिनन्दन्ति मूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥
इति वचनाद्। मुण्डकोप० ।१।२।१०॥

इति त्रिविधबन्धविच्छेदात्पुरुषानुभवस्ततः प्रकृतिवियोगः पुरुषस्य; प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनाच्च निवृत्तायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति श्लोकपूर्वार्द्धम्, मानत्रितयं च भवेत् स्यात् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं, चकारः सर्वत्र सम्बध्यते। प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यं, लैङ्गिकमनुमानगम्यं, शाब्दं चागमस्वरूपमिति प्रमाणत्रयम्॥४३॥

अन्वयः—पुरुषस्य एव आन्तरज्ञानात् प्रकृतिवियोगः मोक्षः । च प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं मानत्रितयं भवेत् ॥४३॥

सुधा—पुरुषस्य=आत्मनः आन्तरज्ञानात्=अध्यात्मप्रकाशात् अतीन्द्रिय-विषयावगमात्, प्रकृतिवियोगः=प्रधानसंयोगविच्छेदः, विरहः; मोक्षः=अपवर्गः, कैवल्यमिति स्वरूपावस्थानम् आन्तरज्ञानं च बन्धविच्छेदाद्भवति, बन्धश्च प्राकृतिक-वैकृतिकदाक्षिणभेदात्त्रिविधः । प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, ये विकारानेव पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः, इष्टापूर्ते कामोपहतमना दाक्षिणः । एवं विविधबन्धविच्छेदात्पुरुषानुभवः, ततः प्रकृतिवियोगः पुरुषस्य मोक्षः । च=अपरमपि, प्रत्यक्षम्—अक्षं अक्षं प्रति प्रत्यक्षं=इन्द्रियादिजन्यम्, ये सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्, लैङ्गिकम्=अनुमानगम्यम्, प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्, शाब्दम्=आगमस्वरूपमिति आप्तवचनम्, मानत्रितयम्=प्रमाणत्रयम्, भवेत्=सांख्यमते स्वीकृतमिति ॥४३॥

पदार्थ—पुरुषस्य=आत्मा के । आन्तरज्ञानात्=आध्यात्मिक ज्ञान से । प्रकृति वियोगः=प्रकृति से छुटकारा पाना । मोक्षः=मोक्ष—कैवल्य अथवा अपवर्ग कहलाता है । च=और । प्रत्यक्षम्=इन्द्रिय और विषयों के संयोग से जो उत्पन्न हो । लैङ्गिकम्=अनुमान । शाब्दम्=आप्त पुरुषों के वचन । मानत्रितयम्=तीन प्रमाण । भवेत्=सांख्यमत में माने गए हैं ॥४३॥

भाषाप्रकाश—पुरुष जब विवेक द्वारा अपने स्वरूप को जान लेता है, आत्मसाक्षात्कार कर लेता है तब प्रकृति से उसका वियोग हो जाता है; उसी को मोक्ष कहते हैं । आत्मसाक्षात्कार आन्तरप्रत्यक्ष है, जो कि अतीन्द्रिय है । आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर विवेक द्वारा अहंकार आदि सातों विकृतियों एवं सोलह विकारों से वियोग हो जाता है । यह सभी उस पुरुष के लिए अर्थशून्य व निष्प्रयोजन हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में—"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तशक्तेरिति" विवेक द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर सत्त्व-रज-तम—ये तीनों गुण, सातों विकृतियाँ और सोलह विकार पुरुष के लिए निष्प्रयोजन होकर अपने-अपने कारण में विलीन हो जाते हैं । पुरुष अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है और अपने चित्तशक्ति से कैवल्यस्वरूप आनन्द में निमग्न रहता है ।

सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि "विवित्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके" अर्थात् विवेक द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर उस पुरुष के लिए सृष्टि का क्रम, जन्म-मरण सब समाप्त हो जाते हैं । जिस प्रकार भोजन बन जाने पर भोजन बनाने वाले रसोइये का काम समाप्त हो जाता है उसी प्रकार पुरुष के लिए प्रकृति की सृष्टि का कार्य भी समाप्त हो जाता है ।

विवेकी पुरुष के लिए तो सृष्टि की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु अविवेकी के लिए प्रकृति की सृष्टिप्रक्रिया चला करती है ।

'इतर इतरवत् तद्दोषात्' । अर्थात् प्रधान और पुरुष में किसी एक का उदासीन हो जाना ही मोक्ष है । द्वयोरेकतरस्य वाप्यौदासीन्यमपवर्गः । विवेकी पुरुष के लिए प्रकृति की सृष्टि निवृत्त हो जाती है, किन्तु अन्य अविवेकी पुरुषों के लिए सृष्टि निवृत्त नहीं होती । जिस प्रकार रस्सी पड़ी देखकर उसमें सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न होती है और यह भ्रान्ति उसी के लिए निवृत्त होती है, जिसे यह विवेक हो गया हो कि यह सर्प नहीं है रस्सी है; लेकिन भ्रान्त लोगों के लिए तो वह सर्प ही है । 'कर्मनिमित्त-योगाच्च ।' अर्थात् कर्म के संस्कार के कारण भी अन्य मूढ पुरुष के लिए सृष्टि का प्रवाह चला करता है, सब के लिए वह निवृत्त नहीं होती ।

'नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिः चरितार्थत्वात्' । अर्थात् जिस प्रकार नाचने-वाली वेश्या रंग-मंच पर अपना नाच दिखा करके निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के लिए मुक्त हो जाती है । इसी बात को ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में इस प्रकार कहा है—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥

'दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्' अर्थात् जिस प्रकार कुल की स्त्री, अर्थात् विवाहिता पत्नी का दोष जब उसके पति को मालूम हो जाता है तो वह लज्जित होकर पुनः पति के पास नहीं जाती उसी प्रकार जब पुरुष को प्रकृति का विवेक हो जाता है तो वह भी पुरुष के लिए मुक्त हो जाती है ।

सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है कि—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतम् ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥

अर्थात् प्रकृति से अधिक सुकुमार और कोई नहीं है । जब वह यह जानती है कि पुरुष ने मुझे जान लिया है तो उस पुरुष के लिए वह मुक्त हो जाती है ।

जीवन्मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति यद्यपि उदासीन हो जाती है तथापि वह शरीर धारण किए रहता है । 'चक्रभ्रमणवत् धृतशरीरः' अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार चक्के को घुमाता है और फिर छोड़ देता है तो भी वह घूमता रहता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी प्रकृति से मुक्त होकर भी जीवित रहता है ।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुष प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः ॥

अर्थात् विवेकी पुरुष दर्शक की भाँति सातो विकृतियों सहित मुक्त हुई प्रकृति को स्वस्थ भाव मे देखता है और जीवन्मुक्त रूप में जीवित रहता है ।

दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

पुरुष प्रकृति की उपेक्षा करता है कि मैंने इसे देख लिया और प्रकृति पुरुष से मुक्त एवं निवृत्त हो जाती है कि मैं देख ली गई; अतः दोनों का संयोग रहने पर भी पुरुष के लिए सृष्टि करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता; फलतः वह मुक्त रहता हुआ भी जीवित रहता है और साक्षीरूप में प्रकृति को देखता रहता है ।

सांख्यमत में तीन प्रमाण माने गए है--प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द । इन्द्रियों से साक्षात्कार जिससे हो वह प्रत्यक्ष है । केवल चिह्न को देखकर विषय का ज्ञान कर लेना अनुमान है एवं आप्त अर्थात् जिन्होंने यथार्थ रूप में साक्षात्कार करके अपने अनुभव का यथार्थ प्रवचन किया, वह शब्द प्रमाण है । शब्द प्रमाण में सांख्यशास्त्र ने वेदो को प्रमाण माना है और वेदों में भी सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त विद्यमान है । अनेक श्रुतियाँ सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं, अतः सांख्य सिद्धान्त का बीज वेदों में निहित है और महर्षि कपिल ने भी वेदों को प्रमाणरूप में मान्य किया है ॥ ४३ ॥

[जैनमतम्]

एवं सांख्यमतस्यापि समासः कथितोऽधुना ।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

अथोपसंहरन्नाह—एवमिति ।

पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमतस्यापि समासः संक्षेपः कथितः, अपि समुच्चयार्थे न केवलं बौद्धनैयायिकयोः संक्षेप उक्तः, सांख्यमतस्याप्यधुना कथित इति. सांख्य इति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा, संख्यस्य इमे सांख्याः, तालव्यो वा शकारः, शङ्खनामाऽऽदिपुरुषः ।

अथ क्रमायातं जैनमतोद्देशमाह अधुनेत्युत्तरार्द्धेन सम्बध्यते । अधुना इदानीं जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते कथंभूत इति ? सुविचारवान्, सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीत्यर्थे मतुप् । सुविचारवानिति साभिप्रायं पदम् । अपरदर्शनानि हि —

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

इत्याद्युक्त्या न विचारपदवीमाद्रियन्ते । जैनस्त्वाह—

अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते ।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात्परीक्षाया विभेति किम् ॥

इति युक्तियुक्तविचारपरम्परापरिचयपथपथिकत्वेन जैनो युक्तिमार्गमेवावगाहते, न च पारम्पर्यादिपक्षपातेन युक्तिमुल्लङ्घयति परमार्हतः, उक्तञ्च—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

इत्यादिहेतुहेतिशतनिरस्तविपक्षप्रसरत्वेन 'सुविचारवान्' इत्यसाधारणविशेषणप्रसरणं ज्ञेयमिति ॥४४॥

अन्वयः—एवं सांख्यमतस्यापि समासः कथितः, अधुना सुविचारवान् जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते ॥ ४४ ॥

सुधा—एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण, सांख्यमतस्य=कपिलदर्शनस्य, अपि=च, समासः=संक्षेपः, कथितः=उक्तः । अधुना=इदानीं, सुविचारवान्--सुष्ठु=शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीत्यर्थः, जैनदर्शनसंक्षेपः=जैनमतसमासः, कथ्यते=निगद्यते ॥४४॥

पदार्थ—एवम्=इस प्रकार । सांख्यमतस्य=सांख्य दर्शन का । अपि=भी । समासः=संक्षेप में वर्णन । कथितः=किया गया । अधुना=अब । सुविचारवान्=सुन्दर विचारों से युक्त । जैनदर्शनसंक्षेपः=जैनदर्शन का संक्षेप । कथ्यते=कहा जाता है ॥ ४४ ॥

भाषाप्रकाश—बौद्धदर्शन एवं न्यायदर्शन का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् सांख्यदर्शन का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया । अब इसके आगे जैनदर्शन का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा । जैनदर्शन सुन्दर विचारों से युक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन है ।

प्रश्न--जैनदर्शन को सुविचारवान क्यों कहा गया ?

उत्तर—जैनदर्शन के विचारों की स्थापना चौबीस तीर्थङ्करों के प्रवचन से हुई । जैनमत के तीर्थङ्कर परम प्रबुद्ध व परमार्हत थे, उन्होंने संयम व कठोर तप द्वारा सत्य व धर्म का परम साक्षात्कार कर लिया था; अतः उनके गंभीर यथार्थ प्रवचन के आधार पर जैनदर्शन अत्यन्त सुविचारों से युक्त है । सभी तीर्थङ्कर परम आप्त महापुरुष थे । उनकी वाणी में विश्व, धर्म व परम सत्य का ज्ञान ओत-प्रोत था ।

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः ।
तथैव ताः पूर्णमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥
इति परमार्थः ॥५८॥

अन्वयः— इति एषः अनघः जैनदर्शनसंक्षेपः कथितः । तु यत्र क्वापि पूर्वापरविघातः न विद्यते ॥५८॥

सुधा इति=पूर्वोक्तप्रकारेण, एषः=तथोक्तः, अनघः=निर्दूषणः निर्मलः, जैनदर्शनसंक्षेपः=जैनमतसारः कथितः=निरूपितः । तु यत्र=जैनदर्शने, क्वापि=कुत्रापि, क्वचिदपि । पूर्वापरविघातः=पूर्वपक्षोत्तरपक्षपूर्वकं परस्परं विसंवादो विरुद्धार्थता, न विद्यते=नास्तिविरुद्धार्थदोर्गन्ध्याभावः । यदाहुः—

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः ।
तथैव ताः पूर्णमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥इति ॥५८॥

पदार्थ—इति=इस प्रकार । एषः=यह । अनघः=निर्मल निर्दोष । जैनदर्शनसंक्षेपः=जैनमत का संक्षिप्त वर्णन । कथितः=कहा गया । तु यत्र=जहाँ । क्वापि=कहीं भी । पूर्वापरविघातः=वाद-विवाद विरोधपूर्वक शास्त्रार्थ । न विद्यते=नहीं है ॥५८॥

भाषाप्रकाश—अब तक जैनदर्शन का संक्षेप में वर्णन किया गया । वैसे तो जैन दर्शन का सिद्धान्त व साहित्य अत्यन्त विशाल है, किन्तु यहाँ अत्यन्त संक्षेप में ही उसी सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है । जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह निर्मल है, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । कहीं पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष का विवाद नहीं है और न ही कहीं दुराग्रहपूर्वक शास्त्रार्थ किया गया है । यहाँ तो सत्यज्ञान के लिए सरलता व सुगमतापूर्वक सिद्धान्तों का निरूपण-मात्र ही किया गया है ॥५८॥

देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वेषु विद्यतेऽसौ निर्दिश्यते ॥५९॥

अथ वैशेषिकमतस्य देवताऽऽदिसाम्येन नैयायिकेभ्यो ये विशेषं न मन्यन्ते तान् बोधयन्नाह—**देवताविषय इति** ।

शिवदेवतासाम्येऽपि तत्त्वादिविशेषविशिष्टत्वाद् **वैशेषिकास्तेषां** वैशेषिकाणां काणादादीनां **नैयायिकैरक्षपादैः समं** सार्द्धं **देवताविषये** शिवदेवताऽभ्युपगमे **भेदो** विशेषो **नास्ति, तत्त्वेषु** शासनरहस्येषु **भेदो** विद्यते, तुशब्दोऽध्याहार्यः, **असौ** विशेषो नैयायिकेभ्यः पृथग्भावो, **निर्दिश्यते** प्रकाश्यत इत्यर्थः ॥५९॥

अन्वयः— देवताविषये वैशेषिकाणां नैयायिकैः समं भेदो नास्ति, तत्त्वेषु विद्यते असौ निर्दिश्यते ॥५९॥

सुधा—देवताविषये=इष्टदेवतानिर्णये ईश्वरवादे । वैशेषिकाणां—तत्त्वादिविशेषविशिष्टत्वात् वैशेषिकाः, तेषां वैशेषिकाणां=काणादादीनां, नैयायिकैः=अक्षपादैः । समं=सार्द्धम् । भेदः=विशेषः, नास्ति=न विद्यते । तत्त्वेषु=पदार्थनिरूपणेषु । विद्यते=अस्ति भेदः । असौ=भेदः । निर्दिश्यते=कथ्यते इत्यर्थः ॥५९॥

पदार्थ—देवताविषये=इष्टदेवता की मान्यता में । वैशेषिकाणाम्=वैशेषिक—काणाद मत वालों का । नैयायिकैः समम्=न्याय गौतममत वालों के साथ । भेदो नास्ति=भेद नहीं है । तत्त्वेषु=तत्त्वों के निरूपण में । विद्यते=भेद है, अतः । असौ=वह भेद । निर्दिश्यते=बतलाया जा रहा है । न्याय एवं वैशेषिक में इष्टदेवतासिद्धि के विषय में कोई भेद नहीं है, बल्कि तत्त्वों के निरूपण में भेद है । वही यहाँ आगे बतलाया जायगा ॥५९॥

भाषाप्रकाश—न्यायदर्शन आस्तिक व ईश्वरवादी दर्शन है । इसके अनुसार ईश्वर ही परम देवता है और मोक्ष ही जीव का इष्ट है । न्यायदर्शन के रचयिता महर्षि गौतम मुनि थे, जबकि वैशेषिक दर्शन का प्रणयन महर्षि कणाद ने किया है । न्याय दर्शन को पढ़ने के बाद ही वैशेषिक दर्शन के पढ़ने का क्रम है । न्याय में अक्षपाद (गौतम) ने जो पदार्थों का लक्षण व परीक्षा किया उससे और बढ़-चढ़ करके विशेष रूप में महर्षि कणाद ने पदार्थों का विशिष्ट ढंग से निरूपण किया, वही वैशेषिक दर्शन है । न्याय की ही भाँति वैशेषिक भी ईश्वरवादी व मोक्षवादी दर्शन है । देवता (ईश्वर) के विषय में दोनों दर्शन एक मत होते हुए भी तत्त्वनिरूपण के विषय में मतभेद रखते हैं । न्याय दर्शन में सोलह तत्त्व माने गए हैं, जबकि वैशेषिक में छः ही तत्त्व माने गए हैं । न्याय ने सोलह तत्त्वों के ज्ञान से एवं वैशेषिक ने छः तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मानी है । तत्त्वों की विशेष व्याख्या व निरूपण करने के कारण ही यह दर्शन वैशेषिक दर्शन कहा जाता है । जहाँ गौतम ने प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह पदार्थों को तत्त्वज्ञान एवं अपने तर्कशास्त्र अधिकरण बनाया है वहीं महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय—इन ६ पदार्थों को समस्त तत्त्वज्ञान एवं अपने तर्कशास्त्र का अधिकरण बनाया है, फिर भी पञ्चभूत, मन, इन्द्रिय, आत्मा, परमात्मा, सृष्टयुत्पत्ति, धर्म-अधर्म, वेदों की मान्यता आदि विषयों में दोनों ही दर्शन एकमत हैं ।

वैशेषिक दर्शन के संस्थापक व रचयिता महर्षि कणादि थे, जो अपनी उच्चकोटि की साधना, तप और त्याग में विश्वविख्यात थे । अत्यन्त तप और त्याग के कारण राजसम्पदा को ठुकरा करके शिलावृत्ति को ही उन्होंने अपनी आजीविका

बनाई थी। अत्यन्त उच्च कोटि के एक वैज्ञानिक व दार्शनिक का यह त्याग विश्व में अपने-आप में अद्वितीय उदाहरण है। उनका बनाया हुआ वैशेषिक दर्शन विश्व साहित्य का एक बेजोड़ ग्रन्थ है। परमाणुवाद का सिद्धान्त महर्षि कणाद का ही देन है जिसके आधार पर ही विज्ञान ने आज अनेकों अस्त्रों व आयुधों का निर्माण कर लिया है। परमाणु सिद्धान्त के आधार पर विश्व में अनेक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। समस्त वैशेषिक दर्शन सूत्रों में निबद्ध है। इसमें दश अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। उनमें वर्णित विषयों का क्रम निम्नवत् है—

१. प्रथम अध्याय—पदार्थकथन
   प्रथम आह्निक—सामान्य जातिवान,
   द्वितीय आह्निक—सामान्य विशेष।
२. द्वितीय अध्याय—द्रव्यकथन
   प्रथम आह्निक—पृथ्वी आदि,
   द्वितीय आह्निक—दिशा-काल।
३. तृतीय अध्याय—आत्मा-मन
   प्रथम आह्निक—आत्मा,
   द्वितीय आह्निक—मन।
४. चतुर्थ अध्याय—शरीरादि
   प्रथम आह्निक—कार्यकारणभाव,
   द्वितीय आह्निक—शरीर।
५. पञ्चम अध्याय—कर्म,
   प्रथम आह्निक शारीरिक कर्म
   द्वितीय आह्निक—मानसिक कर्म।
६. षष्ठ अध्याय धर्म
   प्रथम आह्निक—दानादि,
   द्वितीय आह्निक—धर्मानुष्ठान।
७. सप्तम अध्याय—गुण-समवाय।
   प्रथम आह्निक—निरपेक्षगुण,
   द्वितीय आह्निक—सापेक्ष गुण।
८. अष्टम अध्याय—प्रत्यक्ष प्रमाण
   प्रथम आह्निक—कल्पनासहित प्रत्यक्ष,
   द्वितीय आह्निक—कल्पनारहित प्रत्यक्ष।
९. नवम अध्याय—अभावहेतु
   प्रथम आह्निक—अभाव,
   द्वितीय आह्निक—हेतु
१०. दशम अध्याय—अनुमान,
   प्रथम आह्निक—अनुभाव,
   द्वितीय आह्निक—अनुमान।

वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद भाष्य, उस पर किरणावली टीका व रावण-भाष्य द्रष्टव्य ग्रन्थ हैं ॥५९॥

[काणादमतम्]

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम्।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥६०॥

तान्येव तत्त्वान्याह—द्रव्यमित्यादिना।

तन्मते वैशेषिकमते, हि निश्चयेन, तत्त्वषट्कं ज्ञेयमिति सम्बन्धः, कथमित्याह द्रव्यं गुण इत्यादि। आदिमतत्त्वं द्रव्यनाम, भेदबाहुल्येऽपि

सामान्यादेकम्, द्वितीयतत्त्वं गुणनाम, तथेति भेदान्तरसूचने, तृतीयं तत्त्वं कर्मसञ्ज्ञम्, चतुर्थकं च तत्त्वं सामान्यम्, चतुर्थसेव चतुर्थकं स्वार्थे कः प्रत्ययः, चः समुच्चये, अन्यच्च विशेषसमवायौ, विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्व इति तद्दर्शने तत्त्वानि षड् ज्ञेयानि ॥६०॥

अन्वयः— तन्मते हि द्रव्यं गुणाः तथा कर्म च चतुर्थकं सामान्यं विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कम् इति ॥६०॥

सुधा— तन्मते=वैशेषिकदर्शने। हि=यतः। द्रव्यं=पृथिव्यादयः। गुणाः=रूपरसादयः। कर्म=उत्क्षेपणादयः। सामान्यं च चतुर्थकं=परापरसत्तास्वरूपं चतुर्थकं तत्त्वमिति। विशेषसमवायौ च=विशेषस्तु पंचमः नित्यः सम्बन्धः समवायः षष्ठमः, हि तत्त्वषट्कम्=षट् पदार्थाः भवन्ति। यथा हि—द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥६०॥

पदार्थ— तन्मते=वैशेषिक दर्शन में। हि=यतः। द्रव्यम्=पृथ्वी आदि नौ द्रव्य। गुणाः=रूप-रस आदि चौबीस गुण। तथा=और। कर्म=उत्क्षेपणादि पाँच कर्म। च=और। चतुर्थकं सामान्यम्=चौथा पदार्थ सामान्य। विशेषसमवायौ=पाँचवाँ विशेष एवं छठा पदार्थ समवाय। तत्त्वषट्कं=छ पदार्थ माने गए हैं। इस शास्त्र के छः पदार्थ ही विचारणीय विषय हैं, जिनके यथार्थ ज्ञान से महर्षि कणादि ने मोक्ष की प्राप्तिरूप फल को कहा है ॥६०॥

भाषाप्रकाश—वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थ माने गए हैं— १. द्रव्य, २. गुण, ३ कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष और ६. समवाय। इन छः पदार्थों का लक्षण आगे के श्लोकों में किया जायगा। सम्पूर्ण वैशेषिक दर्शन में इन छः पदार्थों का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। इन छः पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक ज्ञान कर लेने पर ही निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। यह छः पदार्थ वैशेषिक दर्शन में चिन्तन के आधार हैं, ये ही इस शास्त्र के मूल विषय हैं। समस्त विश्व इन्हीं छः पदार्थों में समाहित है। इनका भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर मनुष्य दुःख, जन्म आवागमन से छूट करके अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है ॥६०॥

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि।
कालदिगात्ममनांसि च, गुणाः पुनश्चतुर्विंशतिधा ॥६१॥
स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः सङ्ख्या विभागसंयोगौ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥६२॥

बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मौ प्रयत्नसंस्कारौ ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥६३॥

भेदानाह—तत्र द्रव्यमित्यादिना ।

नवद्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणाश्च निगदसिद्धान्येव, संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रिविधत्वेऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षयैकत्वम्, शौर्य्यौदार्यादीनां च गुणानामेष्वेव चतुर्विंशतिगुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम् ॥६१-६३॥

अन्वयः—तत्र भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि कालदिगात्ममनांसि नवधा द्रव्य पुनश्च गुणाः चतुर्विंशतिधा स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ परिमाणं पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च **बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मौ** प्रयत्नसंस्कारौ द्वेषः स्नेहः गुरुत्वं द्रवत्ववेगौ एते गुणाः ॥ ६१-६३ ॥

सुधा—तत्र=पदार्थेषु, भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि=पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादीनि; गन्धवती पृथ्वी, शीतस्पर्शवत्यापः, उष्णस्पर्शवत्तेजः, रूपरहितस्पर्शवान् वायुः, शब्दगुणकमाकाशमिति । एतेषां पञ्चभूतानां द्विविधं स्वरूपं नित्यानित्यभेदात् । नित्यं परमाणुरूपम्, अनित्यं कार्यरूपम् । शरीरेन्द्रियविषयभेदात् पुनरपि त्रैविध्यम् । पृथिव्याः शरीरमस्मदादीनाम्, इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति । विषयो मूत्रपाषाणादिः ।

जलस्य शरीरं वरुणलोके; इन्द्रियं रसग्राहकं रसनम् । विषयो सारस्वदादिः । तेजसः शरीरमादित्यलोके, इन्द्रियं रूपग्राहकं नयनं कृष्णातारायवर्ति । विषयः चतुर्विधः—भौमदिव्योदर्याकरजभेदात् । भौमं अग्निरादिकं दिव्यो विद्युदादिः । भुक्तस्य परिणामहेतुरुदर्यं, आकरजं सुवर्णादिः ।

कालदिगात्ममनांसि—परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुः कालः । प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक् । ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति । नवधा द्रव्याणि नवप्रकारकं द्रव्यत्वम्, गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वमिति । पुनश्च=पुनरपि, गुणाः=द्रव्याश्रिताः चतुर्विंशतिधा भवन्ति । स्पर्शरसरूपगन्धाः—त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः, पृथिव्यादि चतुष्टयवृत्तिः, वायोः व्यवस्थितः धर्मः, स च त्रिविधः—शीतः उष्णः अनुष्णाशीतः । वायुपृथिव्योः जले शीतः, तेजसि उष्णः । रसनाग्राह्यो गुणो रसः, स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः । पृथिव्यां षड्विधः, जले मधुर एव । जलस्य व्यवस्थितः धर्मः पृथ्वीजलवृत्तिः, जले सांसिद्धिकः पृथिव्यां नैमित्तिकः । चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्; तेजसि व्यवस्थितः धर्मः । पृथ्वीजलतेजोवृत्तिः । पृथिव्यां जले च नैमित्तिकम्; तच्च शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम् । तत्र भास्वरशुक्लं तेजसि, अभास्वरशुक्लं जले नैमित्तिकम् । घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः, पृथिव्या व्यवस्थितः धर्मः । पृथ्वीमात्रवृत्तिः । गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च । शब्दः—श्रोत्रग्राह्यो गुणो शब्दः, ध्वन्यात्मकः वर्णात्मकश्च, आकाशमात्रवृत्तिः । एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या । विभागसंयोगौ—विभागः संयोगश्च, संयोगनाशको गुणो विभागः; संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । विभागः त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः विभागजश्च । आद्यो यथा मनः कर्मणा आत्ममनसोर्विभागः, द्वितीयो यथा मेषयोः कर्मणा विभागः । विभागजविभागो द्विविधः कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागश्च । आद्यः कपालकर्मणा कपालद्वयविभागः, ततः कपालद्वयसंयोगनाशः, ततो घटनाशः, ततः कपालस्याकाशादिदेशाद्विभागजो विभागः । द्वितीयस्तु कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागः; यथा करतरुविभागात् कायतरुविभागः । संयोगस्त्रिविधः अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः संयोगजश्चेति । आद्यः मनसः कर्मणा आत्ममनसोः संयोगः, द्वितीयः कर्मणा तयोः संयोगः, तृतीयः हस्ततरुसंयोगात् कायतरुसंयोगः । परिमाणम्—मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम् ।

तच्चतुर्विधम्=अणु-महद् ह्रस्वं दीर्घश्च । पृथक्त्वं—पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । परत्वापरत्वे=अधिकदेशवृत्तित्वं परत्वम्, न्यूनदेशवृत्तित्वमपरत्वम् । बुद्धिः=सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो ज्ञानं बुद्धिः । तद्द्विविधं स्मृतिरनुभवश्च । संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः, तद् भिन्नं ज्ञानमनुभवः । स्मृतिः द्विविधा—यथार्था अयथार्था च । तद्वति तत्प्रकारका यथार्था । तदभावा तदप्रकारका अयथार्था । अनुभवोऽपि द्विविधः—प्रमा अयथार्थश्च । प्रमा चतुर्विधा—प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तद्द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति । निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्; सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम् ।

प्रत्यक्षकरणानि षडिन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि । अयथार्थज्ञानमपि चतुर्विधम् । संशयः विपर्ययः स्वप्नः अनध्यवसायश्च । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं संशयः । मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । शुक्तौ रजतमिदमिति । स्वप्नस्तु अनुभूतपदार्थस्मरणैरदृष्टैः धातुदोषेण च जन्यते । अनध्यवसायश्च किंचिदिति ज्ञानं विशेषादर्शनात् भवति । सुखदुःखेच्छा—अनुकूलवेदनीयं सुखम् प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, कामं इच्छा । धर्माधर्मौ—धर्मश्च अधर्मश्च, विहितकर्मजन्यो धर्मः, निषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः । प्रयत्नसंस्कारौ—कृतिः प्रयत्नः, त्रिविधा आद्या जीवनादृष्टजन्या, द्वितीया इच्छाजन्या, तृतीया द्वेषजन्या । जीवनयोनियत्नरूपा प्रवृत्तिः निवृत्तिश्च । संस्कारत्वजातिमान् संस्कारः त्रिविधः—क्रियाजन्यः, भावनाख्यः स्थितिस्थापकश्चेति । आद्यः वेगेन बाणश्चलति, विशिष्टज्ञानजन्यः भावनाख्यः । कारणगुणपूर्वकमजन्यः स्थिति-

११. **प्रसङ्गसमा जाति**—प्रसङ्ग के द्वारा विपक्षी को परास्त करना प्रसङ्गसमा जाति है। जैसे कारण का कारण पूछना, दृष्टान्त का दृष्टान्त पूछना। जैसे किसी ने कहा कि क्रियावान होने से वायु चलती है; इस पर प्रतिवादी कहता है कि वायु क्रियावान क्यों है ?

१२ **प्रतिदृष्टान्तसम**—विपक्षी के द्वारा दिए गए दृष्टान्त के अतिरिक्त दूसरा दृष्टान्त देकर उसे परास्त करना प्रतिदृष्टान्तसम है। उदाहरणार्थ घट के दृष्टान्त से शब्द को अनित्य कहा गया तो आकाश के दृष्टान्त से उसे नित्य सिद्ध करके विपक्षी को परास्त कर दिया।

१३ **अनुत्पत्तिसम**—अनुत्पत्ति के दृष्टान्त से विपक्षी के मत का खण्डन करना अनुत्पत्तिसम जाति है। जैसे किसी ने कहा कि घर के समान उत्पन्न होने के कारण शब्द भी अनित्य हैं तो प्रतिवादी कहता है कि उत्पत्ति से पहले अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न के पश्चात् होने वाला धर्म अनित्यता का कारण नहीं बन सकता, अतएव शब्द नित्य है।

१३ **संशयसमा**—साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति में सन्देह उत्पन्न करनेवाला भाव आ जाय तो संशयसमा जाति हो जाती है। यथा क्या घट के साधर्म्य से एवं उत्पत्तिधर्म वाला होने से शब्द अनित्य है अथवा आकाश से साम्य होने के कारण एवं निरवयव होने के कारण नित्य है।

१४. **प्रकरणसमा**—'उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः' अर्थात् दोनों पक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं, उसकी सिद्धि नित्य व अनित्य के साधर्म्य से होती है। किसी ने कहा कि अनित्य घट के समान होने से शब्द भी अनित्य है; इस पर प्रतिवादी कहता है कि नित्य आकाश के सदृश होने के कारण शब्द नित्य है। इस प्रकार एक पक्ष अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है तो दूसरा पक्ष आकाश के साधर्म्य से नित्य सिद्ध करता है। इसी को प्रकरणसम जाति कहते हैं।

१४. **अहेतुसम**—'त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः' अर्थात् तीनों काल में हेतु को असिद्ध करके विपक्षी के पक्ष का खण्डन करना अहेतुसम कहलाता है। हेतु जो साध्य को सिद्ध करने वाला है, तीनों काल में उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि हेतु को साध्य से पहले मानें तो जब साध्य ही नहीं तो हेतु किसका ? यदि साध्य के पश्चात् मानें तो हेतु के अभाव में वह साध्य किसका था ? यदि साध्य मानें तो कौन किसका साध्य माना जाय ? इस प्रकार विपक्षी के पक्ष को खण्डित कर देना अहेतुसम जाति है।

१६. **अर्थापत्तिसम**—एक बात के कहने से दूसरी बात जो स्वयमेव जान ली जाय उसे अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थापत्ति से विपक्षी के मत का खण्डन कर देना अर्थापत्तिसम जाति है। जैसे कोई कहता है कि उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है तो विपक्षी कहता है कि नहीं स्पर्शरहित होने के कारण शब्द नित्य है।

१८. **अविशेषसम**—किसी एक धर्म के सादृश्य से दो पदार्थों को अविशेष (समान) मानना अविशेषसम जाति है। घट और शब्द उत्पत्तिमान होने के कारण समान हैं, किन्तु इसी के आधार पर घट और शब्द को समान मान लेना अविशेषसम दोष है, क्योंकि और गुणों में इनमें अन्तर है।

१९ **उपपत्तिसम**—उपपत्ति से प्रतिपक्षी के पक्ष का खण्डन करना उपपत्तिसम दोष है। जैसे यदि उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है तो निरवयव होने के कारण नित्य भी है।

२०. **उपलब्धिसम**—किसी नियत कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि करके विपक्षी के पक्ष का खण्डन करना उपलब्धिसम जाति है। जैसे किसी ने कहा कि घट के समान प्रलयजन्य होने के कारण शब्द अनित्य है, इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि बिना प्रयत्न के ही वृक्षों के पत्तों के हिलने से जो शब्द होता है वह भी अनित्य है; अतः आप का यह कहना कि—प्रयत्न होने के कारण शब्द अनित्य है; ठीक नहीं है।

२१. **अनुपलब्धिसम**—अभाव का अभाव मानकर प्रतिपक्षी के पक्ष का खण्डन करना अनुपलब्धिसम दोष होता है। जैसे किसी ने कहा कि प्रलयजन्य होने से शब्द अनित्य है तो इस पर विपक्षी कहता है कि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि आवरण पड़ जाने पर वह उत्पन्न नहीं होता। आवरण के प्रत्यक्ष होने से उसका अभाव मानते हो तो उसके अभाव के प्रत्यक्ष न होने से उसके अभाव का अभाव मानना चाहिए।

२२. **नित्यसमा**—नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना करने से नित्यसमा जाति होती है। उदाहरणार्थ वादी कहता है कि शब्द अनित्य है। इस पर विपक्षी कहता है कि शब्द में अनित्यपना नित्य है कि अनित्य ? यदि कहो कि इसमें नित्यत्व है तो शब्द नित्य हो जायगा। यदि कहो कि अनित्य है तब अनित्यत्व के नित्य होने से शब्द भी नित्य हो जायगा।

२३. **अनित्यसमा**—साधर्म्य से तुल्य धर्म की उत्पत्ति होने पर सब में अनित्यत्व के प्रसंग से अनित्यसम प्रत्यवस्थान कहलाता है; जैसे किसी ने कहा कि अनित्य घट के समान शब्द भी अनित्य है। इस पर विपक्षी कहता है घट भी एक पदार्थ है। उसके साथ साधर्म्य होने से सब पदार्थ अनित्य हैं। इस प्रकार अनित्यत्व के प्रसंग से विपक्षी के मत का खण्डन करना अनित्यसमा जाति है।

२४ कार्यसमा—प्रयत्न व कार्य की अनेकता दिखला करके विपक्षी के मत का खण्डन कर देना कार्यसम दोष है। जैसे किसी ने कहा कि शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होता है। इस पर विपक्षी कहता है कि प्रयत्न तो कई प्रकार के होते हैं। एक तो घड़ा बनानेवाला प्रयत्न है, एक जमीन खोदने का प्रयत्न है। इस प्रकार नाना-प्रकार के प्रयत्न हैं। अब कौन-सा प्रयत्न शब्द के अनित्यत्व में हेतु माना जाय? इस प्रकार संशय उत्पन्न करके विपक्षी के मत का खण्डन कार्यसमा जाति है।।१।।

निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते।
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत् ।। ३२ ।।

दूषणाभासानुक्त्वा निग्रहस्थानमाह- निग्रहस्थानमित्यादिना।

येन केनचिद् रूपेण परो विपक्षो निगृह्यते परवादी वचननिग्रहे पात्यते तन्निग्रहस्थानमाख्यातं कथितमिति, कतिचिद्भेदान् नामतो निर्दिशन्नाह-**प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवद्**। हानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाशब्देन सम्बध्यन्ते, आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति, एतद्दूषण-जालमुत्पाद्यते येन तन्निग्रहस्थानम्।

यदुक्तं—'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'; तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति, अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम्, तद्धि निग्रहस्थानं द्वाविंशतिभेदम्, तद्यथा-प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञाऽन्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकं, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपो, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासः।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगतवतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति, यथा अनित्यः शब्द, ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवति स एवं ब्रुवाणः शब्दनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते ततैव धर्मिणी धर्मान्तरसाधनमभिदधतः प्रतिज्ञाऽन्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, अनित्यः शब्द, ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनैव व्यभिचारेणोदिते यदि ब्रूयाद् युक्तं सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति, सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञाऽन्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञाऽन्तरेण निगृहीतो भवति।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधनाम निग्रहस्थानं भवति, गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति तदयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरुद्धाभिधानात्पराजीयते।

पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणासक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिसंन्यासनाम निग्रहस्थानं भवति यथा—अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह नित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति।

अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्येऽस्य व्यभिचारेण दूषितजातिमत्त्वे सतीत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति।

प्रकृतादर्थान्तरं तदौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरनाम निग्रहस्थानं भवति, नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः, हेतुर्हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्। पदं च नाम तद्धितनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यत इति।

अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकनाम निग्रहस्थानं भवति, यथा नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदबत्त्वाद् झझढधभवदित्येतदपि सर्वथाऽर्थशून्यत्वान्निग्रहणाय कल्पेत साध्यानुपयोगाद्वा।

यत्साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिवारमभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तदाऽविज्ञातार्थनाम निग्रहस्थानं भवति।

पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकनाम निग्रहस्थानं भवति, दश दाडिमानि षडूपा इति।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालनाम निग्रहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात्, पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदेकतमेनानुमानावयवेन हीनं न्यूननाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञाऽऽदीनां पञ्चानामपि साधनत्वात्।

एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकनाम निग्रहस्थानं भवति।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तनाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते, यथा-नित्यः शब्दो

पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते यथा अनित्यः शब्दो, विनाशी ध्वनिरिति, अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषः यथा हेतूपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति ।

पर्षदावेदितस्य वादिभिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणनाम निग्रहस्थानं भवति ।

पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञाननाम निग्रहस्थानं भवति, अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात्, न चाननुभाषणमेवेदं, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् ।

परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभानाम निग्रहस्थानं भवति ।

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपनाम निग्रहस्थानं भवति, सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्तीदं मम करणीयं परिहीयते पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते ।

स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीतिमापादयतो मतानुज्ञानाम निग्रहस्थानं भवति, चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदिहापि कश्चिदाह भवानपि चौर पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितचौरत्वदोषमनुद्धृत्यैव मतानुज्ञया निगृह्यते ।

निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणनाम निग्रहस्थानं भवति, पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्याऽवश्यं नोदनीयः, 'इदन्ते निग्रहस्थानमुपनतं निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते ।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगान्निरनुयोज्यानुयोगनाम निग्रहस्थानं भवति, उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि 'निगृहीतोऽसी'ति यो ब्रूयात्स एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यत इति ।

सिद्धान्तमभ्युपेत्य नियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तनाम निग्रहस्थानम्, यः प्रथमं कञ्चित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपाक्रमत, तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनस्य परोपालम्भो यथा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते ।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् इति, भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति ॥३२॥

सुधा— निग्रहस्थानमाह— **निग्रहस्थानमाख्यातमित्यादिना ।**

अन्वयः येन परः निगृह्यते निग्रहस्थानम् आख्यातम् प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत् ॥३२॥

व्याख्या—येन=केनचिद् रूपेण, परः=विपक्षः परवादी, निगृह्यते=वचननिग्रहे पात्यते, निग्रहस्थानम् आख्यातम्=तन्निग्रहस्थानं कथितम् । निग्रहस्थानभेदान्निरूपयन्नाह—**प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवदिति** । आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति । विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । साधनाभासे साधनबुद्धिः विप्रतिपत्तिः । साधनस्यादूषणं अप्रतिपत्तिः, तन्निग्रहस्थानं द्वाविंशतिभेदम् । प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्—अप्राप्तकालम्-न्यूनम्-अधिकम्-पुनरुक्तम्-अननुभाषणम्-अज्ञानम्-अप्रतिभा-विक्षेपः-मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षणमनिरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासः ।

१. प्रतिदृष्टान्तधर्मस्वीकारे स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः स्वपक्षविरुद्धं प्रतिवादिनः हेतुं दृष्टान्तं वा अभ्युपगमनं प्रतिज्ञाहानिः । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् घटवदिति पक्षे नित्यमपि सामान्यम् ऐन्द्रियमिति न्यायात् यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवति । एवं शब्दनित्यत्वप्रतिज्ञां जहाति ।

२. प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरसाधनमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति, अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् इत्युक्ते सामान्य इन्द्रियविषयकं नित्यम्, अतः तथास्तु शब्दः सोऽयमनित्यः शब्द इति ॥

३. प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधनाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति ।

४. पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते जातिरपि विषयेन्द्रियस्येति प्रतिपक्षसाधने वादी स्वयमेव कथयति कश्च वदति अनित्यः शब्दः एवं प्रतिज्ञां स्वयमेव जहाति ।

५. अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् । यथा परिमाणत्वात् घटस्यैकैव कारणमित्युक्ते परिमाणत्वादपि पदार्थानामनेककारणं दृष्टमिति प्रतिपक्षपरिग्रहे पुनरपि विशेषहेतुमभिदधतः आकारत्वात् घटस्यैकैव कारणमिति हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति ।

६. प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् । यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, तथाहि आकाशे सत्त्वात् शब्दत्वस्य गुणत्वात् ।

७. वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । यथा शब्दः नित्यः क, ख, ग इति वर्णस्वरूपात् ।

८ परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् । अविज्ञातमर्थं परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिवारं पृष्टोऽपि यदि बोद्धुं न शक्यते तदा अविज्ञातार्थेन निगृह्यते ।

९. पौर्वापर्ययोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् । पूर्वापरवाक्यासम्बन्धात् प्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा दश दाडिमान् षडपूपा मधु चमं सिंहादिः ॥

१०. अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्याव्यवस्थितानुमानवाक्यमप्राप्तकालनाम निग्रहस्थानं भवति ।

११. हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् । प्रतिज्ञादिपञ्चावयववाक्येषु एकमपि वाक्यं हीनं न्यूननाम निग्रहस्थानं भवति ।

१२. हेतूदाहरणमधिकमधिकम् । प्रतिज्ञादिपञ्चावयववाक्येषु एकमप्यधिकं वाक्यमाधिक्यनाम निग्रहस्थानं भवति ।

१३. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् केनापि प्रयोजनेन द्विवारमधिकं वानुवादः तदन्यत्र द्विवारं वारं-वारं वा कथनं पुनरुक्तनाम निग्रहस्थानं भवति अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनमिति ।

१४. विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ।

१५. अविज्ञातञ्चाज्ञानम् । अविज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यानुच्चारणमज्ञानम् ।

१६ उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।

१७. कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः । अधुना स्वकार्यं कृत्वा पुनरप्यागत्य वदिष्यामीति ।

१८ स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञानाम निग्रहस्थानं भवति ।

१९. निग्रहस्थानप्राप्तस्याननिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणनाम निग्रहस्थानं भवति ।

२०. अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।

२१ सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ।

२२. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालेति पञ्च हेत्वाभासाः पक्षकाः ॥३२॥

पदार्थ यैन=जिससे। परः=दूसरे पक्ष वाला, प्रतिवादी। निगृह्यते=पकड़ में आ जाय, रोक दिया जाय। निग्रहस्थानम्=उसे निग्रहस्थान। आख्यातम्=कहा गया है। प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत्=प्रतिज्ञा-हानि आदि निग्रहस्थान के बाइस भेद होते हैं ॥३२॥

भाषाप्रकाश—जिनमें पड़कर वादी और प्रतिवादी निगृहीत (परास्त) हो जाते हैं उन्हें निग्रहस्थान कहते हैं। वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए निग्रहस्थान की जानकारी परमावश्यक है। न्यायदर्शन का यह अन्तिम सोलहवाँ पदार्थ (ज्ञेय विषय) है। निग्रहस्थान के बाइस भेद होते हैं—१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३ पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त और २२. हेत्वाभास ॥

१. प्रतिज्ञाहानि—अपने पक्ष के विरुद्ध प्रतिवादी द्वारा दिए गए हेतु अथवा दृष्टान्त को स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानिनामक निग्रहस्थान कहलाता है; क्योंकि परपक्ष को स्वीकार करने का तात्पर्य है—अपने पक्ष की हानि ।

जैसे वादी ने प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय का विषय होने के कारण घट की भाँति शब्द भी अनित्य है । इस पर प्रतिवादी उत्तर देता है कि सामान्य जाति भी इन्द्रिय का विषय है और जैसे वह नित्य है वैसे ही शब्द भी नित्य है । इस पर वादी कहता है कि यदि इन्द्रियविषय जाति नित्य है तो शब्द भी नित्य होगा ।

२. प्रतिज्ञान्तर—अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन होने पर उसका समाधान न करके कोई दूसरी प्रतिज्ञा कर बैठना प्रतिज्ञान्तरनामक निग्रहस्थान है । जैसे वादी ने यह प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय का विषय होने से घट की तरह शब्द भी अनित्य है, इस पर प्रतिवादी कहता है कि जाति यद्यपि इन्द्रिय का विषय है, फिर भी जिस प्रकार वह नित्य है उसी तरह शब्द भी नित्य है । इस पर वादी अपनी प्रतिज्ञा को बदल देता है और कहता है कि शब्द सर्वगत नहीं है, इसलिए वह अनित्य है ।

३. प्रतिज्ञाविरोध—प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध से प्रतिज्ञाविरोधनामक निग्रहस्थान होता है । किसी ने प्रतिज्ञा की कि द्रव्य गुण से भिन्न है । इस पर हेतु दिया कि रूपादि के अतिरिक्त किसी वस्तु की उपलब्धि न होने से । यहाँ पर प्रतिज्ञा व हेतु परस्पर विरुद्ध हैं ।

४. प्रतिज्ञासंन्यास—जो प्रतिज्ञा की हो उसका खण्डन हो जाने पर उसे छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है । जैसे वादी ने कहा कि इन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है । इस पर प्रतिवादी कहता है कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है, किन्तु वह नित्य है । इस पर वादी कहता है कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है ।

५. हेत्वन्तर—अपने पक्ष की पुष्टि में जो सामान्य हेतु दिया गया उसका खण्डन हो जाने पर पुनः विशेष हेतु की इच्छा करना हेत्वन्तरनामक निग्रहस्थान कहलाता है । जैसे वादी ने कहा कि घट परिमाण वाला होने के कारण एक कारण वाला है । इस पर प्रतिवादी इस हेतु का खण्डन करता है कि अनेक कारण वाले पदार्थों का भी परिमाण देखने को मिलता है; इस पर वादी पुनः कहता है कि आकारवान होने के कारण घड़ा एक कारण वाला है ।

६. **अर्थान्तर**— जिस बात को सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा की गई हो उसे छोड़ करके ऐसी बात को सिद्ध करना जिससे कोई सम्बन्ध न हो, अर्थान्तरनामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर यह कहना कि शब्द गुण है, वह आकाश में रहता है।

७ **निरर्थक**— जिन शब्दों का कोई अर्थ न हो उनका उच्चारण करना निरर्थकनामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है और उसकी सिद्धि में हेतु यह दे कि क ख ग घ आदि वर्ण वाला होने से।

८ **अविज्ञातार्थ**— वादी किसी बात को ऐसे शब्दों में कहे जिसे कोई समझ ही न सके। सभा और प्रतिवादी के तीन बार कहने पर भी वादी यदि अपने आशय व सिद्धान्त को स्पष्ट नहीं करता तो यह अविज्ञातार्थनामक निग्रहस्थान माना जाता है। इसमें यह मान लिया जाता है कि वादी जो कुछ कह रहा है, उसे वह स्वयं नहीं समझता है।

९ **अपार्थक**— जिस कथन में पूर्व-पर वाक्य व अर्थ का कोई सम्बन्ध न हो उसे अपार्थकनामक निग्रहस्थान कहते हैं; जैसे किसी ने कहा—दस घोड़े पन्द्रह सेब लाल सिंह आदि।

१०. **अप्राप्तकाल**— प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरणादि पाँचों अवयवों को क्रमपूर्वक न कहकर उलटा—अव्यवस्थित रूप में कहना अप्राप्तकालनामक निग्रहस्थान कहलाता है।

११. **न्यून**— प्रतिज्ञादि जो पाँच वाक्य के अवयव हैं, उनमें से किसी को पूरा न कहकर अवसर चूक जाना न्यूनता नामक निग्रहस्थान होता है।

१२ **अधिक**— जहाँ एक ही हेतु व दृष्टान्त से काम चल जाय वहाँ अनेक हेतु व दृष्टान्त देना अधिकनामक निग्रहस्थान होता है।

१३. **पुनरुक्त**—किसी प्रयोजन से कोई बात दो बार अथवा अधिक बार कही जाय तो उसे अनुवाद कहते हैं। अनुवाद को छोड़ करके किसी बात को बार-बार कहना पुनरुक्तनामक निग्रहस्थान है। एक ही अर्थ का जिस शब्द व वाक्य से बोध हो जाय उसी अर्थ का फिर दूसरे शब्दों व वाक्यों द्वारा वर्णन करना पुनरुक्त कहलाता है।

१४. **अननुभाषण**— जाने हुए विषय को सभा के तीन बार पूछने पर भी नहीं प्रकट करना अननुभाषणनामक निग्रहस्थान कहलाता है।

१५. **अज्ञान**—प्रतिवादी द्वारा तीन बार बतलाए जाने पर भी किसी विषय को न समझना अज्ञानरूप निग्रहस्थान है।

१६. **अप्रतिभा**—प्रतिपक्षी के आक्षेप का किसी कारणवश उत्तर न दे पाना अप्रतिभानामक निग्रहस्थान है।

१७. **विक्षेप**—किसी कार्य के बहाने से वाद-विवाद को टाल देना विक्षेप-नामक निग्रहस्थान है।

१८. **मतानुज्ञा**— अपने पक्ष में प्रतिवादी ने जो दोष लगाया है उसका निवारण न करके उल्टे उसके पक्ष में वही दोषारोपण कर देना मतानुज्ञानामक निग्रहस्थान कहलाता है।

१९ **पर्यनुयोज्योपेक्षण**—जो निग्रहस्थान में पड़ गया उसे यह न बतलाना कि 'अमुक निग्रहस्थान में पड़े हो' पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

२०. **निरनुयोज्यानुयोग**— जो किसी निग्रहस्थान में न आया हो उसे भी निगृहीत बतलाना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है।

२१. **अपसिद्धान्त**— किसी सिद्धान्त को मान करके फिर उसके विरुद्ध बोलना अपसिद्धान्तनामक निग्रहस्थान होता है।

२२. **हेत्वाभास**—वाद-विवाद में ऐसा हेतु दिया जाय जो हेतु न हो, बल्कि केवल हेतु जान पड़े उसे हेत्वाभासनामक निग्रहस्थान कहते हैं ॥३२॥

नैयायिकमतस्यैवं समासः कथितोऽधुना।
साङ्ख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥३३॥

अथोपसंहरन्नाह नैयायिकमतस्यैवमित्यादिना।

एवम् इत्थं प्रकारतया नैयायिकमतस्य शिवशासनस्य समासः संक्षेपोऽधुना कथितो निवेदितः साम्प्रतमेव निष्ठित इत्यर्थः।

इदानीं पुनरयं समासः सांख्याभिमतभावानाम् उच्यते, सांख्याः कापिला इत्यर्थः। तदभिमता तदभीष्टा ये भावाः पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषां संक्षेपोऽतः परं कथ्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—एवम् नैयायिकमतस्य समासः अधुना कथितः। इदानीम् अयं सांख्याभिमतभावानां उच्यते।

सुधा— एवम्=इत्थं प्रकारतया, नैयायिकमतस्य=अक्षपाददर्शनस्य, समासः=संक्षेपः, अधुना=इदानीं, कथितः=निवेदितः, इदानीम्=अतः परम्, अयं=पुरोहितम्, सांख्याभिमतभावानाम्—सांख्याः=कापिलाः, तदभिमता=तदभीष्टा, ये भावाः=पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषां संक्षेपोऽतः परं कथ्यते इत्यर्थः ॥३३॥

पदार्थ— एवम्=इस प्रकार। नैयायिकमतस्य=न्यायदर्शन का। समासः=संक्षिप्त वर्णन। अधुना=अब। कथितः=किया गया। इदानीम्=अब। अयं=इसके आगे। सांख्याभिमतभावानां=सांख्यदर्शन के सिद्धान्त। उच्यते=कहे जाते हैं ॥३३॥

भाषाप्रकाश—अबतक न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया। महामुनि गोतम का बनाया हुआ न्यायदर्शन अपने ढंग का विश्व साहित्य में

अद्वितीय तर्कशास्त्र है, जिसमें सोलह पदार्थों का उद्देश्य एवं उनका लक्षण वर्णित है और पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्षपूर्वक शंका-समाधान शैली से उनकी परीक्षा भी की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में न्यायदर्शन के सम्मत सोलहों पदार्थों का उद्देश्य एवं लक्षण निरूपित किया गया है किन्तु विस्तारभय से न्यायदर्शनसूत्रों की भाँति परीक्षा नहीं की गई है; इसी का ग्रन्थकार ने "समासः कथितोऽधुना" कहा है, किन्तु टीका में षोडश पदार्थों की परीक्षा सम्बन्धी बहुत से अंशों का उल्लेख कर दिया गया है ताकि यदि [illegible] न्यायदर्शन का मौलिक ग्रन्थ (सूत्र) पढना चाहें तो सरलता से उन्हें बोध हो जाय। जो लोग न्यायदर्शन का विस्तृत व गहन अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें महर्षि गोतम-रचित न्याय दर्शन देखना चाहिए, जो कि सूत्रों में निबद्ध है और [illegible] का मौलिक आदिग्रन्थ है। महर्षि गोतम ही न्याय दर्शन के संस्थापक व [illegible]। भूमण्डल में न्याय दर्शन एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इन सूत्रों पर [illegible] मुनि का भाष्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उद्योतकर का लिखा न्याय-[illegible] भी बड़ा योग्य ग्रन्थ है, जो कि सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर देने वाला है।

सांख्यदर्शन

न्याय दर्शन के बाद सांख्य दर्शन के सिद्धान्त का अब संक्षेप में वर्णन करेंगे। सांख्य दर्शन के कर्ता व संस्थापक महामुनि कपिल हैं। इतिहास व पुराणों के आधार पर इनका जीवनकाल कई हजार वर्ष पूर्व निश्चित होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह ईश्वरवादी थे तो कुछ के अनुसार अनीश्वरवादी। महर्षि कपिल का बनाया हुआ सांख्य दर्शन सूत्ररूप में है, जो कि छ अध्यायों में निबद्ध है और जिसमें कुल ५३७ सूत्र हैं। सांख्यसूत्रों पर अनिरुद्ध की वृत्ति और विज्ञानभिक्षु का भाष्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। सांख्यसूत्रों के अतिरिक्त महर्षि कपिल का बनाया हुआ तत्त्वसमास ग्रन्थ भी है, जिसमें सूत्र तो केवल २२ ही हैं, किन्तु इन्हीं में संक्षेप में सांख्य का ज्ञान भर दिया गया है। तत्त्वसमास पर अनेक टीकाएँ सांख्यसंग्रह नामक ग्रन्थ में संकलित हैं। ईश्वरकृष्ण की लिखी हुई सांख्यकारिका एवं उस पर वाचस्पति मिश्र की लिखी सांख्यतत्त्वकौमुदी टीका सांख्य दर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वेदों से लेकर पुराणों तक सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में सांख्य का ज्ञान ओत-प्रोत है। सांख्यसिद्धान्तों के बिना भारतीय दर्शन टिक ही नहीं सकता। यहाँ तक कि बौद्ध, जैन आदि दर्शन भी सांख्य के ज्ञान से प्रभावित दिखाई देते हैं।

भारतीय दर्शन में सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों की महती प्रतिष्ठा है तथा जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से भी यह अधिक ग्राह्य है। कहा भी गया है कि "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्" अर्थात् सांख्य शास्त्र के समान न तो कोई ज्ञान है और न ही योग के समान कोई दूसरा बल है। यहाँ तक कहा गया है कि—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र-कुत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

अर्थात् पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान करानेवाला जो सांख्य शास्त्र है उसे जाननेवाला चाहे जिस आश्रम में हो, चाहे वह जटा वाला हो, चाहे सिर मुड़ाए हो, चाहे शिखी हो, चाहे जिस देश में हो, सांख्य के ज्ञान के प्रभाव से वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

आधुनिक युग में रूस जैसे साम्यवादी देश में भी सांख्य दर्शन अत्यन्त लोकप्रिय बनता जा रहा है और तमाम भाषाओं में सांख्य दर्शन का अनुवाद भी कराया जा रहा है॥३३॥

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः॥३४॥

दर्शनस्वरूपमाह—**साङ्ख्या इत्यादिना।**

केचित्सांख्या निरीश्वरा ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवेदिनः, केचित्पुनरीश्वरदेवता महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः— सर्वेषामिति। तेषां केवलनित्यात्मवादिनामीश्वरदेवतानां च सर्वेषां सांख्यमतानुसारिणां शासने तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात्, तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकं बीजमिति सर्ववादिसंवादः। यदुक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

तन्मते पञ्चविंशतिस्तत्त्वानीत्यर्थः॥३४॥

अन्वय—केचित् सांख्याः निरीश्वराः केचिदीश्वरदेवताः तेषां सर्वेषां तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात्॥३४॥

सुधा केचिन् सांख्याः=केचित् सांख्यमतवादिनः। निरीश्वराः=ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते। केचित्=केचित् सांख्यमतवादिनः। ईश्वरदेवताः=ईश्वरं देवतया मन्यन्ते। तेषाम्=सांख्यमतवादिनाम्। सर्वेषाम्=सेश्वरनिरीश्वरमतवादिनाम् मते। तत्त्वानाम्=पदार्थानाम्, संख्या पञ्चविंशतिः स्यात्, यथा हि सांख्यदर्शने यदुक्तम्।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

एवमेव—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ।।

स्थूलात् चाक्षुषात् पञ्चतन्मात्रस्य बाह्याभ्यान्ताराभ्यां तैश्चाहंकारस्य तेनान्तः-करणस्य ततः प्रकृतेः महतपरार्थत्वात् पुरुषस्य सिद्धिर्भवति ।

द्विविधं सांख्यमतं सेश्वरनिरीश्वरभेदात् । द्वयोरपि मते प्रधानं चोपादानं पुरुषः परम कारणम् । सेश्वरसांख्यमते निर्गुणः सर्वव्यापकः सर्वज्ञः कर्तृत्वाभिमान-रहितः अकर्ता ब्रह्मरूपः परमपुरुषविशेषश्चेश्वरः नास्तीश्वरः जगत्कर्ता अपितु परमपुरुषः चैतन्यमयश्चानन्दमयश्च पुरुषस्य परास्थितिरिति । ईश्वरविषये सांख्य-दर्शने प्रमाणदर्शनात्; यथा—

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासनासिद्धस्य वा—अ० १, सू० ९५ ।।
तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्—अ० १, सू० ९६ ।।
सिद्धरूपवोद्वत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः — अ० १, सू० ९८ ।।

यद्यपि सांख्यदर्शने स्पष्टतया ईश्वरसिद्धेः डिण्डिमः नैव दृश्यते तथापि प्रकृतेः क्रियमाणत्वात् पुरुषसाधनात् कैवल्यस्वरूपनिरूपणात् श्रुतिसामान्यात् श्रुतिप्रमाणग्रहणात् परपुरुषत्वेनानन्दस्वरूपस्य परमात्मनः सिद्धिरिति ।

सांख्यदर्शने कपिलमुनिना स्पष्टतया ईश्वरस्य सत्ता स्वीक्रियते; यथा—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता—अ० ३, सू० ५६ ।।
ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा—अ० ३, सू० ५७ ।।
ईश्वरासिद्धेः—अ० १, सू० ९२ ।।
नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः—अ० ५, सू० २ ।।
स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्—अ० ५, सू० ३ ।।
लौकिकेश्वरवदितरथा—अ० ५, सू० ४ ।।
पारिभाषिको वा—अ० ५, सू० ५ ।।
न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् —अ० ५, सू० ६ ।।
तदयोगेऽपि न नित्यमुक्तः—अ० ५, सू० ७ ।
प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः—अ० ५, सू० ८ ।।
मन्त्रमात्राच्चेत् सर्वेश्वर्यम् —अ० ५, सू० ९ ।।
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः—अ० ५, सू० १० ।।
सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—अ० ५, सू० ११ ।।

श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य—अ० ५, सू० १२ ।। इत्यादि सांख्यसूत्रैः सांख्यदर्शनस्य निरीश्वरवादित्वं प्रतिपाद्यते ।।

वस्तुतस्तु न्यायवैशेषिकयोः पदार्थनिरूपणानन्तरम् ततः परं तत्त्वज्ञानं सांख्यदर्शनस्य प्रकृतिपुरुषज्ञानम् । प्रकृतिपुरुषविवेक एव सांख्यशास्त्रस्य मुख्यविषयः ततः परं ईश्वरादिविषयकमाध्यात्मिकं ज्ञानं योगे वेदान्ते च प्रतिपादितम् । सांख्यदर्शने प्रधानस्य कर्तृत्वमेव प्रतिपाद्यते । अधिष्ठातृत्वं कर्तृत्वं ईश्वरत्वञ्च प्रधाने एव मन्यते असङ्गोऽयं पुरुषः । अस्त्यात्मानास्तित्वसाधनाभावात् । आत्मतत्त्व-निरूपणे जीवात्मपरमात्मभेदात् परमेश्वरस्य सिद्धिर्भवति । अतः सांख्यदर्शने प्रकृति-पुरुषयोः एव निरूपणात् सेश्वरवादनिरीश्वरवादयोः द्वैविध्यं व्यर्थमिति ।। ३४ ।।

पदार्थ—केचित् सांख्याः=कुछ सांख्यमत के विद्वान् । निरीश्वराः=ईश्वर को नहीं मानते । केचित्=कुछ विद्वान् । ईश्वरदेवताः=ईश्वर को स्वीकार करते हैं । तेषां सर्वेषाम्=ईश्वरवादी व निरीश्वरवादी सभी सांख्य मत माननेवाले । तत्त्वा-नाम्=सांख्यसम्मत पदार्थों का भेद । पञ्चविंशतिः=पच्चीस संख्या । स्यात्=मानते हैं ।।३४।।

भाषाप्रकाश—कुछ लोग सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी मानते हैं तथा कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि सांख्य ईश्वरवादी दर्शन है; किन्तु सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में उपरोक्त मतभेद भ्रमवश ही है । सांख्य दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रकृति और पुरुष है । जगत का कर्तृत्व मूल प्रकृति में माना गया । पुरुष स्वरूप से तो असंग व निर्लिप्त है, किन्तु प्रकृति के संयोग से वह जन्म लेता है, सुखी और दुखी होता है । जब पुरुष को प्रकृति के स्वरूप का विवेक हो जाता है तो वह सुख-दुःख, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पा जाता है और मुक्त हो जाता है । अन्य शास्त्रों में जहाँ ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया गया है वहाँ सबसे पहले उसे संसार को बनानेवाला एवं पालन करनेवाला कहा गया है, किन्तु सांख्य दर्शन में जगत का कर्तृत्व प्रधान अथवा मूलप्रकृति में माना गया है एवं पुरुष (आत्मा) को असंग बतलाया गया है—'असंगोऽयं पुरुषः' । साथ ही पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से ऐश्वर्य व अधिष्ठातृत्व माना गया है—"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" ।

निम्नलिखित सूत्रों द्वारा ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन किया गया है—

ईश्वरासिद्धेः—अ० १, सू० ९२ अर्थात् ईश्वर की असिद्धि होने के कारण; नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पतिः कर्मणा तत्सिद्धेः—अ० ५, सू० २ अर्थात् सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि कर्मों के फल ईश्वर द्वारा नहीं प्रतिपादित होते, क्योंकि सुख-दुःख-भोग तो कर्म से सिद्ध होते हैं ।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् । लौकिकेश्वरवदितरथा—अ० ५, सू० ३-४ ।।

अर्थात् यदि यदि यह कहा जाय कि अपने (पुरुष) उपकारार्थ वह कर्मफल देता है तो वह भी सांसारिक स्वार्थी ईश्वर हो जायगा । यदि उसे सांसारिक ही मान लिया जाय तो—

पारिभाषिको वा—अ० ५, सू० ५ अर्थात् वह ईश्वर नाममात्र का हो जायगा। न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्—अ० ५, सू० ६ अर्थात् बिना राग के कर्मफल देने का कार्य सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी कर्मफल के कारण नियत होते हैं।

यदि मान लिया जाय कि राग-द्वेषवश वह कर्मफल देता है तो 'तदयोगेऽपि न नित्यमुक्तः'—अ० ५, सू० ७ अर्थात् वह नित्य मुक्त नहीं माना जा सकता।

यदि यह माना जाय कि प्रधान (मूलप्रकृति) की शक्ति के द्वारा वह कर्मफल देता है तो प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः—अ० ५, सू० ८ अर्थात् मूलप्रकृति (प्रधान) के सभी दोष ईश्वर में आरोपित होंगे।

यदि यह माना जाय कि सत्तामात्र से वह कर्मफल देता है तो सत्तामात्राच्चेत् सर्वेश्वर्यम्—अ० ५, सू० ९ अर्थात् सभी पुरुषों में ईश्वरत्व आ जायगा। अतः प्रमाण के अभाव में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। कहा भी है कि प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः'—अ० ५, सू० १०।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—अ० ५, सू० ११ अर्थात् व्याप्ति न होने के कारण अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य—अ० ५, सू० १२ अर्थात् श्रुति (वेद में) भी प्रधान मूल प्रकृति को ही संसार का कारण माना गया है और जगत उसी का कार्य है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा भी गया है

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

सत्त्व-रज-तम गुणवाली नित्या एक स्वरूपवाली मूल प्रकृति है, जिसने बहुत-सी प्राणियों को उत्पन्न किया है। एक पुरुष, जो इसका भोग करता है और दूसरा जिसने इसका भोग कर लिया है वह, इसे छोड़ता है।

इस प्रकार उपरोक्त सूत्रों के आधार पर सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी सिद्ध किया गया है। इसके अनुसार ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है और कर्मफल भी ईश्वर नहीं देता।

ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन करते हुए जहाँ एक ओर निरीश्वरवाद की स्थापना की गई है वहीं इसी सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता भी मानी गई है, जिसके आधार पर सेश्वर सांख्य विचारधारा की स्थापना होती है।

मुक्तात्मनः प्रसंशा उपासनासिद्धस्य वा—अ० १, सू० ९५ अर्थात् मुक्त आत्माओं की प्रसंशा तथा उपासना और योग के द्वारा साक्षात्कार करने से ईश्वर की सिद्धि होती है।

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता—अ० ३, सू० ५६ अर्थात् वह सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है। ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा—अ० ३, सू० ५७ अर्थात् इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि हो गई।

अब दोनों विचारधाराओं के समन्वय से ही महर्षि कपिल के दृष्टिकोण का निश्चय हो सकता है। वास्तव में सांख्य दर्शन जगत् का मूल उपादान कारण प्रधान (मूल प्रकृति) को मानता है और कर्तृत्व भी उसी में स्वीकार करता है, लेकिन ईश्वर की सत्ता का खण्डन नहीं करता। पुरुष के अन्तर्गत ही ईश्वर की मान्यता है। वह असंग एवं निर्लेप है तथा परम पुरुष है। प्रकृति से परे है एवं योगगम्य है। क्रिया, कर्मफल एवं संसार के कर्तृत्व से परे है और परम चैतन्य है। उसी के सन्निधान से प्रकृति में कर्तृत्व रहता है।

सांख्यदर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं, जिनके विवेक से पुरुष प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है। सत्त्व, रज व तम स्वभाववाली प्रकृति जगत का मूल कारण है। जब उसमें यह तीनों गुण असमान (विषम) हो जाते हैं तो जगत की रचना का प्रारंभ होता है। सबसे पहले महत्तत्त्व का निर्माण होता है। यह आदि द्रव्य है, जो जड़-चेतन का आधार है। योगीजन योगाभ्यास द्वारा इस तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। यही समस्त द्रव्यों तथा सभी क्रियाओं का मूलाधार है। पुरुष का चैतन्य स्वभाव जब इससे संयुक्त हो जाता है तो अहंकार की उत्पति होती है। अहंकार की उत्पत्ति में पुरुष आत्मा का चैतन्य एवं जड़ महत्तत्त्व ही कारण हैं।

अहंकार से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श एवं शब्द—यह पाँच तन्मात्रायें (सूक्ष्म दिव्य-महाभूत) उत्पन्न होते हैं। फिर इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—रूप से चक्षु, रस से जिह्वा, गन्ध से नासिका, स्पर्श से त्वचा और शब्द से कान उत्पन्न होते हैं। फिर इन्हीं से गुदा, लिंग, हाथ, पैर, वाणी—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पञ्च तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। रूप से तेज, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, स्पर्श से वायु एवं शब्द से आकाश उत्पन्न होते हैं। फिर सबका संग्राहक मन उत्पन्न होता है और पुरुष (आत्मा) चैतन्यमय पच्चीसवाँ तत्त्व है, जिसके संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिका में भी बतलाया गया है कि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुषः॥

१. मूल प्रकृति—जो किसी की विकृति नहीं है।

२. सात विकृतियाँ—१. महत्तत्त्व, २. अहंकार, ३. रूप, ४. रस, ५. गन्ध, ६. स्पर्श और ७. शब्द।

३. सोलह विकार—१ पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४ वायु, ५. आकाश, ६. नेत्र, ७. जिह्वा, ८. नासिका, ९. त्वचा, १०. कान, ११ गुदा, १२. उपस्थ, १३. हाथ, १४ पैर, १५ वाणी और, १६. मन।

पुरुष=पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है, जो प्रकृति और विकृति से भिन्न है ॥ यही सांख्य के पच्चीस तत्त्व हैं ॥३४॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥३५॥

१ गुणत्रयमाह—सत्त्वमित्यादिना।

तावदिति प्रक्रमे, सत्त्वरजस्तमश्चेति गुणत्रयं ज्ञेयम्, तद् गुणत्रयं क्रमेण परिपाटया, प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं गुणत्रयेणेदं लिङ्गत्रयं क्रमेण जन्यते, सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यं लिङ्गं,—वदननयनादिप्रसन्नता सत्त्वगुणेन स्यादित्यर्थः। रजोगुणेन तोषः, स चानन्दपर्यायः, तल्लिङ्गानि स्फूर्त्यादीनि रजोगुणेनाभिव्यज्यन्त इत्यर्थः। तमोगुणेन च दैन्यं जन्यते, हा दैव ! नष्टोऽस्मि वञ्चितोऽस्मीत्यादिवदनविच्छायतानेत्रसङ्कोचादिव्यङ्ग्यं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति। दैन्यादीत्यादिशब्देन दुःखत्रयमाक्षिप्यते, तद्यथाऽऽध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं चेति।

तत्राध्यात्मिकं द्विविधं—शारीरं मानसं च, शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनं, सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकमिति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तावत् सत्त्वं रजः तमः च इति गुणत्रयम् ज्ञेयम्। तत् क्रमेण प्रसादतोषदैन्यादि कार्यलिङ्गम् ॥३५॥

सुधा—तावत्=प्रक्रमे सत्त्वरजस्तमश्चेति। गुणत्रयम्=मूलप्रकृतेः गुणम्। ज्ञेयम्=ज्ञातव्यम्। तत् क्रमेण=परिपाटया। क्रमानुसारमिति सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यलिङ्गम् मुखनयनादि प्रसन्नता, रजोगुणेन तोषः=आनन्दः, स्फूर्त्यादीनि। तमोगुणेन दैन्यं जायते=हा दैव नष्टोऽहम्, दैन्यं=दुःखत्रयम्, आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकम्, आध्यात्मिकम् द्विविधं शारीरं मानसञ्च। शारीरं वातपित्तकफजन्यम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शनम्। आधिभौतिकम्=मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकम्—यक्षराक्षसग्रहावेशनिमित्तमिति ॥३५॥

पदार्थ—तावत्=अब इसके बाद तत्त्वनिरूपण करेंगे। सत्त्वम्=सत्त्व। रजः=रज। तमः=तम। च इति=इतने। गुणत्रयम्=मूलप्रकृति के तीन गुण। ज्ञेयम्=जानना चाहिए। प्रसाद=प्रसन्नता, तोष=आनन्द, दैन्यादि=दीनता आदि, त्रिविध दुःख। तत्=गुणों के। क्रमेण=क्रमशः। कार्यलिङ्गम्=कार्यरूप चिह्न होते हैं ॥३५॥

भाषाप्रकाश—अब सांख्य दर्शन की सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करते हैं। सांख्य दर्शन में सबका मूल प्रकृति को माना गया है, उसका कोई मूल नहीं—'मूले मूलाभावादमूलमुक्तम्'। वह किसी की विकृति नहीं है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। उसके विकार महान् से भी महान् हैं। उसमें तीन गुण विद्यमान हैं—सत्त्व, रज और तम। यह तीनों गुण जब समान रहते हैं तो वह मूल प्रकृति अपनी स्वाभाविक दशा में रहती है। तब न तो विकृतियाँ होती हैं और न विकार; न तो यह स्थूल जगत ही रहता है। जब यह तीनों गुण असमान (विषम) हो जाते हैं तो उससे सात विकृतियाँ होती हैं। फिर उससे सोलह विकार उत्पन्न होते हैं, वही यह संसार है। विकृतियों और विकारों के कारण सत्त्व, रज और तम गुण हैं। समस्त संसार इन्हीं तीन गुणों से व्याप्त है। गीता में कहा भी गया है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

मारा संसार सत्त्व, रज और तम गुणों के भावों से उत्पन्न है। इनसे मोहित हुआ जीव मुझ अव्यक्त परमात्मा को नहीं जानता। तीनों गुण जब विषम होते हैं तो महत्तत्त्वनामक आदितत्त्व उत्पन्न होता है। इसमें तीनों गुण विषम अवस्था में रहते हैं। सत्त्व गुण परम प्रकाश के रूप में, रजोगुण शक्ति और गति के रूप में एवं तमोगुण स्थिति के रूप में रहता है। इस प्रकार महत्तत्त्व में दिव्य प्रकाश, दिव्य शक्ति एवं स्थितिस्थापकता का गुण होता है। सम्पूर्ण सृष्टि बीजरूप से इसी में निहित रहती है। पुरुष (आत्मा) इससे मोहित होता है; उसका चैतन्य महत्तत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है और उसी से अहंकार उत्पन्न होता है। यह प्रकृति-पुरुष का प्रथम संयोग है। पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप में न स्थित रहकर महत्तत्त्व को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। इसी अविवेक से अहं भाव की उत्पत्ति होती है। फिर सत्त्व गुण से रूप और शब्द, रजोगुण से स्पर्श और रस तथा तमोगुण से गन्ध—यह पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। यही प्रकृति की सात विकृतियाँ हैं। फिर इनसे सोलह विकार उत्पन्न होते हैं।

सत्त्वगुण के विकृति शब्द और रूप से आकाश और तेज उत्पन्न होते हैं। रजोगुण के विकृति स्पर्श और रस से वायु और जल उत्पन्न होते हैं। तमोगुण के विकृति गन्ध से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है,

स्थापकश्च । द्वेषः=क्रोधः स्नेहद्रवत्वे=चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः । आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम् । गुरुत्वदेगौ—आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम् । पृथ्वीजलवृत्तिः द्रवत्वं, पृथ्वीजलतेजो वृत्तिः, स्नेहो जलमात्रवृत्तिः संस्कारः । पृथ्वीजलतेजोवाय्वात्ममनोवृत्तिः । वेगः—चलतीति क्रियाजन्यः, पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः ॥६१-६३॥

पदार्थ— तत्र=वैशेषिकमत में । भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि=पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश । कालदिगात्ममनांसि=काल, दिशा, आत्मा और मन । नवधा=नौ प्रकार का । द्रव्यम्=द्रव्य माना गया है । पुनश्च=फिर । गुणाः=गुण । चतुर्विंशतिधा=चौबीस प्रकार के माने गए हैं । स्पर्शरसरूपगन्धाः=स्पर्श, रस, रूप और गन्ध—ये चार । शब्दः=शब्द । संख्या=गिनती । विभागसंयोगौ=अलग होना और जुड़ना । परिमाणम्=नाप-तौल । पृथक्त्वम्=अलग होना । तथा=और । परत्वापरत्वे=परत्व और अपरत्व । बुद्धिः=ज्ञान । सुखदुःखेच्छा=सुख, दुःख और इच्छा । धर्माधर्मौ=धर्म और अधर्म । प्रयत्नसंस्कारौ=प्रयत्न और संस्कार । द्वेषः=क्रोध । स्नेहः=चिकनापन । गुरुत्वे=भारीपन । द्रवत्वम्=ढालूपन । वेगौ=चाल । एते=यह । चतुर्विंशति गुणाः=चौबीस गुण माने गए हैं ।६१-६३॥

भाषाप्रकाश— वैशेषिकमत में छः पदार्थ माने गए हैं—१. द्रव्य, २ गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष और ६. समवाय । द्रव्य विश्वरचना के मूल तत्त्व हैं । शेष पाँच पदार्थ द्रव्य के आश्रित हैं । अतः छः पदार्थों में द्रव्य ही मौलिक तत्त्व है । शेष पदार्थ सत्ता के आधार हैं । सृष्टि में सभी कार्य इन्हीं मूल द्रव्यों में चल रहे हैं । जिसमें क्रिया और गुण हो तथा जो समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं ॥

वैशेषिकमत में नौ द्रव्य माने गए हैं—१. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिशा, ८. आत्मा और ९. मन इनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रसिद्ध हैं । प्रत्येक प्राणी प्रत्यक्ष द्वारा इनका अनुभव करता है । संसार का प्रत्येक स्थूल पदार्थ इन्हीं के न्यूनाधिक मिश्रण से बना है । यह मूल प्रकृति से प्रकट व लुप्त होते रहते हैं । पञ्चभूतों की सत्ता सभी दर्शन, धर्म व विज्ञान स्वीकार करते हैं । अनात्मवादी व अनिश्वरवादी विचार वाले लोग भी पञ्च भूतों की सत्ता से इनकार नहीं करते । वस्तुतः अध्यात्म जगत में प्रवेश करने के लिए भौतिक विज्ञान आवश्यक है । आकाश सबसे सूक्ष्म महाभूत है । उससे स्थूल वायु है । उससे स्थूल तेज, उससे जल एवं उससे स्थूल पृथ्वी है । वैज्ञानिकों ने अपने परीक्षणों के द्वारा सौ से अधिक तत्त्वों का विवेचन किया है; किन्तु वह सभी तत्त्व पञ्च महाभूतों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । प्रत्येक भूत का एक-एक अलग-अलग गुण है, जो कि स्वाभाविक रूप में व्यवस्थित है ।

पृथ्वी गन्ध गुण वाली है । इसके दो भेद हैं—१. नित्य और २. अनित्य । नित्या पृथ्वी परमाणु रूप वाली है । पृथ्वी के परमाणु नित्य हैं । उसी से कार्यरूपा पृथ्वी है, जो कि अनित्य है । जिस पृथ्वी को हम देखते हैं, खोदते व खनते हैं; वह अनित्य है । समय पूरा होने पर इसका भी विनाश हो जायेगा । शरीर, इन्द्रिय एवं विषयभेद से पृथ्वी के तीन स्वरूप हैं । हम लोगों का शरीर पार्थिव शरीर है । इसमें पार्थिव परमाणुओं की विशेषता है । पार्थिव इन्द्रिय नासिका है, जिससे पृथ्वी के स्वाभाविक गुण—गन्ध का ग्रहण होता है । नासिका के अग्रभाग में पृथ्वी के सूक्ष्म परमाणु अधिष्ठित हैं, जिनसे टकराकर गन्ध का ग्रहण होता है । मिट्टी, पत्थर आदि पृथ्वी के विषय हैं । पृथ्वी में रूप, रस और स्पर्श—यह तीन गुण हैं; जो कि स्वाभाविक नहीं, अपितु नैमित्तिक हैं । यह तीन गुण क्रमशः तेज, जल एवं वायु के संयोग से पृथ्वी में देखे जाते हैं ।

शीत स्पर्श से जल का अनुभव होता है । इसका स्वाभाविक गुण रस है । जल के भी दो भेद हैं—१. नित्य और २. अनित्य । परमाणुरूप से जल नित्य है, लेकिन व्यवहाररूप में जिसे हम देखते, छूते व पान करते हैं, वह कार्यरूप में अनित्य है । समय आने पर उसका विनाश हो जाता है । कार्यरूप जल तीन रूपों में है—शरीर, इन्द्रिय एवं विषय । जल में रहने वाले प्राणियों का शरीर जलप्रधान जलीय शरीर है; जैसे मछली आदि का शरीर । जिह्वा (रसना) वह इन्द्रिय है, जिससे जल के स्वाभाविक गुण—रस का ग्रहण किया जाता है । जिह्वा के अग्रभाग में रस की तन्मात्रा स्थित है, जिसके सन्निकर्ष से बाहरी जल के गुण—रस का ग्रहण होता है, नदी, कुआँ, समुद्र एवं वर्षा से प्राप्त जल इसके विषय हैं । रूप एवं स्पर्श, तेज एवं वायु के संयोग से जल में नैमित्तिक गुण हैं । पृथ्वी के संयोग से जल में गन्ध की प्रतीति होती है ।

गरम स्पर्श से तेज का अनुभव होता है । रूप इसका स्वाभाविक गुण है । परमाणुरूप में तेज नित्य है और कार्यरूप में अनित्य, जिसे कि हम अग्नि, विद्युत, जठराग्नि व धातुगत रूप में अनुभव करते हैं । शरीर, इन्द्रिय एवं विषयभेद से तेज भी तीन रूपों में पाया जाता है । सूर्यलोक में हल्के-फुल्के स्फुलिंग के तेजतत्त्व-प्रधान शरीर होते हैं । नेत्र तैजस इन्द्रिय है । इसके सूक्ष्म परमाणु काली पुतली में होते हैं, जिससे तेज के स्वभाविक गुण—रूप का अनुभव होता है । स्पर्श इसमें नैमित्तिक गुण है । जो कि वायु के संयोग से है; क्योंकि वायु इसमें व्यापक है । आकाश का गुण शब्द भी दिव्य तेज में नैमित्तिक है ।

रूपरहित एवं स्पर्श से जिसका प्रत्यक्ष होता है वह वायु है। स्पर्श वायु का स्वाभाविक गुण है। वायु में वृक्षादि कम्पन, अन्धड़, तूफान द्वारा रूप, सुगन्ध, दुर्गन्ध एवं शब्द क्रमशः तेज, पृथ्वी एवं आकाश के गुण हैं, जो कि नैमित्तिक रूप में प्रतीत होते हैं। वायु के दो भेद हैं—परमाणुरूप से नित्य एव कार्यरूप से अनित्य। वायव्य परमाणु नित्य है, किन्तु कार्यरूप वायु अनित्य है। कार्यरूप वायु के तीन भेद हैं—१. शरीर, २. इन्द्रिय एवं ३. विषय। अत्यन्त सूक्ष्म वायव्य शरीर है, जिन्हें हम देख नहीं पाते। इन्द्रिय त्वचा है, जिसमें वायु की सूक्ष्म तन्मात्रा अधिष्ठित है। बाहरी वायु के टकराव से त्वचा द्वारा स्पर्श से वायु का प्रत्यक्ष होता है। वृक्ष आदि का कम्पन, आँधी-तूफान आदि वायु के विषय हैं।

पाँचवाँ भूत आकाश है। अखिल विश्व आकाश से व्याप्य है और आकाश क्रमशः वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी में व्यापक है। पञ्चभूतों की रचना में प्रथमतः आकाश बना; आकाश से वायु, वायु से तेज, उससे जल एवं जल से पृथ्वी बनी—ऐसा उल्लेख श्रुतियों व स्मृतियों में पाया जाता है। यदि आकाश न होता तो संसार में कोई भी कार्य नहीं होता, हम अपना हाथ-पैर भी नहीं चला सकते थे। आकाश का स्वाभाविक गुण शब्द है, जिसे हम ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक दो रूपों में ग्रहण करते हैं। वस्तुतः आकाश का स्वाभाविक गुण शब्द अत्यन्त दिव्य व विचित्र है, जिसका प्रत्यक्ष योगाभ्यास द्वारा ही किया जा सकता है; किन्तु वही कार्यरूप में संघात द्वारा ध्वनि व वर्ण के रूप में श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है। युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय आदि के व्यवहार का हेतु काल ही है। अशेष विश्व भी काल के चक्र से ही सञ्चालित है, वह सब में व्यापक है। यद्यपि काल एक है तथापि उपाधि एवं कार्यभेद से अनेक प्रतीत होता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि काल में ही अधिष्ठित हैं।

सातवाँ द्रव्य दिशा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे आदि व्यवहार का हेतु दिशा ही है; इसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग गुण हैं। यह भी काल की तरह ही नित्य है। दशों दिशाओं का ज्ञान कल्पित-मात्र है।

आत्मा आठवाँ द्रव्य है। आत्मा का मुख्य चिह्न ज्ञान व चैतन्यता है। यद्यपि वह सूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्ष है, फिर भी अनुमान के द्वारा जाना जाता है। उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। अपने होने की अनुभूति ही उसके होने में स्वतः प्रमाण है। शरीर चेतन नहीं है, क्योंकि वह पञ्चभूतों का कार्य है। इसीलिए मरने पर चेतना नहीं देखी जाती। पञ्चभूतों के संयोग से चेतना का उत्पन्न होना असम्भव है, क्योंकि पृथक्-पृथक् भूतों में चेतना नहीं पाई जाती। इन्द्रियाँ करण

होने से चैतन्य नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियों के उपहत होने पर भी स्मृति रहती है। एक द्रष्टा चेतन आत्मा अवश्य है, जो कि विभिन्न इन्द्रियों के विषयों का अकेले ही स्मरण व अनुभव करता है। मन भी चेतन नहीं है। क्योंकि बिना आत्मा के कोई भी इन्द्रिय कार्य करने में समर्थ नहीं होता। अतः आत्मा ही ज्ञाता, कर्ता व भोक्ता है। बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म, संस्कार, संख्या-परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग आदि गुण आत्मा में नैमित्तिक हैं। चेतना, ज्ञान व अनुभव आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। वैशेषिक में आत्मा को नित्य द्रव्य माना गया है। व्यवस्था से आत्मा अनेक है, अनन्त व अविनाशी है। शरीर में परिच्छिन्न आत्मा जीवात्मा है और विश्व में व्यापक एवं प्रकृति का नियन्ता आत्मा परमात्मा है। वैशेषिक के नवें अध्याय में लिखा भी है कि "आत्मन्यात्ममनसो संयोग-विशेषादात्मप्रत्यक्षम्" अर्थात् जीवात्मा जब अपने मन को वशीभूत करके योग की विधि से आत्मा का ध्यान करता है तो उसे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। इससे सिद्ध है कि वैशेषिक दर्शन नास्तिक दर्शन नहीं है, अपितु आत्मवादी व ईश्वरवादी दर्शन है।

आत्मा की आज्ञा से इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक समय में एक ही प्रकार का ज्ञान होना मन का लक्षण है। मन अनुभूति व ज्ञान का साधन है, वह स्वयं ज्ञाता नहीं है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार—यह मन के गुण हैं। मन को अणु माना गया है, मन एकदेशीय है। इसीलिए एक समय में एक ही विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" अर्थात् एक साथ दो ज्ञान व अनुभूति का न होना ही मन का लक्षण है। आत्मा और प्रकृति में बन्धन व मोक्ष की कड़ी मन ही है एवं वह मन द्रव्य है।

उपरोक्त नवों द्रव्यों के चौबीस गुण हैं। जो द्रव्य के आश्रित हो; जिसका कोई गुण न हो, अपितु स्वयं गुण हो, संयोग-विभाग में स्वयं कारण हो, वह गुण कहलाता है। इन नवों द्रव्यों में प्रत्येक का स्वभाविक गुण नियत है। इसके अतिरिक्त परस्पर द्रव्यों के संयोग से एक-दूसरे में नैमित्तिक गुण भी पाए जाते हैं। किस द्रव्य में कौन-सा गुण स्वाभाविक है और कौन नैमित्तिक है—यह सभी द्रव्यों के लक्षण में बतलाया जा चुका है अब इन गुणों का स्वरूप क्या है? यह बतलाया जायगा। सभी गुण द्रव्यों के आश्रित हैं और द्रव्यों की अनुभूति गुणों के रूप में ही होती है। अतः गुणों की जानकारी भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि द्रव्यों की जानकारी। द्रव्यों में रहने वाले चौबीस गुण निम्नलिखित हैं—

१. रूप—इसे नेत्र से ग्रहण किया जाता है। लाल, नीला, पीला, सफेद, काला, हरा आदि सात रंगों में नेत्रों द्वारा इस रूप का प्रत्यक्ष किया जाता है। यह तेज का स्वाभाविक गुण है एवं पृथ्वी और जल में नैमित्तिक है।

२ **रस**—इसका अनुभव जिह्वा से किया जाता है। मीठा, नमकीन, खट्टा, चरपरा, कड़वा, कसैला—ये छः प्रकार के रस हैं। यह जल का स्वाभाविक गुण है एवं पृथ्वी में नैमित्तिक है। पार्थिव तत्त्वों में जो रस का अनुभव है वह जल के ही कारण है, क्योंकि जल पृथ्वी में व्यापक है और पृथ्वी जल से व्याप्य है।

३. **गन्ध**—इसे नासिका से ग्रहण किया जाता है। सुगन्ध एवं दुर्गन्धरूप इसके दो भेद हैं। यह स्वाभाविक रूप में पृथ्वी का गुण है, लेकिन नैमित्तिक रूप से जल-वायु में भी पाया जाता है।

४. **स्पर्श**— त्वचा द्वारा इसका अनुभव किया जाता है। यह वायु का स्वाभाविक गुण है और पृथ्वी, जल व तेज में नैमित्तिक है। इसके तीन भेद हैं—१. शीत, २. उष्ण एवं ३. अनुष्णाशीत। जल में शीत, तेज में उष्ण एवं वायु में अनुष्णाशीत है। अनुष्णाशीत ही इसका स्वाभाविक स्वरूप है।

५. **शब्द**— इसका कान द्वारा अनुभव किया जाता है। यह आकाश का स्वाभाविक गुण है तथा ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक—ये दो इसके भेद हैं।

५ **संख्या**—एक से लेकर अरब, खरब, नील, पद्मपर्यन्त व्यवहार का हेतु ही संख्या है।

६. **विभाग**—संयोग (मेल) को अलग करने वाला गुण विभाग है। अर्थात् दो अथवा उससे अधिक परमाणुओं, अणुओं, पदार्थों व भौतिक वस्तुओं तथा गतिविधियों के मेल को अलग करने वाला गुण विभाग है, जिसका कार्य है—वियोग, जिसे परमाणु से लेकर महत् एवं जगत् के वस्तुओं तथा व्यवहार में भी सर्वत्र पाया व देखा जाता है। विभाग के तीन भेद हैं—१, अन्यतरकर्मज, २. उभयकर्मज और ३. विभागज। आत्मा और मन का अलग होना अन्यतरकर्मज है तथा दो परमाणुओं, पदार्थों व वस्तुओं का स्वाभाविक रूप में दोनों के पारस्परिक अस्तित्व से अलग होना उभयकर्मज है। विभागज दो प्रकार का है—प्रथमतः कपालद्वय विभाग, उससे घटनाश, उससे कपाल के आकाशादि से मेल का नाश है। द्वितीयतः कारण एवं अकारण का विभाग और उससे कार्य एवं अकार्य का विभाग।

७. **संयोग**—दो अथवा अधिक परमाणुओं, अणुओं, पदार्थों, भौतिक वस्तुओं तथा गतिविधियों का मेल कराने वाला गुण संयोग है, जिसका कार्य है—योग, जिसे परमाणु से लेकर महत् एवं जगत के वस्तुओं व व्यवहार में सर्वत्र पाया व देखा जाता

है। संयोग के तीन भेद हैं—१. अन्यतर कर्मज २. उभयकर्मज एवं ३. संयोगज। आत्मा व मन का मेल अन्यतर कर्मज संयोग होता है। प्रथम कपालद्वय संयोग, उससे कपाल का आकाशादि से मेल, पुनः कारण एवं अकारण का संयोग, उससे कार्य एवं अकार्य का संयोग—यह तीन संयोगज संयोग हैं। दो परमाणुओं, पदार्थों व वस्तुओं का स्वाभाविक रूप में दोनों के पारस्परिक अस्तित्व से मिलना उभयकर्मज संयोग होता है।

८. **परिमाण**— मान (माप) तौल आदि व्यवहार का जो विशेष कारण होता है उसे परिमाण कहते हैं। इसी से परमाणु से लेकर महत् व जगत-व्यवहारपर्यन्त वस्तुओं की माप की जाती है। परिमाण चार प्रकार का होता है—१ अणु अर्थात् अत्यन्तसूक्ष्म, २. महत् अर्थात् बहुत स्थूल, ३. ह्रस्व अर्थात् सबसे छोटा और ४. दीर्घ अर्थात् सबसे बड़ा।

९. **पृथक्त्व**—परमाणु से लेकर महत् एवं जगत-व्यवहार में परमाणु, पदार्थ एवं वस्तुओं के एक-दूसरे से अलग होने का कारण पृथक्त्व गुण है।

१०. **परत्व**—अधिक देशवृत्ति परत्व है। इससे परमाणु से लेकर महत् पर्यन्त व जगत् की सत्ता में अधिक देश की प्रतीति होती है।

११. **अपरत्व**—न्यून देशवृत्ति अपरत्व है। इससे परमाणु से लेकर महत् एवं जगत की सत्ता में न्यून देश की प्रतीति होती है।

१२. **बुद्धि**—समस्त व्यवहार व समस्त ज्ञान के होने का जो कारण है वह गुण बुद्धि है। उसके दो भेद हैं—१. स्मृति और २. अनुभव। संस्कार से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही स्मृति है। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं तो उस अनुभव के पश्चात् भी उसका संस्कार हमारे चित्त में रह जाता है। जब हम उसे पुनः स्मरण करते हैं तो वही स्मृति है। स्मृति दो प्रकार की है—१. यथार्था और २. अयथार्था। सत्य अनुभव एवं उसका वास्तविक स्मरण यथार्था है एवं मिथ्या अनुभव व उसकी मिथ्या काल्पनिक स्मृति अयथार्था है। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है, उसके दो भेद हैं—१. प्रमा और २. अयथार्थ। प्रमा के चार भेद हैं—१. प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ सत्य ज्ञान, २. अनुमिति अर्थात् चिह्न को देख करके तर्क द्वारा अनुमान से सत्यज्ञान, ३. उपमिति अर्थात् तत्सदृश लक्षणों द्वारा वस्तु का ज्ञान और ४. शाब्द अर्थात् आप्तोपदेश द्वारा सत्य का ज्ञान प्राप्त करना।

अयथार्थ अनुभव मिथ्या ज्ञान है, जो संशय एवं भ्रम, कल्पना व इन्द्रियों की असमर्थता के कारण होता है। प्रत्यक्ष के भी सविकल्पक एवं निर्विकल्पक दो भेद हैं।

अयथार्थ अनुभव के भी चार भेद हैं—१. संशय २. विपर्य्यय ३. स्वप्न एवं ४. अनध्यवसाय। अन्धकार में किसी ठूंठ को देख कर जब यह प्रतीति हो कि "यह मनुष्य खड़ा है" तो इसे ही संशय कहते हैं। मिथ्याज्ञान को विपर्य्यय कहते हैं, जैसे रस्सी को सर्प समझना या शुक्ति को चाँदी समझना। अनुभूत पदार्थ के स्मरण व धातुदोष से स्वप्न होता है एवं इन्द्रियों की विकलता व सत्यज्ञान की प्राप्ति में असमर्थता व विफलता से अनध्यवसाय होता है।

१३-१४-१५. **सुख-दुःख-इच्छा**—अनुकूल वेदना सुख है। प्रतिकूल वेदना दुःख है और मन की कामना इच्छा है।

१६-१७. **धर्म-अधर्म**—विहित कर्म से उत्पन्न धर्म है एवं निषिद्ध कर्म से उत्पन्न अधर्म है।

१८-१९. **प्रयत्न-संस्कार**—कार्य करना प्रयत्न है। इसके तीन भेद हैं—१. जीवनादृष्टजन्य अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म व संस्कार द्वारा किया गया प्रयत्न, २. इच्छाजन्य अर्थात् इस जीवन की इच्छा से किया गया प्रयत्न और ३. द्वेषजन्य अर्थात् द्वेष के कारण किया गया प्रयत्न।

दृष्टादृष्ट कर्मों के करने से वासनापटल में, चित्त में उसकी जो छाप पड़ जाती है वही संस्कार है। उसके तीन भेद हैं—१. क्रियाजन्य अर्थात् जो कर्मों से उत्पन्न हो, २. विशिष्टज्ञान से उत्पन्न भावनाख्य और ३. कारणगुण-प्रक्रम से उत्पन्न स्थितिस्थापक।

२०. **द्वेष**—इच्छा की पूर्ति न होने अथवा अहित की भावना से क्रोध का कारण द्वेष होता है।

२१-२२. **स्नेह-गुरुत्व**—परमाणु से लेकर महत् पर्यन्त पिण्डीकरण स्नेह गुण से होता है। इसी के कारण चूर्णादि को हम पिण्डस्वरूप बना लेते हैं। गुरुत्व का अर्थ भारीपन है। किसी वस्तु के गिरने में उसका गुरुत्व ही कारण होता है।

२३-२४. **द्रवत्व और वेग**—पृथ्वी, जल, तेज में रहने वाला गुण द्रवत्व है। पानी का ढालूपन, मोम और सोने-चाँदी का पिघलना आदि गुण द्रवत्व है।

गति एवं क्रियाजन्य गुण वेग है। यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं मन में होता है। यह परमाणु से महत् पर्यन्त देखा जाता है तथा गति एवं क्रिया से इस गुण का उदय होता है। जबकि वह स्वयं न तो वह गति है, न ही क्रिया है; अपितु दोनों ही से भिन्न गुण है।

इस प्रकार उपरोक्त चौबीस गुण नव द्रव्यों व पदार्थों में रहते हैं ॥६१-६३॥

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम्।
पञ्चविधं कर्मैतत्परापरे द्वे तु सामान्ये ॥६४॥

कर्मसामान्यभेदानाह - उत्क्षेपेत्यादिना।

पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव, गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यवरोधः, तु पुनः, सामान्ये द्वे द्विप्रकारे, के ते ? इत्याह—परापरे। परञ्चापरं च परापरे, परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ॥६४॥

अन्वयः—उत्क्षेपणावक्षेपणौ आकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् एतत् कर्म पञ्चविधम् द्वे तु परापरे सामान्ये ॥६४॥

सुधा—उत्क्षेपणावक्षेपणौ=उर्ध्ववृत्तिः तेजसि अधोवृत्तिः जले। आकुञ्चनकम्=आकर्षणं पृथिव्याम्। प्रसारणं=विस्तारः आकाशे, गमनं=गतिः संचालनं वायौ, एतत् कर्म=कर्मपदार्थः, पञ्चविधम्=पञ्चप्रकारकमिति। द्वे तु=द्विप्रकारकं, परापरे=परमपरञ्च, सामान्ये=सामान्ये द्विप्रकारकम्। अधिकदेशवृत्तित्वं परत्वम्। न्यूनदेशवृत्तित्वमपरत्वमिति। भ्रमणं रेचनं स्पन्दनं उर्ध्वगमनमेव च। तिर्य्यग्गमनमध्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥६४॥

पदार्थ—उत्क्षेपणावक्षेपणौ=ऊपर उठना एवं नीचे जाना। आकुञ्चनकम्=सिकुड़ना, खींचना। प्रसारणम्=फैलाना। गमनम्=चलना। एतत्=इस प्रकार। कर्म=कर्म पदार्थ। पञ्चविधम्=पाँच प्रकार का है। द्वे तु=दो। परापरे=पर और अपर। सामान्ये=सामान्य के भेद हैं ॥६४॥

भाषाप्रकाश—कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर उठना, अवक्षेपण अर्थात् नीचे जाना, आकुञ्चन अर्थात् खींचना, प्रसारण अर्थात् फैलाना और गमन अर्थात् चलना। उत्क्षेपण तेज में है। इसीलिए तेज सदा ऊपर को जाता है। गीले कपड़े को जब हम धूप में रख देते हैं तो उसका जल (गीलापन) तेज द्वारा भाप बनकर ऊपर उठ जाता है और कपड़ा सूख आता है। गर्मी के महीने में समुद्र एवं जलाशय का पानी तेज द्वारा भाप बन कर ऊपर उठ जाता है। किसी वस्तु को जलाने पर दीपशिखा ऊपर को ही जाती है। अतः उत्क्षेपण कर्म तेज में है। अवक्षेपण कर्म जल में है; जल सदा नीचे की ओर चलता है। गर्मी के महीने में तेज द्वारा भाप के रूप में उठा हुआ जल वर्षाकाल में पुनः पानी बन कर बरसता है। तेज द्वारा भापरूप में उठाया गया जल अवक्षेपण कर्म के कारण पुनः नीचे आकर गिरता है। आकुञ्चन कर्म पृथ्वी में है। पृथ्वी में आकर्षण कर्म है, यह वस्तु को अपनी ओर खींचती है। यही पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त है। किसी भी वस्तु के ऊपर जाने पर पृथ्वी उसे पुनः नीचे खींच लेती है; इसी को हम गिरना कहते हैं। यदि चलते समय शरीर का सन्तुलन कमजोर तो जाय तो धड़ाम से हम पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। यह आकुञ्चन के [illegible]

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : दसम्, वि० सं० २०५७, सन् २०००
मूल्य : रु० २५.००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी- २२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)
E-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

कृष्णदास अकादमी

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १११८, के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

HARIDAS SANSKRIT SERIES

120

SĀNKHYAKĀRIKĀ

with

GOUDAPĀD COMMENTARY

Edited with

'Chandrika' Hindi Commentary & Notes

by

Pt. Dhundhiraj Shastri

D-10.

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi

© CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. 334032 & 335020
E-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020

भूमिका

सांख्यदर्शन की प्राचीनता

सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। संस्कृत वाङ्मय सांख्यके सिद्धान्तोंसे भरा पड़ा है। बौद्ध पण्डित अश्वघोषने अपने बुद्धचरित नामके काव्यमें भगवान् बुद्धके गुरु अराडाचार्यको सांख्यशास्त्रका वेत्ता कहा है। मनुस्मृतिमें सांख्यके सिद्धान्तोंका अनुसरण करके जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। उसीके द्वादशाध्यायमें सांख्याभिमत सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंको तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणोंको स्वीकार किया गया है, भगवद्गीतामें सांख्य और योगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है। महाभारतके पञ्चशिखजनक संवादमें सांख्यशास्त्रके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तोंका वर्णन मिलता है। उपनिषदोंमें भी सांख्यके प्रायः सभी सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में सांख्यका सर्वप्रथम नामतः उल्लेख मिलता है। काठक उपनिषद्में सांख्यके तत्त्वों-में कौन किससे बड़ा है इसका विशद वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्में सत्त्व, रजः, तम इन तीन गुणोंका वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदोंमें भी सांख्यके सिद्धान्तोंका यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

कुछ लोग सांख्यदर्शनको बौद्धदर्शनकी अपेक्षा अर्वाचीन तथा उसके सिद्धान्तोंसे प्रभावित मानते हैं। उनका कथन है कि दुःखनिवृत्तिके लिए तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति, यागादि वैदिक कर्मोंको व्यर्थ मानना, ईश्वरके विषयमें अनास्था, अहिंसा आदि सिद्धान्त बौद्धागमसे सांख्यमें लिये गये हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि बौद्धोंकी प्राचीन आख्यायिका सांख्यके प्रवर्तक कपिलको बुद्धसे प्राचीन बतलाती है। अश्वघोष भी बुद्धके गुरुको सांख्यका पण्डित कहते हैं। सांख्यमें प्रकृति, पुरुष, सत्त्वादि तीन गुण आदि सिद्धान्त माने गये हैं। बौद्धागममें उनका खण्डन किया गया है। इन बातोंसे तो सांख्य शास्त्र बौद्धागमसे प्राचीन ठहरता है। यदि एकका दूसरेपर असर पड़ा हो तो सांख्यका ही बौद्धागमपर पड़ा होगा।

'सांख्य' यह नाम क्यों पड़ा ?

सांख्यशास्त्रका 'सांख्य' यह नाम क्यों पड़ा इस विषयमें तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम मतके अनुसार सांख्य शब्द 'गिनती' वाचक 'संख्या' शब्दसे बना है। सांख्यशास्त्रमें तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलाई गई है। इसीलिए इसे सांख्य कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वैशेषिक आदि अन्य शास्त्रोंमें भी तत्त्वोंकी संख्या बतलाई गई है, तब उन शास्त्रोंका भी नाम सांख्य क्यों नहीं पड़ा ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि सांख्य सब शास्त्रोंसे प्राचीन है। सांख्यके आधारपर एक बार उसका नाम रख देनेपर पीछे उत्पन्न होनेवाले शास्त्रोंका उसी आधारपर वही नाम रखना उचित न होता। भेदबोधन करनेके लिए पीछेके शास्त्रोंके नये नाम रखे गये।

दूसरा मत यह है कि सांख्याचार्यद्वारा निर्माण किये जानेके कारण इस शास्त्रका नाम सांख्य पड़ा। यह मत तो अप्रामाणिक प्रतीत होता है, क्योंकि सर्वत्र कपिलको ही इस शास्त्रके निर्माताके रूपमें वर्णन किया गया है।

इस विषयमें तीसरा मत यह है कि प्राचीन कालमें किसी विषयपर प्रमाण-परिष्कृत सरणीसे विचार करनेको संख्या कहते थे। इस विषयमें महाभारतका निम्नलिखित पद्य ध्यान देने योग्य है

"दोषाणाञ्च गुणानाञ्च प्रमाणं प्रविभागतः।
कस्मिन्वर्त्मनि प्रेत्य सा संख्येत्युप-धार्यताम् ॥"

इस वाक्यसे यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकालमें 'दोषगुणमीमांसा' अर्थात् 'दार्शनिक विचार' इस अर्थमें संख्या शब्दका प्रयोग होता था। इसी संख्या शब्दसे सांख्य शब्द बना है। यही मत ठीक प्रतीत होता है।

सांख्यके प्रसिद्ध आचार्य

सांख्यशास्त्रकी रचना कपिल महामुनिने की है। इन्हें 'आदिविद्वान्' भी कहते हैं। इन्होंने उपनिषदोंसे सांख्यके सिद्धान्तोंका संग्रह करके उन्हें एक शास्त्रके रूपमें प्रस्तुत किया। कपिलने यह शास्त्र पहले अपने शिष्य आसुरिको सिखाया। आसुरिने इसे अपने शिष्य पञ्चशिखको दिया। पञ्चशिखसे शिष्यपरम्पराद्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्णको मिला। पञ्चशिख और ईश्वरकृष्णके बीचकी परम्परा का ठीक पता नहीं चलता। माठरवृत्तिमें मार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल आदि ऋषियोंके नाम मिलते हैं। युक्तिदीपिकामें वार्षगण्य, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूकके नाम दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त गर्ग और गौतमके नाम भी मिलते हैं।

ईश्वरकृष्णका कालनिर्णय

परमार्थ नामके किसी चीन देशके पण्डितने सांख्यकारिकाका चीनी भाषामें अनुवाद किया था। यह कार्य ईसवी सन् की छठी शताब्दीमें हुआ था। अतः ईश्वरकृष्णका छठी शताब्दीके पूर्व होना निश्चित है।

वार्षगण्य के शिष्य विन्ध्यवासीने 'हिरण्यसप्तति' नामके ग्रन्थकी रचना की थी। कुछ विद्वान् इस हिरण्यसप्ततिको ही सांख्यकारिका तथा विन्ध्यवासीको ही ईश्वरकृष्ण मानते हैं। वसुबन्धुने हिरण्यसप्तिका खण्डन अपनी परमार्थसप्ततिमें किया है। वसुबन्धुका आविर्भाव ईसवी सन्के चतुर्थ शतकमें हुआ था। अतः कुछ विद्वानोंके मतानुसार ईश्वरकृष्णका काल चतुर्थ शतकके पूर्व तृतीय शतक है।

अन्य ऐतिहासिक इस मतको नहीं मानते। उनके अनुसार हिरण्यसप्ततिके सांख्यकारिका है परन्तु विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नहीं। उनका कथन है कि विन्ध्य-वासीका असली नाम वृद्धिल था। विन्ध्यके जंगलोंमें रहनेके कारण उनका नाम विन्ध्यवासी पड़ गया था, वे अपने मतका समर्थन करनेके लिए तत्त्वसंग्रहमें—"यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्घृतीति च। वदता वृद्धिलेनैव स्थापिता विन्ध्य-वासिता ॥" यह पद्य उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित और गुण-रत्नने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीका अलग-अलग उल्लेख किया है। इन कारणोंसे विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण एक ही पुरुष नहीं माने जा सकते। यह तो हुई ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीके अभिन्नता की बात। ईश्वरकृष्ण-के कालके विषयमें इन लोगोंका कथन है कि जैनोंके 'अनुयोगद्वारसूत्र' नामक ग्रन्थमें 'कणगसत्तरी' का उल्लेख मिलता है। यह 'कणगसत्तरी' 'हिरण्यसप्तति' या 'सांख्यकारिका' है। 'अनुयोगद्वारसूत्र'का काल ईसवी सन्का प्रथम शतक है। अतः 'सांख्यकारिका'के कर्ता ईश्वरकृष्णका काल ईसवी प्रथम शतकसे नीचे नहीं लाया जा सकता। सम्भवतः उनका काल ई० पू० प्रथम शतक ही है।

सांख्यकारिकामें कारिकाओंकी संख्या

सांख्यकारिकाकी मूल कारिकाओंकी संख्याके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। माठरवृत्तिके साथ प्रकाशित सांख्यकारिकामें ७३ कारिका हैं। उनमेंसे—"समवा किल षेड्यास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य"। इस बहत्तरवीं कारिकाके पर्यालोचनसे प्रतीत होता है कि मूल कारिका ७० हैं, अन्य तीन कारिका प्रक्षिप्त हैं। जो लोग विन्ध्यवासीकृत 'हिरण्यसप्तति'को ही सांख्यकारिका मानते हैं, उनके मतमें भी मूलकारिका ७० ही है। वाचस्पति मिश्र तथा नारा-यणतीर्थकृत टीकाओंके साथ प्रकाशित सांख्यकारिकामें ७२ कारिका हैं। इससे प्रतीत होता है कि इनकी मूल कारिकाओंकी संख्या ७२ इष्ट है। चीन भाषाके अनुवादसे मालूम होता है कि मूलकारिका ७१ थीं। गौडपादाचार्यने इस पंक्तिकी

व्याख्या केवल ६९ कारिका पर्यन्त की है। अतः उनके मतमें अन्तिम चार कारिका प्रक्षिप्त हैं बालगङ्गाधर तिलक गौडपादभाष्य और माठरवृत्तिका अध्ययन करके कहते हैं कि सांख्यकारिकामें—"कारणमीश्वरमेके पुरुषं कालं परे स्वभावं वा प्रजा कर्म निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च" । यह कारिका भी थी। जो किसी कारण लुप्त हो गई है। उनके विचारसे यह कारिका ६२ वीं है। गौडपादके द्वारा व्याख्यात ७९ कारिकाओंमें इसे जोड़ देने से ७० कारिका हो जाती हैं। ये ही ७० मूल कारिका हैं, अन्य चार प्रक्षिप्त हैं।

वस्तुतः गौडपादभाष्यके साथ छपी ७२ कारिकाओंमेंसे प्रथम ७० कारिका मूल प्रतीत होती हैं, अन्य दो प्रक्षिप्त हैं। सत्तरवीं कारिका अत्यन्त सरल होनेके कारण गौडपादने उसपर भाष्य लिखना व्यर्थ समझकर छोड़ दिया होगा।

षष्टितन्त्र क्या है ?

गौडपादभाष्य सहित प्रकाशित सांख्यकारिका की 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' इत्यादि ७२वीं कारिकासे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णने आख्यायिका और परवादको छोड़कर षष्टितन्त्रके सब सिद्धान्तोंको सांख्यकारिकाकी ७० कारिकाओंमें लिखा दिया है। यह षष्टितन्त्र क्या है ? कुछ लोगोंका कहना है कि प्राचीन कालमें इस नामका कोई ग्रंथ रहा होगा। माठराचार्यके विचारसे यह शास्त्रका नाम है, ग्रन्थका नहीं। उनका कहना है कि 'षष्टिः पदार्था अस्मिन् शास्त्रे तन्त्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम्'। वाचस्पति मिश्र और नारायणतीर्थ भी इसी मतका समर्थन करते हैं।

गौडपाद का परिचय

सांख्यकारिकापर सबसे प्राचीन टीका माठरवृत्ति है। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्यायजी इसका काल ई० अ० प्रथम शतक मानते हैं। बहुत संभव है कि सांख्यकारिकाके साथ जिस टीकाका चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था वह यही होगी। गौडपादका भाष्य माठरवृत्तिसे अर्वाचीन प्रतीत होता है। वृत्तिके बहुतसे पदार्थ भाष्यमें ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। गौडपादका आविर्भाव ई० अ० आठवें शतकमें हुआ था। ये गौडपाद पूज्यपाद श्री शंकराचार्यजीके गुरु, माण्डूक्यकारिकाके कर्ता, श्रीगौडपादाचार्यसे भिन्न थे। गौडपादभाष्यको देखनेसे इनकी भिन्नता माण्डूक्य कारिकाके कर्ताकी कोटिकी नहीं प्रतीत होती। माठरवृत्ति और गौडपादभाष्यके अतिरिक्त सांख्यकारिकापर युक्तिदीपिका (कर्ताके नामका पता

नहीं), वाचस्पतिमिश्रकी सांख्यतत्त्वकौमुदी, शंकराचार्यकी जयमङ्गला और नारायणतीर्थकी चन्द्रिका टीकायें हैं। नरसिंहस्वामीका सांख्यतत्त्वसन्दर्भ अप्रकाशित है।

सांख्य निरीश्वर है या सेश्वर ?

सांख्यशास्त्रको लोग सामान्यतः निरीश्वर मानते हैं। षड्दर्शनसमुच्चयके कर्ता हरिभद्र ने—

"सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः" कहकर सांख्यशास्त्रकी एक धाराका निरीश्वर होना बतलाया है। इससे यह प्रश्न उठता है कि सांख्यशास्त्र निरीश्वर है या सेश्वर।

उपनिषदोंमें सांख्यका जो रूप उपलब्ध होता है वह तो सेश्वर ही प्रतीत होता है। उपनिषदोंमें प्रकृति और पुरुषके ऊपर ब्रह्मकी सत्ता मानी गई है। पुरुषोंको ब्रह्मका अंशभूत स्वीकार किया गया है। महाभारत, भागवत, भगवद्गीता और मनुस्मृतिमें सेश्वर सांख्यका ही प्रतिपादन किया गया है। यह बात इन ग्रन्थोंके आलोचनसे स्पष्ट होती है। बुद्धने भी अराडाचार्यसे सेश्वर सांख्यका ही अध्ययन किया था। सांख्यकारिकामें प्रतिपादित ईश्वरकृष्णका सांख्य निरीश्वर है, इसमें सन्देह नहीं। सांख्यप्रवचनभाष्यके कर्ता विज्ञानभिक्षुका सांख्य सेश्वर है। वे ईश्वरकी सत्ता मानते हैं।

सांख्यको निरीश्वर माननेवाले आचार्योंद्वारा ईश्वरकी सत्ताका निषेध करनेके लिए दिये हुए तर्कोंका सारांश इस प्रकार है—

(१) नित्य परन्तु अपरिणामी ईश्वर जगत्का कारण नहीं हो सकता। यदि वह कारण है तो किस प्रकारका कारण है—उपादान कारण या निमित्त कारण ? ईश्वर जगत्का उपादान कारण हो नहीं सकता। क्योंकि वह अपरिणामी है। कार्य तो उपादान कारणका रूपान्तर मात्र होता है।

(२) यदि ईश्वरको निमित्त कारण मानकर जगत्का कर्ता माना जाय तो वह भी असङ्गत होगा, क्योंकि वह तो निरीह है। जगत्को उत्पन्न करनेमें उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। कोई भी चेतन व्यक्ति किसी कार्यमें निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता। उन्मत्तोंकी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन होती है। परन्तु आपका ईश्वर तो उन्मत्त नहीं है।

(३) यदि कहा जाय कि ईश्वरका कोई स्वार्थ न होनेपर भी पुरुषोंके हितके लिए वह जगत्की रचनामें प्रवृत्त होता है, तो यह भी ठीक न होगा; जगत्की उत्पत्तिके पूर्व शरीर न होनेसे पुरुषोंको किसी प्रकारका दुःख ही नहीं

है। अतः पुरुषोंके हितके लिए जगत्‌की रचनामें प्रकृतिकी प्रवृत्ति हो नहीं उठती। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर पुरुषोंके हितके लिए जगत्‌की रचना करता है तो यह केवल सुखमय होना चाहिए, संसार तो दुःखपूर्ण है।

इन सब कारणोंसे यह कहना पड़ता है कि ईश्वर कोई पदार्थ नहीं है। प्रकृति ही जगत्‌का कारण है। यह जड़ होनेपर भी पुरुषोंके हितके लिए स्वयं प्रवृत्त होती है। जिस प्रकार गायका खाया हुआ घास दूधमें परिणत होकर बछड़ेके पोषणके लिए स्वयं प्रवृत्त होता है।

ईश्वरकी सत्ता माननेवाले सांख्याचार्य प्रकृति और पुरुषके संयोगके लिए ईश्वरको आवश्यकता मानते हैं। उनका कहना है कि पुरुष विरोह है और प्रकृति जड़ है। उन दोनोंका मिलन स्वयं हो नहीं सकता। अतः ईश्वरको मानना पड़ता है। यह सन्निधान है। उसके सन्निधान मात्रसे प्रकृति पुरुषसे मिलकर जगत्‌की रचनामें प्रवृत्त होती है। इसका उदाहरण चुम्बक है। उसके समीप जाते ही लोहेमें गति उत्पन्न हो जाती है।

सांख्य और योग का परस्पर सम्बन्ध

सांख्य और योग परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं है। योगमें भी सांख्यमें प्रतिपादित तत्त्व माने गये हैं। भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी कहा है—

"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।"

सांख्यमें प्रतिपादित पञ्चविंशतितत्त्व योगमें भी माने गये हैं। प्रत्यक्षादि तीन प्रमाण दोनों शास्त्रोंको इष्ट हैं। प्रकृति और पुरुषका संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है—यह तत्त्व भी दोनों शास्त्रोंमें समान रूपसे स्वीकार किया गया है। सांख्य ज्ञान-प्रधान है और योग क्रिया-प्रधान। सांख्यमें तत्त्वमीमांसा है, योगमें चित्तवृत्तिके निरोधके उपायोंका वर्णन किया गया है। मोक्ष प्राप्तिके साधनके विषयमें दोनोंमें कुछ अन्तर है। सांख्य पञ्चविंशतितत्त्वोंके ज्ञानको मोक्षका कारण मानता है, और योग चित्तवृत्तिके निरोधको पराकाष्ठाको पुरुषके स्वरूपमें अवस्थानका कारण बतलाता है। योगमें ईश्वर नामका छब्बीसवाँ तत्त्व भी माना गया है, यह भी योगकी विशेषता है। चार्वाकको छोड़कर प्रायः सभी शास्त्रोंमें शरीर और चित्तकी शुद्धिके लिए यौगिक क्रियायें प्रशस्त मानी गई हैं।

काशी
कि० सं० २०१०

कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग

गौडपादभाष्य-विषयसूची

विषयः	पृ०	पङ्क्तिः
मङ्गलाचरणम्	१	६
ग्रथमार्योद्घातः	१	९
विविधदुःखानि	२	११
दृष्टोपायस्यानैकान्तानात्य-न्तिकत्वे।	३	२
वैदिकधर्मकलापस्य दृष्टोपाय-समानत्वम्।	४	१५
अव्यक्तव्यक्तादिविज्ञानोपायस्यै-कान्तिकात्यन्तिकदुःख-निवर्तकत्वम्।	६	१६
चतुर्विधप्रमेयवर्णनम्।	९	२
त्रिविधप्रमाणकथनम्।	७	९
प्रमाणान्तरास्त्रिविध-प्रमाणेष्वन्तर्भावः।	८	८
प्रत्यक्षलक्षणम्।	९	१२
षोदाहरणानुमानविधानम्।	,,	१३
प्रमाणविशेषैः प्रमेयविशेष-साधनम्।	११	३
अनुपलब्धिहेतुपरिगणनम्।	,,	१०
लोकप्रत्यक्षप्रमाणानुपलब्धावपि कार्यतस्तदनुपलब्धिः।	१३	३
सत्कार्यवादस्थापनम्।	१४	४
व्यक्ताव्यक्तयोः वैधर्म्यम्।	१५	७

विषयः	पृ०	पङ्क्तिः
व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यं पुरुष-वैधर्म्यं च।	१८	२
त्रिगुणस्वरूपप्रयोजनादि-कथनम्।	२०	७
गुणत्रयेऽविवेकादि-साधनम्।	२३	४
अव्यक्तसाधनम्।	२४	१०
प्रकृतिप्रवृत्युपपादनम्।	२६	१३
पुरुषसिद्धिः।	२८	८
पुरुषनानात्वसाधनम्।	३१	३
पुरुषधर्मवर्णनम्।	३२	५
पुरुषे कर्तृत्वाभासः	३३	४
सर्गकारणसंयोगकथनम्।	३४	१६
सृष्टिक्रमः।	३५	११
बुद्धिलक्षणधर्मादि-वर्णनम्।	३६	११
अहङ्कारलक्षणम्।	३९	१२
इन्द्रियतन्मात्रोत्पत्तिः।	४०	५
ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि।	४२	३
मनसो लक्षणम्।	४३	३
इन्द्रियाणां व्यापाराः।	४५	१०
अन्तःकरणव्यापाराः।	४६	७
वृत्तानां क्रमयोगपद्ये।	४८	४

विषयः	पृ०	पङ्क्तिः
पुरुषार्थस्य करणवृत्ति प्रयोजकत्वम् ।	५०	१
करणानां विभागः	५१	२
अन्तःकरणानां विभागः	५२	८
बाह्यकरणानां विषय-विभागः ।	५४	१
त्रयोदशकरणानां द्वारद्वारिभावः	५५	४
बुद्धेः प्रधानकरणत्वम् ।	,,	७
विशेषाविशेषविभागः	५७	६
विशेषाणामवान्तर-भेदाः ।	५८	१२
सूक्ष्मशरीरस्वरूपादि ।	६०	११
सूक्ष्मशरीरसाधनम् ।	६१	१०
सूक्ष्मशरीरनैयत्यम् ।	६२	९
भावानां विभागः ।	६४	२
धर्मादिफलवर्णनम् ।	६५	८
वैराग्यादिफलकथनम् ।	६६	११
विपर्ययभेदानां विस्तारः ।	६७	९
तमःप्रभृतिभेदकथनम् ।	७०	६
अशक्तिभेदाः ।	७२	१
तुष्टिभेदाः ।	७३	२
सिद्धिभेदाः ।	७६	२
लिङ्गाख्यभेदेन विविधसर्गः ।	७८	६
प्रौतिकसर्गसंख्यव्यवस्था ।	८०	४
गुणभेदेन सर्गसंख्यव्यवस्था ।	,,	७
दुःखबहुलसर्गस्य हेयत्वम् ।	८१	७
सर्गस्य प्रकृतिकृतत्वम् ।	८३	१
सर्गस्य चेतनकर्तृत्वादोष-समाधाने ।	८४	२
पुरुषविमोक्षाय प्रकृतेः प्रवृत्तिः ।	८५	७
प्रकृतेः सर्गनिवृत्तिः ।	८६	४
प्रकृतेर्निःस्वार्था प्रवृत्तिः ।	,,	७
प्रकृतेः पुनः सर्गान्तरा-प्रवृत्तिः ।	८७	७
प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ ।	८९	१४
धर्मादिभावसहकृतस्य बन्धनिमित्तता ।	९१	८
विवेकख्यात्युत्पत्तिः ।	९२	२
प्रेक्षकपुरुषस्य जीवन्मुक्तत्वम् ।	९३	५
संयोगे सत्यपि सर्गाभावः ।	९४	१
संस्कारेण चक्रभ्रमि-वत्स्थितिः ।	९९	११
कैवल्यावाप्तिः ।	९७	४
कापिलशास्त्रस्य शिष्य-परम्परागतत्वम् ।	,,	८
एतद्ग्रन्थस्य शास्त्रत्वम् ।	९९	७
ग्रन्थसमाप्तिः ।	१००	

॥ श्रीः ॥

सांख्यकारिका

'गौडपादभाष्य'समलङ्कृत-

सटिप्पण 'चन्द्रिका'हिन्दीव्याख्योपेता

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्याद् सांख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय (१) ॥ १ ॥
अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम् (२) ।
शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

दुःखत्रयेति । अस्या आर्यायाः उपोद्घातः, क्रियते (३) । इह भगवान्

साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र भगवदवतार कपिल महामुनिने अवतार लेकर सारे संसारके जीवोंको अज्ञानरूप अन्धकारमें डूबा हुआ देखकर उनपर दया करते हुए पचीस तत्त्वोंके ज्ञानसे भरे हुए जिस सांख्यशास्त्र का अपने प्रधान शिष्य आसुरि

(१) सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैः प्रतायमानेऽमुष्मिन्मायाप्रपञ्चे निमज्जतां प्राणिनामुद्धरणार्थं 'संख्यां प्रवदंते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते । चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥' इत्याद्युक्तदिशाऽन्वर्थसंज्ञा सांख्यदर्शनात्मिका नौरिव येन महर्षिणा विनर्मिता तस्मै नम इति भावः ।

(२) दृष्टादीनि प्रमाणानि, सत्कार्यवादादिरूपाः सांख्यसिद्धान्ताः अव्यक्तादिप्रमेयसाधकहेतवश्च तैर्युक्तमित्यर्थः ।

(३) प्रासङ्गिकं पीठमारभ्यत इत्यर्थः ।

ब्रह्मसुतः कपिलो नाम, तत् यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्रा: सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्च' इति । एवं स उत्पन्न सन् अग्ने तमसि मज्जज्जगदालोक्य संसारपारम्पर्येण सत्कारपूर्वो जिज्ञासमानाय आसुरिमोघाय ब्रह्मणा इदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानम् उक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

तदिदमाह—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति । तत्र दुःखत्रयम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं—शारीरं मानसं चेति । शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि । मानसं प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि । आधिभौतिकं चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं (१) मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते । आधिदैविकं—देवानामिदं दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य (२) यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् ।

एवं यथा दुःखत्रयाभिघाता (३)ज्जिज्ञासा कार्या । कथं ? तदभिघातके हेतौ ।

मुनिको उपदेश किया था, आचार्य-परम्परासे प्राप्त उसी सांख्यशास्त्र का सार ईश्वरकृष्ण नामके महर्षिने सत्तर कारिकाओंमें संग्रहकर शिष्योंको इस तरह पढ़ाया कि हे शिष्यो ! इस संसारमें प्राणिमात्रको (४) आध्यात्मिक, आधिभौतिक

(१) अनुपदवक्ष्यमाणजरायुजादि-चतुर्विधभूतसमुदायोऽयम् ।
(२) तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः ।
(३) इत्युक्तदुःखत्रयाभिसम्बन्धादित्यर्थः ।
(४) शरीर तथा मनमें जो दुःख होते हैं वे दो प्रकारके (शारीरिक तथा मानसिक) आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं, ये इनमेंसे वातपित्तकफादिकोंके

दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति । 'दृष्टे सापार्था चेत्, दृष्टे हेतौ दुःखत्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्था चेद्, यदि तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्षाराद्यभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः, आधिभौतिकस्य (१) रसादिनाऽभिघातो दृष्टः, दृष्टे साऽपार्था चेदेवं मन्यसे; न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात् । यत एकान्ततोऽवश्यमत्यन्ततो नित्यं दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न भवति, तस्मादग्यत्र (२) एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति ॥ १ ॥

तथा आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंके प्रतिकूल होनेके कारण असह्य सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिपुरुष—विवेकद्वारा उक्त दुःखोंके नाशक सांख्यशास्त्र ज्ञान रूप उपायकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) बुद्धिमान पुरुषोंको होती है ।

शिष्यों का प्रश्न—पूर्वोक्त दुःखत्रयका उच्छेद रसायनादि औषध-सेवनरूप दृष्ट (लौकिक) उपायोंसे हो सकता है इसलिए शास्त्रज्ञानरूप अलौकिक उपायमें जिज्ञासा व्यर्थ है ?

उत्तर—दृष्टोपायोंसे दुःखोच्छेद अवश्य होता ही है यह नियम न होनेसे तथा होनेपर भी फिर दुःख पैदा होते हैं, इस कारण ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक

वैषम्यसे जो ज्वरादि होते हैं, ये शारीरिक दुःख कहलाते हैं, तथा दूसरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या तथा अभीष्ट विषयों की अप्राप्तिसे होनेवाले दुःख मानसिक कहे जाते हैं । आधिभौतिक दुःख वे हैं जो चोर, चोर इत्यादि भौतिक प्राणियोंसे पैदा होते हैं । इसी तरह अग्नि-वायु इत्यादि देवताओंसे होनेवाली दाहादि व्याधियोंको आधिदैविक कहते हैं, और भूत, पिशाचादि बाधाओंको भी आधिदैविक दुःख ही कहते हैं ।

(१) निरवयवस्थानवासनीतिशास्त्रानुसरणादिरूपरजःप्रादिनेत्यर्थः । इदमुपलक्षणम्—आधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधादिनाऽभिघातो द्रष्टव्यः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—दृष्ट इति ।

(२) पूर्वोक्तदृष्टोपायाद्भिन्ने सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप इत्यर्थः ।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।

(१) 'यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव, यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः, अनुभूयत इत्यनुश्रवस्तत्र भवः, आनुश्रविकः, स च आगमात् सिद्धः, यथा—

श्रुति — अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूतिरमृतमर्त्यस्य ॥

(२) कदाचिदिन्द्रादिनां देवानां कल्प आसीत्—कथं वयममृता अभूमेति विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं पीतवन्तः सोमं तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः । किञ्च, अगन्म ज्योतिः— गतवन्तः लब्धवन्तः ज्योतिः स्वर्गमिति । अविदाम देवान्—दिव्यान् विदितवन्तः । एवं च किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः, नूनं लिखितं किमस्मान् शत्रुरस्मान् कृणवत् करोतीति । किमु धूतिरमृतमर्त्यस्य धूतिर्जरा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य (३) । अन्यत्रापि वेदे श्रूयते आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन—'सर्वाँल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते' इति । एकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते (४) 'अपाम सोम' इति, न । उच्यते—दृष्टवदानुश्रविक इति । दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत्,

(१) शङ्कते यदीति । नैवेति । दृष्टोपायातिरिक्ते सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानविषये जिज्ञासा नैव कार्या इति शेषः । तत्र हेतुमाह—यत इति ।

(२) इतिहासमन्त्रार्थमाह—कदाचिदिति । कल्पः—न्यायः ।

(३) दिव्यशरीरस्य मे इत्यर्थः । आनुश्रविककर्मफलात्यन्तिकदुःखनिवृत्तौ प्रमाणान्तरमाह—अन्यत्रेति । पशुवधेन तन्निमित्तेन यागादिकर्मणेत्यर्थः ।

(४) आत्यन्तिकैकान्तिकदुःखपरिहारके वैदिके कर्मणि सुकरे उपाये विद्यमाने सति दुष्करे शास्त्रोक्ततत्त्वज्ञानरूपे जिज्ञासा व्यर्थेत्यर्थः ।

दुःखोच्छेद दृष्ट उपायसे नहीं हो सकता, और सांख्यशास्त्रके ज्ञानसे उत्पन्न तत्त्वज्ञान रूप अलौकिक उपायसे ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखका उच्छेद हो सकता है अतः सांख्यशास्त्रमें मुमुक्षु पुरुषोंकी जिज्ञासा होना युक्त है ॥ १ ॥

इसी तरह मुख्य विशेष रूप स्वर्गादि फलोंको देनेवाले ज्योतिष्टोमयागादिरूप वेदोक्त कर्म भी पशुहिंसादिकोंसे भरे होने के कारण अशुद्धि, तथा कालान्तरमें

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

सोऽसौ आनुश्रविकः, कस्मात् स दृष्टवत् ? यस्मादविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः । अविशुद्धियुक्तः पशुघातात्, तथा चोक्तम्—

धर्मः — षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनात्तानि पशुभिरिष्मिः ॥ इति ।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि (१) मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति । तथा—

कहनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे-युगे ।
कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ इति ।

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः । तथातिशयो विशेषस्तेन युक्तः । विशेषगुणदर्शनादितरस्य (२) दुःखं स्यादिति । एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत् । 'कस्तर्हि श्रेयानि'ति ? उच्यते—तद्विपरीतः श्रेयान्, ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विपरीतः श्रेयान् प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वात् । स कथमित्याह—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् । तत्र व्यक्तं महदादि-बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, अव्यक्तं प्रधानम्, ज्ञः पुरुषः, एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते, एतद्विज्ञानाद् श्रेय इति । उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥ २ ॥

फलके विनाशी होने से क्षयी, एवं उक्त कर्मों के फलों में न्यूनाधिक भाव होने से ईर्ष्यादिक हो सकते हैं । इसलिए अतिशय, ऐसे तीन दोष होने से, पूर्वोक्त दृष्ट उपायों के समान ही है, क्योंकि उनसे भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोच्छेद नहीं हो सकता, इसलिए प्रत्यक्ष तथा वेदोक्त उपायों से भिन्न सांख्यशास्त्रमात्रसे होने वाला तत्त्वज्ञान रूप उपाय ही ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोच्छेदमें समर्थ होने से श्रेयस्कर है, जो व्यक्त (महदादिकार्य) अव्यक्त (प्रकृति) तथा पुरुष (आत्मा) इन तीन प्रकार के पदार्थों के ज्ञान से होता है ॥ २ ॥

(१) पशुवधजन्यपापफलदुःखयुक्तत्वात् स्वर्गादिरूपयागफलजनको धर्मो न इत्यर्थः । वेदहिंसाभिन्नहिंसैव पापजनिकेत्यत्र भिन्नान्तत्वनिवेशे प्रमाणाभावात् ।

(२) हीनगुणसम्पदः ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

'अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति' (१) उच्यते मूलप्रकृतिः प्रधानम्-प्रकृतिविकृतिसाकल्यस्य मूलभूतत्वात्, मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः, अविकृतिः अन्यस्माज्जोत्पद्यते, तेन प्रकृतिः (२) कस्यचिद्विकारो न भवति । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । महान् बुद्धिः, बुद्धयाद्याः सप्त-बुद्धिः १ अहङ्कारः १ पञ्च तन्मात्राणि ५ एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद् यथा—प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति, सैवाहङ्कारमुत्पादयति अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्च तन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव (३) वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवाप

प्रश्न—सांख्य में मुख्य कितने पदार्थ हैं ।

उत्तर सांख्यमतमें व्यक्तादि तीन प्रकारके पदार्थोंका (जिनमें पचीस तत्त्व सांख्य मत के अन्तर्गत है) स्वरूप मुख्यतः चार प्रकारसे विभक्त है—१ केवल प्रकृति रूप, २ प्रकृति-विकृति उभय रूप, ३ केवल विकृति रूप, ४ अनुभय रूप। जिनमेंसे सारे जगत् कार्यको पैदा करनेवाली किसी दूसरे कारणसे न पैदा होनेवाली प्रकृति जिसे 'अव्यक्त' कहते है केवल प्रकृति रूप पदार्थ है । दूसरे व्यक्त पदार्थको नौ हिस्सोंमें विभाग किया है (१) जिसमेंसे महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा ये सात प्रकृति विकृति (कारण-कार्य उभय रूप) पदार्थ हैं, (२) और

(१) पूर्वोक्तपञ्चविंशतितत्त्वानां संक्षिप्तचतुर्विधसंख्याभिमतपदार्थेषु अन्तर्भावरूपविशेष उच्यत इत्यर्थः ।

(२) प्रकर्षेण कार्यकाल्यात्प्रकृतिरिति वाचस्पतिमाश्रो ।

(३) पूर्वोक्तक्रमतन्मात्रोक्त्या, एवमग्रेऽपि ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।

उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदादयः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च महाभूतानि एष षोडशको गणो विकृतिरेव विकारो विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः (१) ॥ ३ ॥

(२) एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति, इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयस्तुलया चन्दनादि, तस्मात् प्रमाणमधिक्रियते (३) । दृष्टमिति दृष्टं त्रयं श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासंख्यम्, शब्दं श्रोत्रं गृह्णाति, त्वक् स्पर्शं, चक्षु रूपं, जिह्वा रसं, घ्राणं गन्धमिति, एतद् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम् । (४) प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आप्तवचनाद् ग्राह्यः ५) ।

एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत ऐसे सोलह केवल विकृति (केवल कार्य रूप) पदार्थ हैं । चौथा 'ज्ञ' पुरुष अर्थात् आत्मा अनुभय रूप (न कारण न कार्य) है, ऐसे तीन पदार्थ या पचीस तत्त्व सांख्यमतमें ४ भागोंमें रखे गये हैं॥ ३ ॥

प्रश्न—बिना प्रमाण के उक्त पदार्थ क्यों माने जाँय ?

उत्तर—परन्तु इन चार प्रकार के प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थों की सिद्धि बिना प्रमाणों के नहीं हो सकती, इसीलिए १-प्रत्यक्ष २-अनुमान तथा ३-आप्त

(१) एवं च प्रकृतिविकृतिरूपे जगति कश्चित्प्रकृतिरूप एव, कश्चिद्विकृतिरूप एव, कश्चिदुभयरूपः, कश्चिदनुभयरूप एव पदार्थ इति भावः ।

(२) प्रमेयोद्देशानन्तरम् । प्रमाणनिरूपणो सङ्गतिमाह—एवमिति ।

(३) तद्द्वयेति-विभागलक्षणाभ्यां दृष्टमितीति शेषः ।

(४) अस्यक्षपूर्वकमनुमानं प्रसिद्धत्वाद्वक्ष्यमाणत्वाच्चात्रोद्देशप्रकरणे नोक्तम् ।

(५) आप्ता रागद्वेषरहिता सनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदस्ताभ्यामुपदिष्टं तथेति अद्रष्टेयमाप्तवचनमिति माठरः ।

यथा 'इन्द्रो देवराजः, उत्तरः कुरुः स्वर्नेऽप्सरसः' इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानागमाप्तवचनाद् गृह्यते । अपि चोक्तम् (१)—

आगमोऽप्तवचनमाप्तं (२) दोषक्षयाद्विदुः ।
दोषदोषोऽनृतवाक्यं न ब्रूयादृतसम्भवात् ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सज्जुष्टेषविवर्जितः ।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥ इति ।

(३) एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति । षट् प्रमाणानि जैमिनिः । अथ कानि तानि प्रमाणानि ? 'अर्थापत्तिः सम्भवः अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम् उपमानं' इति षट् प्रमाणानि । तत्रार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टा श्रुता च । तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव । श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते रात्रौ भुङ्क्त इति सम्भवो यथा—प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते । अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः । प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयौवनादिषु(४) । इतरेतराभावः-पटे घटाभावः । अत्यन्ताभावः खरविषाणवन्ध्यासुतखपुष्पवदिति । सर्वाभावः—प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति । यथा शुक्लधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते । (५) एवमभावोऽनेकधा । प्रतिभा यथा—'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम् । पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ॥' एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते, प्रतिभा

(१ अत्र एवोक्तमित्यर्थः ।

(२) आप्तवचनं लक्षयित्वा तद्घटितमाप्तत्वं निर्वक्ति-आप्तमिति ।

(३) सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति कारिकांशं व्याचष्टे-एतेष्विति । सिद्धानि-अन्तर्भूतानि ।

(४) कुमारदेवदत्ते युवा भविष्यतीति यौवनप्रागभाव इत्यर्थः ।

(५) यथा—प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरत्यन्ताभावयोर्बहुत्वम् एवं विशिष्टाभावद्वित्वावच्छिन्नाभावसामान्याभावभेदेनाभावस्यानेकविधत्वं विभावनीयम् ।

सानुवाद-गौडपादभाष्योपेता

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥
प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।

च जानतां आगमिति (१) । ऐतिह्यं यथा—ह्रदे लोको वसत्यत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव ऐतिह्यम् । उपमानं यथा—गौरिव गवयः, समुद्र इव तडागः । एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता (२), सम्भवाभावप्रतिभैतिह्योपमाश्चाप्तवचने । तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् **त्रिविधं प्रमाणमिष्टं**, तदाह-तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति (३) शास्त्रशेषः । **प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि** । प्रमेय प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि पुरुष इति, एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते, तत्र किंचित् प्रत्यक्षेण साध्यं किंचिदनुमानेनेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ४ ॥

तस्य किं लक्षणमेतदाह-प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टं, प्रत्यक्षमित्यर्थः । **त्रिविधमनुमानमाख्यातं**—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो

वचन ऐसे तीन ही प्रमाण सांख्योंने इसलिए माने हैं कि नैयायिक इत्यादिकोंसे माने हुए उपमानादि रूप बाकी सब प्रमाणोंका इन्हीं तीन प्रमाणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है । पूर्वोक्त प्रमेय पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणों ही से होनेके कारण प्रमाणों का निरूपण करना आवश्यक है ॥ ४ ॥

प्रश्न उक्त प्रमाणों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—उक्त तीन प्रमाणोंमेंसे विषयोंमें सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) इन्द्रियोंसे पैदा

(१) इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थभानं सा प्रतिभा सैव च प्रातिभमार्षापरपर्यायं ज्ञानमिति प्रशस्तपादाचार्याः ।

(२) जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिःसत्त्वकल्पनमर्थापत्तिरभिमता मीमांसकानाम्. किन्तु देवदत्तो बहिःसत्तावान् औचित्वे सति गृहेऽसत्त्वादहमिवेति व्यतिरेक्यनुमान एव तस्या अन्तर्भाव इत्यर्थः । सम्भवेति । अत्र सम्भवाभावयोरनुमानप्रत्यक्षान्तर्भावस्य सकलदार्शनिकसंमतत्वादाप्तवचनेऽन्तर्भाविश्चिन्त्यः ।

(३) दृष्टादित्रिविधप्रमाणेऽर्थापत्त्यादिप्रमाणान्तर्भावो भवतीत्यर्थः ।

तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

दृष्टं चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववद्, यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति पूर्वं दृष्टत्वात्। शेषवत् यथा—समुद्रादेकं जलपलं (१) लवणमास्वाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतो दृष्टम्-देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तं दृष्टम् गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमानयमिति तद्वच्चन्द्रतारकमिति, तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतो दृष्टेन साधयति (२) एतत्सामान्यतो दृष्टम्। किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति, तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा-दण्डेन यतिः। लिङ्गिपूर्वकं च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति (३) आप्तश्रुतिराप्तवचनं च। आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्तश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः (४) तदुक्तमाप्तवचनमिति। एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥

हुए बुद्धिके व्यापारको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, और इस व्यापारसे चेतन्य शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ना ही उसका फल है, जिसे प्रमा या पौरुषेयबोध ऐसा सांख्यमतावलम्बी कहते हैं। अथवा जिससे नियमित विषयका निश्चय होता है ऐसे इन्द्रिय या इन्द्रियसन्निकर्षको ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और इसका फल है चेतनमें प्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्ति। अनुमान प्रमाण वह है जो हेतु तथा साध्यके व्याप्ति ज्ञान तथा लिङ्गपदकी आवृत्तिसे हेतुका पक्षमें रहनेका ज्ञान अर्थात् व्याप्ति-

(१) पलपरिमाणं जलमित्यर्थः लवणं क्षारम्

(२) अत्र अयं देशो भविष्यद्वृष्टिमान् मेघोन्नतिमत्त्वात् तद्देशवत्, समुद्रजलं क्षारमुदधिजलत्वाद्बुद्धतत्र्जलवत्, चन्द्रतारकं गतिमत् देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाच्चैत्रवदिति क्रमेण त्रिविधस्यानुमानस्य प्रयोगा द्रष्टव्याः।

(३) लिङ्गं व्याप्यं, लिङ्गि व्यापकं, लिङ्गलिङ्गिपदेन प्रत्ययोपलक्षणम्, लिङ्गिग्रहणावृत्त्या च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानं दर्शितम्, तेन व्याप्य-व्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणमिति मिश्राः।

(४) द्वन्द्वसमासेन वेदवाक्यानामार्षाणां वाक्यानां च स्वतःप्रमाणत्वं मुद्घोषितमन्यमूलत्वाच्चेतरेषां प्रमाणत्वमिति।

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

'तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम्' उच्यते—सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामिन्द्रियाग्राह्यतीत्य वर्तमानानां सिद्धिः। प्रधानपुरुषादतीन्द्रियो सामान्यतो दृष्टेनानुमानेन साध्येते,—यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति, यतश्चेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्—'यमेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस' इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

अब कदाचित् 'प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति तस्मात् तावपि न स्तः, यथा द्वितीयं शिरस्तृतीयो बाहुरिति। (१) तदुच्यते—

विशिष्टपक्षधर्मता = ज्ञानात्मक परामर्श ही को अनुमान कहते हैं, जिससे पर्वतमें वह्निज्ञान रूप अनुमिति फल होता है। इसके १ पूर्ववत् (कारणसे कार्यका अनुमान), २ शेषवत् (कार्यसे कारणका अनुमान), ३ सामान्यतो दृष्ट (कार्य तथा कारणसे भिन्न लिङ्गसे अनुमान) ऐसे तीन भेद हैं। आप्तवचनरूप शब्द प्रमाणका लक्षण है अर्थात्—यथार्थ वाक्यसे पैदा हुए वाक्यार्थज्ञानको प्रमाणशब्द कहते हैं। इस लक्षणसे वेद तथा तन्मूलकश्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानोंका भी युक्त होनेसे शब्दप्रमाणमें संग्रह हो जाता है, और अयुक्त होनेसे बौद्धादि दर्शनोंके वाक्य-ज्ञानका संग्रह नहीं होता है ॥ ५ ॥

प्रश्न—उक्त तीनों प्रमाणों के प्रमेय कौन से हैं ?

उत्तर—इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य सभी पृथिव्यादि पदार्थोंकी, सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे, सिद्धि होती है, और अतीन्द्रिय प्रकृत्यादि पदार्थोंकी सिद्धि सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रमाणसे होती है, और जो याग-अपूर्व-स्वर्ग इत्यादि पदार्थ अनुमानसे भी गृहीत नहीं होते उनकी सिद्धि शब्द प्रमाणसे होती है ॥ ६ ॥

प्रश्न—प्रकृत्यादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

(१) तत्रोच्यत इत्यर्थः। अत्र—जगति।

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति । तद् यथा इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा यथा—देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्रविषाणिमाणाम् । सामीप्याद् यथा चक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः । इन्द्रियाभिघाताद् यथा बधिराद्यैः शब्दरूपानुपलब्धिः । मनोऽनवस्थानाद् यथा—व्यग्रचित्तः सम्पक्वकषितमपि नावधारयति । सौक्ष्म्याद् यथा धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते । व्यवधानाद् यथा—कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते । (१) अभिभवाद् यथा सूर्यतेजसाऽभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयः नोपलभ्यन्ते । समानाभिहाराद् यथा—मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतनल्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्रव्यमध्याहृतत्वात् । एवमष्टधानुपलब्धिः सतामर्थानामिह दृष्टा ॥ ७ ॥

उत्तर—। बहुत दूर होने से प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे आकाशमें बहुत ऊपर गये पक्षीका दूरता दोषसे प्रत्यक्ष नहीं होता । २ बहुत पास होनेसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे अपने ही आँखोंमें लगा हुआ काजल दिखाई नहीं देता । ३ इन्द्रियोंके घात (नाश) से भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे अन्धेको रूप नहीं दिखाई देता । ४ मनके एक विषयमें आसक्त होनेसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे कार्य पुरुषको आँखके सामने रहनेवाले पदार्थ भी नहीं दिखाई पड़ते । ५ अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वस्तु नहीं दीख पड़ती । जैसे परमाणु पदार्थ पास होने पर भी अतीन्द्रिय होनेसे नहीं दीख पड़ते । ६ व्यवधान (बीचमें दीवाल इत्यादिकोंकी आड़) होनेसे पदार्थ नहीं दिखाई देते । ७ अभिभव (तिरस्कार) से भी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दिनमें सूर्यप्रकाशसे तिरस्कृत होनेके कारण ग्रहनक्षत्र आदि नहीं दीख पड़ते । ८ समानाभिहार (समान पदार्थमें मिल जानेसे) भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे वर्षाका पानी नदीके पानीमें मिल जानेसे अलग अलग नहीं दिखाई देता ॥ ७ ॥

(१) बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः ।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥ ८ ॥

(१) 'एवं चास्ति किमभ्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येतयोर्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः' । तदुच्यते—**सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः**, प्रधानस्येश्वर्यः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः, सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? **कार्यतस्तदुपलब्धिः** । कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यम्, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं **प्रकृतिविरूपम्**—प्रकृतिः प्रधानं तस्य विरूपं प्रकृतेरसदृशम् **सरूपं च** समानरूपं च, यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टाद्व्याख्यामः (२) ॥ ८ ॥

'यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सदुताहोस्विदसत् आचार्यविप्रतिपत्तेरयं

प्रश्न इन आठ हेतुओंमें से प्रकृत्यादि पदार्थों के प्रत्यक्ष न होने में एक भी न मानकर, उक्त पदार्थोंके प्रभावसे ही उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा क्यों न माना जाय ?

उत्तर—अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण परमाणुओंके समान प्रकृत्यादि पदार्थोंकी उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती न कि उनका अभाव होनेसे, क्योंकि महत्तत्त्व अहङ्कारादिकार्योंसे अनुमान द्वारा उनकी सिद्धि होती है । वे महत्तत्त्वादिकार्य जो प्रकृतिके समानधर्म तथा विरुद्धधर्मवाले दो प्रकारके होते हैं, आगे सिद्ध किये जायेंगे क्योंकि साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकारके कार्यतत्त्वज्ञान ही मुक्तिमें उपयोगी होता है ॥ ८ ॥

और वह महत्तत्त्वादिकार्य सांख्यमतमें सत् है अर्थात् कारण व्यापारके पहिले भी उसको अव्यक्त रूपसे सत्ता है, क्योंकि यदि असत् हो तो उसे कोई भी

(१) शङ्कते—एवमिति । अष्टधाऽनुपलब्धिवर्णनात् तथाप्येतयोः केन हेतुना प्रधानपुरुषयोरनुपलब्धावपि सिद्धिर्भवतीति शङ्काकर्तुराशयः ।

(२) हेतुमदनित्यम् त्रिगुणमविवेकीति कारिकाद्वय इत्यर्थः ।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

संशयः। (१) यतोऽत्र सांख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनामसत्कार्यम्, यदि सदसद्भयमप्यास्तां भवतीति विप्रतिपत्तेः' । तत्राह—असदकरणात् । न सदसदुभयं लोकाख्यं तस्मात्सत्कार्यम्, इह लोकेऽसत्करणं नास्ति, यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः करणादसति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः सत्कार्यम्। किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात्, उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च सर्वसम्भवाभावात्, सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य रजतादौ तृणपांशुशिकतासु (२)। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम्। इतश्च शक्तस्य शक्यकरणात् इह कुलालः शक्तो मृद्भव्यक्तचीवररज्जुतीरादिकरणो-

(१) आचार्यविप्रतिपत्तिमेवाह—यत इति। विप्रतिपत्तिबीजं प्रदर्शयन्नाह पूर्वपक्षी—यदीति।

(२) अत्र चकारोऽपेक्षितः, अथवा तैलस्येति शेषोऽत्र कर्तव्यः।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।

करणं वा सर्वमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च कारणभावाच्च सत्कार्यम्। कारणं यल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः, व्रीहिभ्यो व्रीहयः, यदाऽसत्कार्यं स्यात् ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युर्न च (१) सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम्। एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सत उत्पत्तिर्नासत इति ॥ ९ ॥

'प्रकृतिविरूपं सरूपं च यदुक्तं तद् कथमिति' उच्यते—व्यक्तं महदादिकार्यम्। हेतुमदिति। हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः, व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत्। व्यक्तं भूतपर्यन्तम्, हेतुमद् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्, तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किञ्चान्यत् अनित्यं, यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते यथा मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः स चानित्यः। किञ्चाऽप्यपि, अनवंगमित्यर्थः, यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ नैवं व्यक्तम्। किञ्चान्यत् सक्रियं, संसारकाले

(१) न भवन्तीत्यर्थः।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

संसरति-क्रयोदशविधेन (१) करणेन सपुरुषं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। किञ्चान्यत् (२) अनेकं, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति। किञ्चान्यत् आश्रितम्, स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति। किञ्च लिङ्गं लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा सावयवम्, अवयवाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह (३)। किञ्च परतन्त्रं, नास्मनः प्रभवति यथा प्रधानतन्त्रो बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रतन्त्राणि पञ्च महाभूतानि च। एवं परतन्त्रं परायत्तं व्याप्यार्थं व्यक्तम्।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः—विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तम्, हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्, न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्माद्धेतुमदव्यक्तम्। तथाऽनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पादत्वात् न हि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं (४), प्रधानम्। किञ्चान्यत् व्यक्तं, व्यापि प्रधानं सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियमव्यक्तं सर्वगतत्वादेव। तथाऽनेकं व्यक्तमेकं प्रधानं कारणत्वात्, त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तथाश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानाद

प्रश्न=विवेकज्ञानमें उपयोगी व्यक्त (जगत् कार्य) तथा अव्यक्त (प्रधान) से समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म कौन से हैं?

उत्तर—व्यक्तमहत्तत्त्वादि कार्य हेतुमान् अर्थात् जिसके आविर्भावमें कारण

(१) बुद्ध्यहङ्कारमनांसि श्रोत्राभ्यन्तरकरणानि बुद्धिकर्मभेदेन दशविधानि इन्द्रियाणि बाह्यानीत्येवं वक्ष्यमाणत्रयोदशकरणेनेत्यर्थः।

(२) प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्पृथिव्यादेरपि शरीरघटादिभेददर्शनेनाविशेषेति मिश्राः।

(३) अवयवावयविसंयोगविशिष्टमिति तत्त्वकौमुदीकारः।

(४) इत्यस्माद्धेतोः प्रधानमव्यक्तमुच्यत इत्यर्थः।

किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्तं लिङ्गत्वात्, महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति (१)। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं प्रभवत्यात्मनः ॥ १० ॥

है, ऐसे हैं, और अनित्य अर्थात् कभी-कभी इनका तिरोभाव भी होता है। इसी तरह अव्यापि माने सबमें नहीं रहते, क्योंकि व्यापक होनेसे क्रिया न होगी। तथा सक्रिय है, अर्थात् बुद्धादिक एक-एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करते हैं। और हर एक आत्माके साथ भिन्न-भिन्न बुद्धादि होनेसे बुद्धादिकार्य अपने-अपने कारणोंमें सृष्टिके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेसे अनेक हैं। इसी तरह बुद्धादिकार्य अनेक हैं, अथवा आश्रित हैं जैसे महत्तत्त्व-प्रधानमें, अहङ्कार-बुद्धिमें इत्यादि। इन्हीं कार्योंसे अव्यक्त (प्रधान) तथा पुरुषका अनुमान किया जाता है, इसलिए 'लिङ्गयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्' इस व्युत्पत्तिसे ये सब कार्य लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हैं। इसी प्रकार इनमें सत्त्व, रज तथा तमोगुणका मेल होनेसे सब सावयव हैं। तथा बुद्धादिकार्योंका साक्षात् अथवा परम्परासे प्रधानके अधीन ही स्वरूप परिणाम होता है इसलिए ये परतन्त्र हैं। ये सब बुद्धादि कार्योंके समान धर्म हैं। इन धर्मोंका वैधर्म्यरूप अव्यक्त प्रकृतिमें होता है, अर्थात् प्रकृति हेतुमान् नहीं है क्योंकि सब कार्योंका मूलकारण है, यदि इसको भी कारण माना जाय तो अनवस्था दोष हो जायगा। और आविर्भावशील न होनेसे सभी कार्यों में प्रकृतिका सम्बन्ध होनेसे वह व्यापक है, तथा शान्त, घोर, मूढादिक्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय है, तथा सजातीय भेद-शून्य होनेसे एक है, और कारण-रहित होनेसे निराश्रय तथा पुरुषके अनुमापक होने पर भी अपने कारणका अनुमापक न होनेसे अलिंग है। और सत्त्वादि गुणात्मक होनेसे निरवयव है, तथा कार्योत्पत्ति स्वयं समर्थ होनेसे स्वतन्त्र है ॥ १० ॥

(१) पृथिव्यादीनां परस्परसंयोगेऽपि प्रधानस्य न बुद्धादिभिः संयोगस्तादात्म्यात्, नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरप्रधानादिति मिश्राः।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्धर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते (१) यदुक्तं 'सरूपं च'। त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति । अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति, इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा **विषयो** व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः, सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । **सामान्यं** व्यक्तं, मूल्यदासोवत सर्वसाधारणत्वात् । अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः । तथा **प्रसवधर्मि** व्यक्तं, तद् यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते तस्माच्चैभ्यः पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तच्च त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुण यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्, इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति । तथाऽविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते अन्ये गुणाः अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न यांति तदविवेकि प्रधानम् । तथा विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति । तथा सामान्यं व्यक्तं प्रधानमपि, सर्वसाधारणत्वात् । तथा

प्रश्न—इन दोनोंका परस्परमें साधर्म्य तथा पुरुषमें वैधर्म्य क्या है ?

उत्तर—महदादि व्यक्त तथा प्रधानरूप अव्यक्त ये दोनों त्रिगुण हैं अर्थात् सत्त्व, रज तथा तमोगुण वाले हैं, क्योंकि उक्त तीन गुणोंकी समान अवस्था ही प्रकृति है और महत्तत्वादि प्रकृतिका कार्य होनेसे उनमें भी तीनों गुणों का सम्बन्ध है । इसी तरह ये दोनों अविवेकि हैं, अर्थात् प्रकृति से अभिन्न हैं । तथा विषय अर्थात् ज्ञानसे भिन्न बाहर इन दोनोंका ग्रहण होता है, न कि बौद्धमतके समान ये ज्ञानके आकार हैं, ज्ञानाकार माननेसे बुद्धयादिक अनेक पुरुषके भोगके योग्य न रहेंगे, क्योंकि भिन्न-भिन्न विज्ञान ततत्पुरुषोंके हो जाने जाते हैं इसलिए साधारणता नहीं आ सकेगी । इसीलिए व्यक्त तथा अव्यक्त सामान्य हैं, अर्थात् वेदान्त के समान सर्व पुरुषों की भोग्यपात्रता इनमें समान है तथा ये दोनों अचेतन

(१) सरूपादित्यर्थः ।

अचेतनं व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति, कथम् ? अनुमीयते—इह ह्यचेतनान्मूत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानमपि प्रसवधर्मि, यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते । एवं प्रधानमपि व्याख्यातम् ।

इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते । तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः पुमान् । तद् यथा—त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः । अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः । तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तं च, अविषयः पुरुषः । तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः । अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः, सुखदुःखमोहांश्चेतयति सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति । प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि किंचित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति । (१) यदुक्तं 'तथा च पुमान्' इति । तत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तद् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं, तद्विपरीतमव्यक्तं, तच्च हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमानहेतुभान्, अनुत्पाद्यत्वात् । अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान् । अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः (२) ।

अर्थात् अप्रकाशक होनेसे स्वयंप्रकाश चेतनसे भिन्न हैं । तथा प्रसवधर्मि अर्थात् समान तथा असमान परिणामको सदा पैदा करनेवाले हैं, क्योंकि प्रधान से बुद्धि तथा बुद्धिसे अहङ्कारादि कार्य सदा पैदा हुआ करते हैं । अब इन दोनोंसे पुरुष (आत्मा) के वैधर्म्यको सुनो—व्यक्त तथा अव्यक्त त्रिगुण हैं और पुरुष

(१) अत्र व्यक्ताव्यक्ताभ्यां वैधर्म्यमभिधायाव्यक्तसाधर्म्यमाहेति अपेक्षितम् एतदेव विवृणोति तदिति ।

(२) एक इति, चिन्त्यमिदं पुरुषबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा चैकत्वं विहाय अहेतुमत्त्वनित्यत्वव्यापकत्वनिष्क्रियत्वानात्मतत्त्वालिङ्गत्वगिरवयवत्वस्य तत्त्वत्वादिधर्मैर्वस्यैन पुरुषस्य प्रधानसाधर्म्यमनेकत्वं च व्यक्तैरोधर्म्यमिति अस्य व्याख्या युक्तेति विभावनीयम् ।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा च पुमाननाश्रितः । लिङ्गं व्यक्तमाश्रितं प्रधानं तथा च पुमानव्यलिङ्गः । न क्वचित्स्थीयत इति । सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तं तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति । किंच परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रधानत्वात् ॥ ११ ॥

एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्, व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृत्यार्यायां (१) व्याख्यातम्। यत्त्वयुक्तं त्रिगुणमिति व्यक्तमव्यक्तं च' तत् के ते गुणा इति तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रीत्यात्मका अप्रीत्यात्मका विषादात्मकाश्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः। तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वं, प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति । अप्रीत्यात्मकं रजः, अप्रीतिर्दुःखम् । विषादात्मकं तमः, विषादो मोहः । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अर्थशब्दः सामर्थ्यवाची, प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवृत्त्यर्थं रजः, प्रवृत्तिसमर्थमित्यर्थः । नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः ।

(१) अत्र प्रकृतार्यायामिति युक्तः पाठः अथवा प्रकृतिसम्बन्धिन्यामित्यर्थेनाप्यमीषीन एव, प्रकृत्य प्रस्तुत्येति वा ।

अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा इति । तथाऽन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च । अन्योन्याभिभवाः अन्योन्याश्रयाः अन्योन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः । अन्योऽन्याभिभवा इति अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीतिविषादिभिर्धर्मैराविर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते (१) यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति । तथाऽन्योन्याश्रयाश्च द्व्यणुकवद् गुणाः (२) । अन्योन्यजनाः—यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति (३) । तथाऽन्योन्यमिथुनाश्च (४) यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः । उक्तं च—

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः । रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे । उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते ॥

परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योन्यवृत्तयश्च परस्परं वर्तन्ते 'गुणा गुणेषु वर्तन्त

(१) आविर्भवति इदमस्मिन्वाक्यद्वयेऽप्यनुषङ्गजनीयम् ।

(२) यथा द्व्यणुकाः परस्परं परमाण्वाश्रिताश्चतुर्थे गुणा अपीत्यर्थः । सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमयति, त्रिदण्डविष्टम्भवदमो वेदितव्या इति माठरः ।

(३) अत्र 'जनन' गुणानां सदृशरूपो परिणामो ग्राह्यः, सांख्यमते आरम्भकत्वस्य तस्यासम्भवादिति बोध्यम् ।

(४) अन्योन्यमिथुनवृत्तयः, अविनाभाववृत्तयः, इति मिश्राः । एतन्मते वृत्तिपदस्य द्रष्टान्ते श्रूयमाणस्यान्योन्याभिभववृत्तय इत्यादिचतुर्थो भेदोदाहरणानि बोध्यानि ।

प्रकाश होता है—(नाना प्रकार के कार्य करनेका ज्ञान होता है), और रजोगुणसे नाना कार्य करनेमें प्रवृत्ति होती है, तथा तमोगुणसे कार्य करनेमें प्रवृत्ति रुक जाती है । और इन तीनों गुणोंमेंसे एक-एक दो-दो गुणोंको दबाकर अपनी-अपनी मुख्य

प्रश्न—त्रिगुणोंका स्वरूप, प्रयोजन तथा उनकी प्रवृत्तिका प्रकार क्या है ?

उत्तर—सत्त्व, रज तथा तम नामके गुण क्रमसे सुख-दुःख तथा मोहात्मक हैं अर्थात् सुख-दुःख तथा मोह ही इनका स्वरूप है और प्रकाश करना, प्रवृत्ति करना, तथा नियमन याने रोकना यह क्रमसे इनका कार्य है, अर्थात् सत्त्वगुणसे

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

इति वचनात् । यथा सुरूपा सुशीला स्त्री सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एव सत्त्व रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः । यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिग्रहे शिष्टानां सुखमुपादयति, दुष्टानां दुखं मोहं च, एवं रजः सत्त्वतमसोर्वृत्ति जनयति । तथा तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसोर्वृत्ति जनयति, यथा मेघाः क्षमासृज्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम्, एवमन्योन्यवृत्तयो गुणाः ॥१२॥

किञ्चान्यत्-सत्त्वं लघु प्रकाशकं च, यदा सत्त्वमुत्कट भवति तदा लघूनीन्द्रियाणि-बुद्धिप्रकाश प्रसन्नेन्द्रियाणां भवति । **उपष्टम्भकं चलं च रजः**, उपष्टम्भात्तदुपष्टम्भकसुखोत्कं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं इत्याकृतिः । तथा रजश्च चलं हृष्टं, रजोवृत्तिबलचितो भवति । **गुरु वरणकमेव तमः** यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरूणीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि, अत्राह (१) 'यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः स्वस्मते नैव कमर्थं निष्पादयन्ति, तर्हि कथं, (२) **प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः**, प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्, अर्थतः

शान्तादि वृत्तिको प्राप्त करते । इसलिए परस्पर अभिभववृत्ति वाले है और इनमें से एक-एक गुण अपने-अपने कार्यके लिए दूसरे दो गुणों का सहारा लेकर प्रवृत्त होते है । इसलिए परस्पराश्रय वृत्ति है, और संसार के सभी कार्योंके त्रिगुणात्मक होनेसे परस्पर जनक भी है, तथा स्त्री पुरुषके समान आपसमें संयोग स्वभाव भी है, पर विशेषता यह है कि जब इनमेंसे एक गुण अधिक बलवान् होता है तब दो गुण दुर्बल होते हैं ॥ १२ ॥

प्रश्न—विवेकज्ञान में उपयोगी उक्त तीनों गुणोंके विशेषधर्म तथा उसका नाम क्या है ?

उत्तर इनमेंसे पहिले सत्त्वगुण लघु (हलका) है तथा प्रकाशक है, क्योंकि

(१) पूर्वपक्षीत्यर्थः ।
(२) समाधत्ते-प्रदीपवदिति ।

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।

(१) साधना वृत्तिरिहा, यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थं प्रकाशान् जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति ॥१३॥

अन्तरप्रश्नो भवति-'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधानं व्यक्तं च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेकादीति च कथमवगम्यते ? तत्राह-**योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यात्** । 'महदादौ व्यक्ते नायं सिद्धयति अश्रोव्यते तद्विपर्ययाभावात् तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययस्त-

सत्त्वगुणकी अधिकतामें ही शरीरमें हलकापन पाया जाता है और इन्द्रियोंसे अपने-अपने विषयका ज्ञान भी शीघ्रतासे होता है। इसीलिए लघुत्व तथा प्रकाशकत्वको सत्त्वगुणका सांख्याचार्योंने लक्षण माना है, जिससे कार्योंका उद्गमन होता है और दूसरा रजोगुण उपष्टम्भक अर्थात् प्रवर्तक और चल याने क्रियारूप है, क्योंकि रजोगुणसे ही कार्य करने में प्रवृत्ति होती है और चलन भी उसीसे होता है । इसलिए प्रवर्तकत्व और क्रियत्व ये दोनों धर्म रजोगुण के लक्षण है और तीसरा जो तमोगुण है वह गुरु (भारी) तथा वरणक प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि तमोगुणसे ही शरीर तथा इन्द्रियोंमें भारीपन और विषयज्ञानकी रुकावट देखनेमें आती है, इसीलिए गुरुत्व तथा प्रतिबन्धकत्व ये दोनों तमोगुणके लक्षण सांख्यशास्त्रमें माने गये हैं । यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होनेसे मिलकर किसी एक कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकते, तो भी जैसे बत्ती, तेल और आग इनके परस्पर विरुद्ध होने पर भी अन्धकार-नाश द्वारा रूपप्रकाशरूप कार्यके लिए तीनों आपस में विरोध छोड़कर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं उसी तरह उक्त तीनों गुण आपस मे विरोध छोड़कर भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के लिए आपस में मिलकर कार्य कर सकेंगे ॥ १३ ॥

प्रश्न पूर्वोक्त अविवेकित्वादिधर्म प्रधान तथा महत्तत्त्वादि सृष्टियों में क्यों माने जाते है ?

उत्तर—त्रिगुणात्मक होनेसे महदादिक भी अविवेकित्वादि धर्मवान् है, जैसे-प्रकृति, इस प्रकार अन्वयी अनुमान द्वारा मुक्त धर्मोंकी सिद्धिके समान व्यति-

(१) पुरुषार्थशब्दादिदमर्थः ।

कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥
भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

स्याभावस्तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम् (१)। यथा चैव तन्तवस्तत्पर्यायः पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्ययाभावात्। एवं व्यक्ताव्यक्तसम्पन्नो भवति (२) दूरं प्रधानमानस्थं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात्। इतश्चाव्यक्तं सिद्धं **कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य** लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णैस्तन्तुभिः कृष्ण एव पटो भवति। एवं महदादिलिङ्गमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि यदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

'त्रैगुण्यादविवेक्यादेर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमित्येतन्मिथ्या। लोके यद्गोपलभ्यते तदस्ति' इति वाच्यम्, नखोऽपि पाषाणगर्भादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति किन्तु नोपलभ्यते तदाह-कारणमस्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः। **भेदानां परिमाणात्**—

रेकी अनुमानसे भी होती है, क्योंकि अविवेकित्वादि धर्मोंका जहाँ विपर्यय अभाव है वहाँ त्रैगुण्य भी नहीं है, अर्थात् जहाँ अविवेकित्वादि धर्मों का अभाव है वहाँ त्रैगुण्यका अभाव है जैसे आत्मा, इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमानसे भी प्रधान तथा महदादिकोंमें अविवेकित्वादि धर्मोंकी सिद्धि अबाधित है।

प्रश्न—प्रधान सिद्ध हो तो उसमें उक्त धर्म माने जाय, तथा अन्वयी अनुमान से उसे दृष्टान्त भी दिया जाय, अभी उसकी सिद्धिमें ही सन्देह है ?

उत्तर—यह नहीं हो सकता क्योंकि जैसे व्यावहारिक कार्योंमें यदि कार्य तन्तु हों तो उनसे काला कपड़ा ही बनता है, यह नियम है, उसी तरह महदादि व्यक्त कार्य भी जब त्रिगुणात्मक अविवेकित्वादि-धर्मवाले उपलब्ध होते हैं तो तद्रूप मूल कारण अव्यक्त भी मानना आवश्यक है ॥ १४ ॥

प्रश्न—अनुमानसे सिद्ध होने पर भी उपलब्धि नहीं होती इसलिए प्रधान कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

(१) अत्रैगुण्याभावाद् अत्यल्पविवेक्यादिगुणवदिति सिद्धमित्यर्थः।
(२) अविवेक्यादिगुण इति शेषः।

कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ॥ १५ ॥

लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं यथा कुलालः परिमितैर्मृल्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति, एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः, यथाकार्यमेका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति, यदि प्रधानं न स्यात्, तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम्। तथा **समन्वयात्** इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा यतयोधारिणं वटुं दृष्ट्वा समन्वयति (१) नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति, एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारणं (२) भविष्यतीति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। तथा **शक्तिः प्रवृत्तेश्च**—इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं रथं वा। तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः ? **कारणकार्यविभागात्**-करोतीति कारणम्,

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पाषाणमें गन्ध रहने पर भी अनुत्कट होनेसे जैसे उसकी उपलब्धि नहीं होती वैसे सूक्ष्म होनेसे प्रधानकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु महदादि व्यक्त कार्योंसे भिन्न अव्यक्त अग्रिम हेतुओंसे सिद्ध होता है।

प्रश्न महत्तत्त्वादिकोंको ही सब कार्योंका कारण क्यों न मानें ?

उत्तर—ये **परिमित**-अल्पापि होनेसे घटादिकोंके समान अव्यक्त कारण वाले हैं, जैसे घट मिट्टीरूप अव्यक्त कारण वाला है ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा, कार्यकी अव्यक्तावस्था ही कारण होता है, महदादि कार्योंके कारण हो को प्रधान कहते हैं, इसका भी कारण माननेसे अनवस्थादोष आ जायगा। इसी प्रकार समन्वय रूप हेतुसे भी अव्यक्तकी सिद्धि होती है, भिन्नोंकी समानरूपताको समन्वय कहते हैं, सुख, दुःख तथा मोहसे सम्बद्ध बुद्ध्यादिक अध्यवसायादि पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रतीत होते हैं, जो जिन रूपोंसे सम्बद्ध होते हैं वे उस स्वभाव

(१) समानरूपं कारणं साधयति।
(२) तत्त्रिगुणं भविष्यतीत्यर्थः।

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

कियत इति कार्यम्, कारणस्य कार्यस्य च विभागो यथा—घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो न तथा तत्कारणं मृत्पिण्डः मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति न चैवं घटो मृत्पिण्डम्, एवं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वानुमीयते-अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्तमिति (१)। इतश्च अविभागाद् वैश्वरूपस्य विश्वं जगत् तस्य कर्म व्यक्तम्, विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूपं, तस्याविभागादस्ति प्रधानं यस्माद् त्रैलोक्यस्य पचानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमेणैवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणमन्ति तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ बुद्धिः प्रधाने, एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृत्याविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागाद् क्षीरदधिवद् (२) व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥ १५ ॥

अतश्च अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रवर्तते। त्रिगुणात्: त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम्। तत् किमुक्तं भवति

अव्यक्त कारण वाले होते है जैसे मिट्टी, सोना इत्यादि कारणरूपोंसे सम्बद्ध घट-मुकुटादि कार्य मिट्टी आदि कारण वाले हैं, उसी तरह सुखदुःखमोहात्मक महदादि कार्योंका भी सुखदुःखमोहात्मक अव्यक्त कारण है, यह सिद्ध होता है। इसी तरह कारणकी शक्तिमें कार्यकी प्रवृत्ति होनेसे भी महदादि कार्योंका कारण

(१) कारणे कार्यस्य सत्ताद्यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विशन्ति च, एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविभक्तानि सन्ति विभज्यन्ते तथा पृथिव्यादीन्यपि तन्मात्रादिरूपकारणादविभक्तानि सन्ति विभज्यन्त इति अव्यक्तपर्यन्तं स्वस्वकारणाद्विभाग इति मिश्राः ।

(२) प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो निर्विशमानाः क्षीरदधिवन्ति, तत्कारणरूपेणावतिष्ठन्ते व्यक्तकार्यापेक्षयाऽव्यक्तमिति व्यवह्रियते, एवं पृथिव्यादयोऽपि तन्मात्रादिकारणं विशन्तः स्वस्वकारणमव्यक्तयन्तीति सोऽयं विभागो वैश्वरूपस्य कार्यस्येति वाचस्पतिमतम् ।

परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् (१)। तथा समुदयात् यथा गंगास्रोतांसि नानि शब्दध्वनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति, यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। (२ 'यस्मादेकस्माद् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्' । नैष दोषः, परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्। एकस्मात् प्रधानात् यथा लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यप्रधानं भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद् भवति, प्रतिप्रतीतिबोध्या, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेष

मानना आवश्यक है; क्योंकि असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, और वह कारणमें रहने वाली शक्ति साम्यावस्थामें कार्यकी अव्यक्तावस्था ही मानी गई है. यही तो तेलके धंदा करनेवाली तिलियोंसे बालुओंका भेद है कि तिलोंमें ही तेल अव्यक्तरूपसे रहता है न कि बालुओंमें, इसलिए महदादि कार्योंकी अव्यक्तावस्था अवश्य माननी चाहिए जिसे प्रधान या अव्यक्त कहते हैं।

इस प्रकार संसारके सभी कारणोंमें विद्यमान हो कार्योंका अपने-अपने कारणोंसे प्रगट होना तथा अपने-अपने कारणोंमें लय होना, इस प्रकारके कारण के विभाग तथा अविभागसे भी यह सिद्ध होता है कि पृथिव्यादि भूतकार्योंका जिस मूल कारणसे आविर्भाव तथा उसमें लय होता है ऐसा मूल कारण ही अव्यक्त या प्रधान कहा जाता है, जिस प्रकार कछुवेके हाथ-पैर इत्यादि शरीरके

(१) परिणामस्वभावानां गुणानां क्षणमपि परिणामं विहायावस्थानाऽसम्भवात्सत्त्वादिरूपतया प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति मिश्राः। प्रधाने सत्त्वादीनामवस्थानात् बहुत्वसंख्यापेक्षित्रिगुणत्व प्रवृत्तिश्चिन्त्या व्यवहारोऽत्र एकमात्रान्तोः षष्ठांसंभवत्कथमेकं प्रधानमनेककार्यजनकमिति निरस्तमिति माठरः।

(२) शङ्कते यस्मादिति । एकरूपात्कारणादेकं विचित्रकार्योत्पत्तिरिति शङ्काभिप्रायः। समाधत्ते नैष इति।

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।

प्रतिनियत (१) प्रतिपतिगुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तं यथा—आकाशादेकरसं अखिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद् भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः (२) एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रकृताक्ष्यो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽश्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽश्यन्तदुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽश्यन्तमूढाः ॥ १६ ॥

एवमार्याद्वयेन प्रधानस्मास्तित्वमभिधाय्यते, इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह । यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्, पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याप्यनुमितास्तित्वं प्रतिक्षिप्यते (३) अस्ति पुरुषः, कस्मात् ? **सङ्घातपरार्थत्वात्**—योऽयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थं इत्यनुमीयते, अचेतनत्वाद् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्को ह्यचेतनं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति, अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते यस्यार्थं पर्यङ्कस्तदर्थम् (४) इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति । इतश्चास्ति **त्रिगुणादिविपर्ययात्** । यदुक्तं पूर्वं

अवयव उसके शरीर में रहते हुए ही बाहर निकलते तथा भीतर पैठ जाते हैं उसी तरह प्रधानादि कारणोंमें विद्यमान ही महदादि कार्योंकी उत्पत्ति तथा उनमें लय होता है । इसलिए अव्यक्तरूप कारण मानना आवश्यक है ।

(१) अवलम्ब्य ।

(२) नारिकेलतालतालीबिल्वधिरबिल्वतिन्दुकामलककपित्थफलास्थितैस्तत्तद्रसैरित्यर्थः ।

(३) अनुमानेनास्तित्वं प्रतिक्षिप्यत इत्यर्थः ।

(४) पर्यङ्कवदिति दृष्टान्ते परार्थत्वं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तत्साधयति—

ख्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि, तस्माद्विपर्ययात्, यैर्यदुक्तं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् । **अधिष्ठानात्**, अयमेह लक्षणलक्षणवानसमर्थैरवयवैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति (१) । तथा चोक्तं

प्रश्न—अव्यक्तकी प्रवृत्तिका प्रकार क्या है ?

उत्तर—प्रलयकी अवस्थामें भी सत्त्व, रज तथा तमोगुण समान परिणाम वाले होते हैं अर्थात् अपने-अपने केन्द्रमें एक समान परिणाम होने पर भी परिणाम स्वभाव होनेसे सत्त्वकी सत्त्वरूपसे, रजकी रजोरूपसे तथा तमकी तमोरूपसे प्रलयावस्थामें भी प्रवृत्ति हुआ करती है, और विसदृश परिणाम होना ही सृष्टि है, परन्तु सृष्टिके समय मिलकर ये तीनों गुण महदादि कार्योंको पैदा करते हैं जिसमें एक गुणकी प्रधानता तथा बाकी दो गुणोंमें अप्रधानता रहती है जो बिना विषय परिणामके नहीं हो सकती । उपसर्जनप्रधानक भावसे होने वाली इस अनेक प्रकारकी गुणोंकी प्रवृत्तिसे ही सुख, दुःख, मोहादि भेदसे अनेक प्रकारके संसारमें विचित्र कार्य देखने में आते हैं ।

प्रश्न—इन एक रूप गुणोंकी अनेक प्रकारसे विचित्र प्रवृत्ति क्यों होती है ?

उत्तर—जैसे एक मधुर रसवाला वर्षा का पानी भिन्न-भिन्न देशकी पृथ्वी पर पड़कर बेल, जामुन, नारङ्गी, नीबू इत्यादि फलोंके पेड़ोंकी जड़से जाकर फलोंमें खट्टा, मीठा, कड़वा इत्यादि विचित्र रसोंको पैदा करता है, उसी तरह तीनों गुणों में पूर्वोक्त गुणप्रधान भावके कारण एक-एक गुणकी प्रधानता से सुखादिरूप विचित्र भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

प्रश्न पुरुष—आत्माकी सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर—'जो-जो सुख दुःख मोह रूप होता है वह दूसरेके लिए होता है जैसे शय्या, आसन, स्नान इत्यादि कार्य सुखादि रूप होनेसे दूसरे मनुष्योंके लिए होता है' इस व्याप्तिज्ञानसे अनुमान किया जाता है कि सुख-दुःख-मोहात्मक प्रधान महदादि सभी अव्यक्त तथा व्यक्त पर (दूसरे) के लिए है, वही पुरुष है, अर्थात् सुखदुःखादिरूप पदार्थों का सुखदुःखादिरूप भोग जड़ पदार्थोंको न हो सकनेसे

(१) अत्र शरीरं प्रयत्नवदात्माधिष्ठितं चेष्टावत्त्वाद् रथवदित्यनुमानप्रयोगो द्रष्टव्यः ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

बहिरन्त्रं पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते । अतोऽस्त्यात्मा— **भोक्तृभावात्** । यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते (१) एवं महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाधानादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति । इतश्च **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च**—

केवलस्य भाव कैवल्यं तस्मिमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः (२) सकाशादनुमीयते—अस्त्यात्मेति, यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानमुच्छित्सति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः ॥ १७ ॥

चेतन आत्मा मानना आवश्यक है। पूर्वोक्त त्रिगुणत्व-अविवेकित्वादि धर्मोंका विपर्यास होनेसे भी असंघात-सुखाद्यनात्मक परपुरुष चेतन सिद्ध होता है, यदि उस पुरुषको भी संघातरूप माना जाय तो वह भी किसी दूसरे संघात पदार्थके लिए होनेसे अनवस्था दोष आ जायगा, व्यवस्था हो सकते अव्यवस्था मानना ठीक नहीं है, इसलिए त्रिगुण तथा उनसे कार्योंके जड़ होनेसे आत्मामें त्रिगुणत्वादि धर्मोंका अभाव होनेके कारण चेतन पुरुषकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार जिस तरह रथ बिना सारथिकी प्रेरणासे नहीं चल सकता उसी तरह शरीरादि जड़ पदार्थोंमें भी बिना चेतनके अधिष्ठानके चलना-फिरना इत्यादि कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए त्रिगुणोंका अधिष्ठाता पुरुष है यह सिद्ध होता है। एवं भोक्तृभावसे भी पुरुषकी सिद्धि होती है, षड्रसादिकोंके समान जो व्यक्ताव्यक्तरूप च भोग्यपदार्थोंका भोग करता है वह पुरुष आवश्यक है; क्योंकि भोक्ताके बिना भोग्यपदार्थोंका सुखदुःखात्मक भोग ही नहीं हो सकता, अथवा बुद्ध्यादिक दृश्य पदार्थोंमें द्रष्टाके बिना दृश्यता नहीं आ सकती। इसलिए द्रष्टा आत्मा मानना आवश्यक है। इसी प्रकार शिष्ट पुरुषोंकी मुक्तिके लिए प्रवृत्ति होती है यह देखनेमें आता है, वह मुक्ति त्रिगुण होनेसे सुखदुःखात्मक प्रकृत्यादि पदार्थोंकी नहीं हो सकती इसलिए मुमुक्षु जनोंके प्रवृत्तिके उद्देश्य रूप मुक्तिका आधार अत्रिगुण चेतन पुरुषको मानना आवश्यक है ॥ १७ ॥

(१) अन्नस्य भोक्तृत्वाभावाद् भोग्यत्वेन भोक्ता देवदत्तादिः यथा साध्यते इत्यर्थः ।

(२) मुमुक्षूणां साक्षाणां चेति शेषः ।

पुरुषबहुत्वं

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

'अथ स किमेक: सर्वशरीरेष्विष्ठाता मणिरसनात्मकमूत्रवत् आहोस्विद् बहव आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार' इत्यत्रोच्यते-जन्म च मरणञ्च करणानि च जन्ममरणकरणानि तेषां **प्रतिनियमात्**, प्रत्येकनियमादित्यर्थः । (यद्येक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिरान्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्) (१) **पुरुषबहुत्वं सिद्धम्**) इतश्च **अयुगपत्प्रवृत्तेश्च** युगपदेककाले न सर्वप्रयुगपत् प्रवर्तनं, यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम् । किञ्चान्यत् **त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव** त्रिगुणभावविपर्ययाच्च **पुरुषबहुत्वं सिद्धम्** । यथा सामान्ये

प्रश्न—आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न है या एक ?

उत्तर आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न है क्योंकि आत्मामें नये-नये शरीरके सम्बन्धरूप जन्म तथा उसका त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि कारणोंकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यदि सभी शरीरमें आत्मा एक माना जाय तो एकके पैदा होते सब पैदा हों, एकके मरनेसे सब लोग मर जाँय तथा एकके अन्धे या बहिरे होते ही सभी लोग अन्धे तथा बहिरे हो जाँय, ऐसी अव्यवस्था हो जायगी इसलिए अनेक पुरुष मानना आवश्यक है और यदि आत्मा सब शरीरमें एक ही हो तो एक पुरुषको धर्ममें प्रवृत्ति होनेसे सारे संसारके मनुष्य एकदम धर्मोंमें प्रवृत्त होने लगेंगे, ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई धर्ममें प्रवृत्त है तो कोई अधर्ममें, कोई ज्ञानमें तो कोई अज्ञानमें, इस प्रकार संसारके प्राणियोंकी प्रवृत्ति अलग-अलग देखनेमें आती है। इसी तरह सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके विपर्यय-परिणाम-भेदसे भी आत्माकी अनेकता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कहीं-कहीं केवल सुख ही (जैसे देवताओंमें), कहीं-कहीं केवल दुःख ही (जैसे मनुष्योंमें),

(१) व्यवस्थातः, बल एवोक्तं न्यायसूत्रे 'अवस्थातो नानेति' ।

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी, अन्या राजसी दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धिमिति ॥ १८ ॥

अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते-(१) तस्माच्च विपर्यासात्, तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्-निर्गुणः पुरुषो विवेकी मोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्. सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति (२) गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव। किञ्चान्यत् कैवल्यं केवलभावः, केवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेभ्यः केवलोऽन्यः(३)। माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणादिषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽपि गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते। तस्मात् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्माच्चमध्यस्थतस्मा-

कहीं-कहीं मोह जैसे नारकीयजीवोंमें पाया जाता है अथवा त्रिगुण होनेसे आत्माओंका सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद होता है। इसलिए आत्मा अनेक हैं यह मानना आवश्यक है। यदि एक मानें तो एक पुरुषके सुखी या दुःखी होने पर भी सभी संसारी जीव सुखी या दुःखी हो जायेंगे, और त्रिगुणोंके भेदसे नीच, ऊँच, मध्यम इत्यादि व्यवस्था भी नहीं बनेगी ॥ १८ ॥

प्रश्न—विवेकज्ञानमें उपयोगी आत्माके धर्म क्या हैं?

उत्तर—पूर्वोक्त त्रिगुणत्वादि धर्मोंके विपर्ययरूप अत्रिगुणत्व अविवेकित्व-अविषयत्व-असाधारणत्व-चेतनत्व तथा अप्रसवधर्मित्व इन धर्मोंसे आत्मामें अक्रिय साक्षित्वादि धर्मोंकी सिद्धि होती है जिनमेंसे चेतनासे आत्मामें साक्षिता और द्रष्टृता सिद्ध होती है, क्योंकि चेतन ही देखने वाला होता है न कि जड़, और

(१) पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्माभाहोह सि०॥

(२) यः पुरुषः 'पुरुषबहुत्वं सिद्धमि'त्यत्राहिह इत्यर्थः ।

(३) अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्, आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्, अत्र तस्य स्वाभाविकावत्रैगुण्यात्सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धिमिति भिक्षुः ।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

दृष्टृता तस्मादकर्ता पुरुषस्तथा कर्मणामिति सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम् ॥ १९ ॥

(१) 'यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्कर्मसमवायसंशय करोति धर्मं करिष्यामीत्यधर्मं न करिष्यामीत्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुष एवमुभयथा दोषः स्यादिति', अत उच्यते-इह पुरुषश्चेतनावान्, तेन चेतनावभासमंयुक्तं महदादिलिङ्गं चेतनावदिव भवति, यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः उष्णसंयुक्तः, एवं महदादि लिङ्गं

साक्षी-(गवाह) ही को विषय दिखाया जाते हैं, जिसे त्रिगुणादि विषय दिखाया-(समझाया) जाता है वह साक्षी होता है, जैसे लोकव्यवहारमें वादी तथा प्रतिवादी दोनों अपने-अपने झगड़ेके विषयको गवाहके सामने रखते हैं, उसी तरह प्रकृति भी अपने चरित्र रूप विषयको पुरुषके सामने रखती है। इसलिए पुरुष ही साक्षी होता है। जड़ पदार्थ या विषयको विषय नहीं दिखाया जाता इसलिए चेतन होनेसे तथा अविषय होनेसे पुरुष साक्षी है, और इसलिए द्रष्टा देखनेवाला भी है। इसी प्रकार अत्रिगुण होनेसे आत्मा ही में दुःखत्रयाभाव रूप केवल्य स्वाभाविक सुखदुःखमोहाभावका कारण सिद्ध होता है। एवं अत्रिगुण होनेसे वह मध्यस्थ है यह भी सिद्ध होता है, क्योंकि सुखी सुखसे सन्तुष्ट होता हुआ तथा दुःखी दुःखसे घुराई करता हुआ मध्यस्थ नहीं हो सकता इसलिए उन दोनोंसे रहित आत्मा ही मध्यस्थ या उदासीन कहा जाता है। इसी प्रकार विवेकी और अप्रसवधर्मी होनेसे आत्मामें कर्तृत्वादि गुण नहीं हैं यह भी सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

प्रश्न—सांख्य मतसे कृतिको बुद्धितत्त्वका धर्म और चेतनता आत्मामें माने तो 'मैं जानता हुआ यह कार्य करता हूँ' इस प्रतीतिसे प्राणिमात्रके अनुभवसे सिद्ध कृति तथा चेतन्य इन दोनों धर्मोंकी एकाधारता कैसे बनेगी?

उत्तर—अब पूर्वोक्त रीतिसे उक्त दोनों धर्म भिन्न-भिन्न आश्रयमें सिद्ध हो

(१) आक्षिपति—यस्मादिति। पुरुषस्याकर्तृत्वाङ्गीकारेऽध्यवसायानुपपत्तिस्तदुपपत्तावकर्तृत्वस्य सांख्यमतसिद्धस्यानुपपत्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरित्याशेषाशयः।

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

तस्य संयोगात् पुरुषसंयोगाच्चेतनादिव भवति, तस्माद् गुणा अध्यक्षसाक्षं कुर्वन्ति न पुरुषः । यद्यपि लोके पुरुषः कर्ता, गच्छत्यादि प्रयुज्यते तथाप्यकर्ता पुरुषः । कथम् ? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः । गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति न कर्ता । अत्र दृष्टान्तो भवति—यथाऽश्वोरथौ सह गृहीतयोर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति कर्तृसंयोगात् । एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो विख्यातः, (१) सङ्ख्याव्याख्योक्तावहिर्भूतः ॥ २० ॥

'अर्थतयोः प्रधानपुरुषयोः किं हेतुः सञ्जातः' उच्यते-पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं—प्रकृति महदादिकार्यं मूलपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थम्, प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम्, स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकस्मान्न एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां

तुके तब 'मैं करता हूँ' यह प्रतीति भ्रमसे होती है, जिस भ्रमका कारण है पुरुष तथा प्रकृतिका संयोग, अर्थात् दोनोंका सन्निधान इस प्रकृति तथा पुरुषके बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही से जड़ की चित्—महदादि सूक्ष्मान्त या बुद्धितत्त्व चेतनके ऐसा प्रतीत होता है जिससे कृतिके आधार-प्रकृतिमें 'मैं यह प्रतीति होती है', और सत्त्व, रज, तमो गुणात्मक प्रकृतिमें ही वास्तविक कर्तृत्व रहनेपर भी प्रकृति तथा पुरुषके सन्निधान ही से 'मैं करता हूँ' ऐसी उदासीन-आत्माने प्रतीति होती है ॥ २० ॥

प्रश्न—इन दोनोंका संयोग क्यों होता है ?

उत्तर—पुरुष और प्रधान इन दोनोंका संयोग दर्शन तथा कैवल्यके लिए होता है, अर्थात् भोग्य प्रधानके भोगात्मक दर्शनके लिए भोक्ता आत्माकी आवश्यकता है तथा भोग्य प्रधानके साथ मिलकर आत्मा प्रधानके दुःखादि परिणामों

(१) व्यक्ताव्यक्तज्ञविवेकात् ।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

कार्यस्य (१) स्तेनकृतादुत्पत्तेः स्वबन्धुपरित्यक्तो देवादितश्चेतश्च चेरतुः, स्वगतश्च तौ संयोगमुपयातौ पुरस्तयोः स्वयमविद्यमानस्तेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति, अन्येन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीराकृतपङ्गुस्थानीयेन मार्ग-ज्ञानो याति पङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः, एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति पङ्गुस्थ क्रिया प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवन्न दर्शनशक्तिः । यथा वाजयोः पङ्गवन्धयोः कृतार्थ-योर्विभागो भविष्यतीत्यस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य भोगं कृत्वा निवर्तते पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भवि-ष्यति । किञ्चान्यत् तत्कृतः सर्गः, तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः सृष्टिः, यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गसंभवः ॥ २१ ॥

इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह प्रकृति प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः । अलिङ्गस्य प्रकृतेः प्रकाशान्महात्पद्यते—महान् बुद्धिरासुरी मतिः ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायः पद्यते । तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः । तस्माद् गणश्च षोडशकः

को अपनेमें मानता हुआ कैवल्यकी प्रार्थना करता है, और वह प्रकृति पुरुष भेद-ज्ञान रूप कैवल्य मुक्ति बिना प्रधान के नहीं हो सकती । इसलिए पुरुषको प्रधानकी आवश्यकता है । इस प्रकार दोनोंके कार्यमें दोनोंकी आवश्यकता होनेमें एक पङ्गु तथा एक अन्धेका दृष्टान्त है, कि जैसे बिना लंगड़ेके रास्ता नहीं दिखाई पड़ सकता इसलिए अन्धेको लंगड़ेकी, और बिना अन्धेके रास्ता चलना कठिन होने से लंगड़ेको अन्धेकी आवश्यकता है, इसी तरह प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों के कार्य बिना दोनोंके संयोगके नहीं हो सकते । उक्त भोग तथा अपवर्ग रूप दोनों कार्य भी प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे उत्पन्न सृष्टिके बिना नहीं हो सकते इसलिए भोग तथा अपवर्गके लिए ही प्रकृति-पुरुष संयोगसे महदादि सृष्टि होती है ॥ २१ ॥

प्रश्न—वह महदादि सृष्टिक्रम किस प्रकार है ?

उत्तर—सत्त्व-रज-तमो गुणात्मक प्रकृतिरूप मूल कारण से महत्तत्त्व

(१) धनिकयूथस्य ।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशात्मकेन गण उत्पद्यते, स यथा—पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्रसूक्ष्मपर्वसंज्ञकानि, तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकमेकादशं मनश्च, एवं षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किञ्च **पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि**, तस्मात् षोडशकादृगणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं—(१) शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

यदुक्तं 'व्यक्ताव्यतज्ज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदादिहेतुतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तमाख्यातम्, अव्यक्तमपि भेदानां परिमाणात् इत्यादिना व्याख्यात, पुरुषोऽपि सङ्घातपरार्थत्वात् इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः। एवमेतानि

(बुद्धि) और उससे अहङ्कार आविर्भूत होता है, इन दोनोंका लक्षण आगे कहेंगे। और उस अहङ्कार (अभिमान) से ग्यारह इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ ऐसे सोलह पदार्थों का समूह पैदा होता है। और इन सोलहमेंसे पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंसे पृथिव्यादि पाँच महाभूत पैदा होते हैं जिनमें केवल शब्द तन्मात्रासे शब्द गुणवाला आकाश, शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रासे शब्द तथा स्पर्श गुणवाला वायु, शब्द स्पर्श तन्मात्रा सहित रूपतन्मात्रासे शब्द स्पर्श-रूप गुणवाला तेज शब्दस्पर्शरूप-तन्मात्रा सहित रस तन्मात्रासे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणोंका आधार जल और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-तन्मात्रा सहित गन्ध-तन्मात्रासे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धवाली पृथिवी पैदा होती है ॥ २२ ॥

इनमें प्रकृति (अव्यक्त) का सामान्य तथा विशेष लक्षण १०—११ कारिकामें कह चुके हैं, इसलिए क्रमप्राप्त प्रथम व्यक्त-महत्तत्वका लक्षण करते

(१) सांख्यसप्ततौ।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

पञ्चविंशतितत्त्वानि, यस्तैस्तत्त्वैर्लोक्यं व्याप्तं जानाति तस्य भावोऽन्तिमं तत्त्वं (१) यथोक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

तानि यथा—प्रकृतिः पुरुषो बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इत्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि तत्रोक्तप्रकृतेर्महानुत्पद्यते, तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह—**अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्**। अध्यवसानमध्यवसायः, यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्तद्वदध्यवसायोऽयं घटोऽयं पट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते (२)। सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विकतामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति **धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं चेति**। तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः, (३) तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः', 'शौच-

हुए सुश्रुत कहते हैं कि हे शिष्यो! संसारमें व्यवहार करनेवाले सभी लोग पहिले ज्ञानेन्द्रियों से पदार्थों का प्रयत्न करनेके बाद 'यह ऐसा है ऐसा नहीं' इस प्रकार मनसे सङ्कल्पकर 'मैं इस कामका अधिकारी हूँ' ऐसा अभिमान करनेके बाद 'मुझे यह अवश्य करना है' ऐसा निश्चयकर बादमें उस काममें प्रवृत्त होते हैं। इन चार प्रकारके व्यापारों में से जो यह अन्तिम कर्तव्यता निश्चय है यही बुद्धितत्त्वका विशेष धर्म होनेसे इतर व्यावर्तक लक्षण हो सकता है। उस बुद्धितत्त्वके

(१) मुक्तिरित्यर्थः।

(२) अध्यवसायो बुद्धिरिति क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षयेदम्। सर्वो हि व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽऽत्माहमधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेति यदध्यवस्यति, तत्र योऽयं कर्तव्याकारो निश्चयस्त्रितन्निधानादापन्नचैतन्यायां इव बुद्धेर्धर्मः सोऽध्यवसायो बुद्धेर्लक्षणमिति मिश्राः।

(३) अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्धर्मः तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजन्योऽभ्युदयहेतुरहिंसायनुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुरिति तत्त्वकौमुदी।

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्ययस्तम् ॥२३॥

सन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' । (१) ज्ञानं प्रकाशोऽवगमो बोधमिति पर्यायाः तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र बाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिर्युक्तयश्चडङ्गसहिताः, पुराणानि न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्—इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाऽव्यं पुरुषः सिद्धो निर्गुणो व्यापी चेतन इति । (२) तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिलोकानुराग इत्यर्थः । आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः । वैराग्यमपि द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं दृष्टविषयवितृष्णयमर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनाद् विरक्तस्य, मोक्षैकोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम् (३)। ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम् अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं चेति । अल्पोर्मोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति (४)। महिमा महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा मृणालीतूलवायवा-

ज्ञानमें उपयोगी सात्त्विक तथा तामस आठ धर्म हैं, जिन्हें सांख्यमतमें भाव कहा गया है। जिनमें धर्म ज्ञान-वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक बुद्धि-धर्म हैं। जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख तथा मुक्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। प्रकृति तथा पुरुषके भेदज्ञानको ज्ञान माना गया है। १—यतमान २. व्यतिरेक

(१) एवमप्रसिद्धौ यमनियमावभिधाय धर्मानन्तरं क्रमप्राप्तं ज्ञानं निरूपयति ज्ञानमिति ।

(२) द्विविधसात्त्विकज्ञानफलमाह—तत्रेति ।

(३) दृष्टादृष्टभेदेन यतमान-व्यतिरेक-एकेन्द्रिय वशीकारसंज्ञाभिश्चतुर्विधं प्रदर्शितं वाचस्पतिमिश्रैः । तत्र विषयेषु इन्द्रियाणां परिपाचनाय प्रवृत्तिराद्यो यत्नो यतमानसंज्ञा । परिपाचनानुद्यानकाले वक्ष्यमाणेभ्य पञ्चभ्यो व्यतिरेकावधारणं परिपाकसंज्ञा । इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतयोत्सुक्यमात्रस्याप्युपस्थितदृष्टादृष्टविषयेषु निवृत्तिर्वशीकारसंज्ञेति अत एवोक्तं पातञ्जलदर्शने 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (१।१६) इति ।

(४) यतः शिलायामपि योगिनः प्रवेशो भवतीति ।

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

इति लघुतया पुष्पकेसरादेष्वपि तिष्ठति (१)। प्राप्तिरभिमत वस्तु यत्र तत्रावस्थिता प्राप्नोति (२) प्राकाम्यं प्रकामता यदेवेच्छति तदेव विदधाति (३) ईशित्वं प्रभुतया त्रैलोक्यमधीष्टे। वशित्वं सर्वं वशी भवति । यत्र कामावसायित्वं, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति (४)। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि । यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते तदा पुमान् बुद्धिगुणाद् धर्मादीनाप्नोति । किञ्चाभ्यत् तामसमस्माद्विपर्ययस्तम्, अस्माद्धर्मादिविपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्, तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः' एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टधा बुद्धिर्गुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥२३॥

एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्, अहङ्कारलक्षणमुच्यते (५) एकादशकश्च गणः—

१—एकेन्द्रिय ४—वशीकार ऐसे चार प्रकारके वैराग्य हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारलौकिक सभी प्रकारके विषयोंसे मनुष्यका चित्त हट जाता है। ऐश्वर्य भी एक बुद्धिका ही धर्म है जिससे अणिमा-लघिमा-गरिमा-महिमा-प्राप्ति प्राकाम्य-वशित्व-ईशित्व इस प्रकारके आठ ऐश्वर्यों का आविर्भाव योगीके समान ज्ञानीको भी होता है। बुद्धिधर्म-विपरीत अधर्म-अज्ञान अवैराग्य तथा अनैश्वर्य ये चार तामस बुद्धि-धर्म कहे जाते हैं ॥२३॥

प्रश्न—द्वितीय व्यक्त अहङ्कारका लक्षण क्या है ?

उत्तर—इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष करनेके बाद मनसे विचार कर 'इस काममें

(१) यतः सूर्यमरीचीनवलम्ब्य सूर्यलोकं याति योगीति मिथ्या ।

(२) यतश्चन्द्रमसमपि स्पृशति करेण योगीति ।

(३) यतो जल इव भूमावप्युन्मज्जति च योगी ।

(४) सत्यसङ्कल्पतेति मिथ्या ।

(५) आलोचनमननयोरन्ते तयोर्विषये योऽयम् 'अहमधिकृत' इत्यादिकोऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारलक्षणमित्यर्थः । उत्तरार्धं व्याचष्टे-

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥

एकादशेन्द्रियाणि तथा तन्मात्रो गणः, पञ्चकः पञ्चलक्षणोपेतः शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥२४॥

किं लक्षणात् सर्गं इत्येतदाह—(१) सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः सात्त्विकः, तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता वैकृत इति, तस्मादहंकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते, यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते **सात्त्विक एकादशक** इति । किञ्चान्यत्—भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, (२) तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यैः कृता संज्ञा भूतादिः, तस्माद् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते, (३) भूतानामादिभूतस्तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति **तस्माद् भूतादेः** पञ्चतन्मात्र-

मेरा ही अधिकार है, यह सब मेरे ही लिए है, जो कुछ है सो मैं ही हूँ इत्यादि रूपसे जो अभिमान प्राणिमात्रको होता है यही साधारण धर्म होने से अहङ्कार का लक्षण है, इसीके अनुसार बुद्धि कर्तव्यका निश्चय करती है। इस अहङ्कारसे प्रकाशरूप इन्द्रिय-समुदाय तथा जड़रूप पाँच सूक्ष्म-तन्मात्रायें, ऐसे दो प्रकारके कार्य पैदा होते हैं ॥२४॥

प्रश्न—एक रूप अहङ्कार से जड़ तथा प्रकाश रूप विरुद्ध कार्य कैसे पैदा होते हैं ?

उत्तर—एक अहङ्कारके सात्त्विक-राजस-तामस ऐसे तीन भेद हैं जिनमें

एकादशकश्चेति । (ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति पाठरसंमतः, एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति च भिक्षुसंमतः पाठोऽत्र कारिकायां द्रष्टव्यः ।

(१) वैकृतशब्दार्थमाह—सत्त्वेनेति ।

(२) भूतादिशब्दस्यार्थं विवृणोति—तमसेति ।

(३) तामसाहङ्कारकार्यस्य तन्मात्रस्य तामसत्वे युक्तिमाह—भूतानामिति । उपसंहरति—तस्मादिति ।

को गणः । (१) किञ्च तैजसादुभयम् (२) यदा रजस्तमोभिभूते सत्त्वप्रधानो अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते ।

(३) **उभयमिति**—एकादशो गणस्तन्मात्रः पञ्चकः । सोऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो वैकृतिको भूत्वा एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति, सात्त्विको निष्क्रियः स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावतामुत्पत्तिसमाधानमुत्पादयति तेनोक्तं तैजसादुभयमिति ।

(४) एवं तैजसेनाहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ॥२५॥

से सात्त्विक-प्रकाश रूप अहङ्कारसे एकादशरूप इन्द्रिय, तथा तामस जड़रूप अहङ्कारसे जड़ पञ्चतन्मात्रायें पैदा होती हैं। ऐसा माननेसे उक्त दोष नहीं आता।

प्रश्न—जब सत्त्व तथा तम से ही सारे जड़ तथा प्रकाशरूप कार्य पैदा होते हैं तो रजोगुण व्यर्थ हो जायगा ?

उत्तर यद्यपि राजस अहङ्कारका कोई दूसरा कार्य नहीं है तो भी सत्त्व तथा तमोगुणके स्वयं क्रियारहित होनेसे सामर्थ्य होने पर भी वे अपने-अपने कार्योंको नहीं कर सकते इसलिए जब रजोगुण चञ्चल होनेसे सत्त्व तथा तमोगुणको चलाता है तब वे अपने-अपने कार्योंको करते हैं, अतः सत्त्व तथा तमोगुणमें क्रियाको पैदा करनेके कारण राजस अहङ्कार भी उक्त दोनों जड़ प्रकाशरूप कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण है यह मानना आवश्यक है ॥२५॥

(१) यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथापि गुणभेदोद्भवाभिध्याभ्यां भिन्नकार्यकारीति भिक्षुः ।

(२) अहङ्कारस्य तैजसत्वे युक्तिमाह—यदेति ।

(३) सात्त्विकतामसोभयविधकार्यजनने तैजसाहङ्कारस्योपोद्बलकत्वमाहोभयमितीति ।

(४) फलितमाह—एवमिति ।

(१) बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

सात्त्विक एकादश इत्युक्तम्, यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः (२) सात्त्विकाहङ्कारादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि (३) बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते, स्वयमेवैनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, क्तेरिदं पठ्यते—स्पर्शनकानीति (४) शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्चविषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान कर्मेन्द्रियाण्याहुः, कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति, हस्तौ नानाव्यापारं (५) कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायूपस्थं करोति, उपस्थ आनन्दप्रजोत्पत्तयश्च ॥२६॥

उक्तदोनों प्रकरणके कार्योंमें से सात्त्विक अहङ्कारके कार्य—ग्यारह प्रकाशरूप इन्द्रियोंमेंसे बाह्य-बाह्यके दस इन्द्रिय दस प्रकार हैं चक्षु (आँख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसन (जीभ), त्वग् (शरीरका चमड़ा), ये पाँच बाह्य के विषयोंके ग्रहण करनेके कारण बाह्य ज्ञानेन्द्रिय हैं। और वाक्-जीभ (बोलनेका इन्द्रिय), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा), उपस्थ (शिश्न) ऐसे पाँच बाह्यके काम करनेके कारण बाह्य कर्मेन्द्रिय हैं। ये सब सात्त्विकाहङ्कारसे पैदा हुए हैं इसलिए सात्त्विकाहङ्कार से पैदा होना यहाँ इन दसों बाह्य इन्द्रियोंका सामान्य

(१) इन्द्रियाणां प्रकाशकत्वेन प्रकाशधर्मकसत्त्वगुणकार्यत्वानुमानात्सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं पूर्वकारिकायामुक्तं तत्र कानि पुनस्तानीन्द्रियाणीत्याह—बुद्धीन्द्रियाणीति । बुद्धिसाधनानि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मसाधनानि कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः ।

(२) एकादशक इन्द्रियगणः ।

(३) अत्र सात्त्विकाहङ्कारोत्पादकत्वसन्निधिसामान्यात्मनं साङ्ख्यमतं दर्शयति ।

(४) करणाख्यशक्तिरूप बुद्धि स्पर्शनेन्द्रियस्य त्वक्स्थानत्वात् 'रसनत्वगा' इति पाठान्तरं दर्शयति ।

(५) व्यापारविशेषवत्त्वम् ।

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।

एवं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं किमात्मकं किंस्वरूपं चेति तदुच्यते—अत्रेन्द्रियवर्गे, **मन उभयात्मकं** बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । कस्माद् ? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिकल्पयति (१) कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः, सङ्कल्पयतीति **सङ्कल्पकम्** (२) किञ्चान्यत् 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्कारात् बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनः साधर्म्यमिति (३), तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽप्यिन्द्रियम् । एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाहङ्कारादहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति ? सङ्कल्पो वृत्तिः ।

लक्षण है । ये सब आत्मरूप राजाके चिह्न होनेसे इन्द्रिय कहलाते हैं। बाह्य-विषयोंमें रूप-शब्द इत्यादि पाँच गुणोंका ज्ञान बिना चक्षु इत्यादि पाँच इन्द्रियों को माने नहीं हो सकता इसलिए ज्ञानेन्द्रियोंको मानना आवश्यक है। वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के साधक कार्योंको २८वीं कारिकामें कहेंगे ॥ २६ ॥

प्रश्न – ग्यारहवें इन्द्रिय मनका लक्षण क्या है ?

उत्तर—इन ग्यारह इन्द्रियोंमें मन नामका इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप है, क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनों को मनके आधारहीसे अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। इस मनका लक्षण है – सङ्कल्प-विकल्प करना । अर्थात् बाह्येन्द्रियोंसे पदार्थोंसे पदार्थोंका सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष होनेके बाद 'यह ऐसा है ऐसा नहीं' इस प्रकार अच्छी तरहसे

(१) जनयति । आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति क्रमेण चाक्षुषादिज्ञानजनने मनोधिष्ठितानामेव बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च स्वस्वविषये प्रवृत्तेर्मन उभयात्मकमिति भावः ।

(२) इदमेवं नैवमिति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विनेष्यतीति सङ्कल्पकत्वं मनस इतरभेदकं लक्षणमित्यर्थः ।

(३) नियामकमीति शेषः ।

गुणपरिणामविशेषाद्गानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः। (१) 'अचेतनानीन्द्रियाणि त्रिधानि त्रिप्रकाराण्यहङ्कारादि किमीश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि, यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोऽकर्तेत्यतआह इह सांख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति, अथोच्यते गुणपरिणामविशेषाद्गानात्वं बाह्यभेदाश्च, इहान्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां सङ्कल्पश्च मनः, एवमेते त्रिप्रकारमेवेन्द्रियाणामाख्याः गुणपरिणामविशेषात्—गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च। अचेतनात्वं नेश्वरेण नाहङ्कारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेण स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति। (२) 'गुणानामचेतनत्वात् प्रवर्तते'? प्रवर्तत एव। कथम्? यदुक्तोह्येव –

विशेषण विशेष्यभावका विवेचन अच्छी करता है इसलिए सत्त्वगुण-रूप विशेष-धर्मसे मन भी 'एक उभयात्मक इन्द्रिय है' यह सिद्ध होता है।

प्रश्न—विशेष धर्म होनेसे मनको महत्तत्त्व तथा अहङ्कारके समान इन्द्रिय नहीं मानेंगे?

उत्तर—सात्त्विकाहङ्कारका कार्य होनेसे इसे भी इन्द्रिय मानना आवश्यक है।

प्रश्न—एक प्रकारके सात्त्विकाहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियाँ कैसे हुईं?

उत्तर—शब्द-रूप इत्यादि प्रत्यक्षसिद्ध विलक्षण गुणोंके भोगको देनेवाले

(१) गृह्णते अनेनेति। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्राहकत्वमीश्वरकृतं स्वाभाविकं वा, येन स्वभावेनैव प्रधानादीनामचेतनत्वं चेतनत्वं च पुरुषस्येति शङ्कार्थः। समाधत्ते इत्यादिहेतिः। स्वाभाविकमिन्द्रियाणां भिन्नार्थग्राहकत्वमिति समाधानाक्षरः। अनवधेतरार्थेन प्रतिवादयन्नाह-अथोच्यत इति। समाधानार्थमुत्तरार्थं व्याख्यानेन प्रतिवादयन्नाह-इहान्येति। कृतगुणपरिणामेनेत्यन्तग्रन्थेन न पुरुषादिकृतमिति शेषः।

(२) आक्षेपं पूरयति—गुणानामिति सत्त्वादीनां गुणानां जडत्वात्तत्साम्याऽवस्थात्मक प्रधान न प्रवर्तते किमिति वस्तुार्थः। समाधत्ते-प्रवर्तत एवेति।

बुद्धीन्द्रियेषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।

वचनादिवृत्तिनिमित्तं वीरणं यथा प्रकृतस्तस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

(१) एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते (२) विशेषोऽपि तत्कृत एव चेतोभ्यः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितम्, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदते स्वार्थग्रहणाय। एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथायथं स्वार्थक्रमाणि स्वदेशावस्थितानि स्वभावतो गुणपरिणामविशेषादेव, न तदर्थं अपि (३), यत उक्तं शास्त्रान्तरे-'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था विशेषा गुणकृता एवेत्यर्थः, यथार्थं यस्य कारणमिति ॥२७॥

अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते-मात्रशब्दो विशेषार्थः, अविशेषव्युदासार्थो (४) यथा-शिक्षामात्रं लभ्यते, नाल्पो विशेष इति, तथा चक्षुः रूपमात्रे न रसादिषु (५), एवं शेषाण्यपि, तद्यथा-चक्षुषो रूपं, जिह्वाया रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः, त्वचः स्पर्शः (६), एवमेषा बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः

विविध-विविध अदृष्ट (भाग्य) की सहायताके भेदसे इन्द्रियरूप कार्यमें विलक्षणता मानना आवश्यक है, अर्थात् जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके वैषम्यके भेदसे बाह्यपदार्थोंमें भेद है इसी तरह उक्त गुणोंके परिणाम रूप अदृष्ट-विशेषसे इन्द्रियोंका भी भेद, यह सिद्ध होता है ॥२७॥

प्रश्न—दस बाह्येन्द्रियोंके विशेष व्यापार क्या हैं?

(१) गुणानां प्रवृत्तिप्रकारं दृष्टान्तेन विवृण्वन्नाह—एवमिति।

(२) एकादशेन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिप्रकारोऽपि। तत्कृत एव=अचेतनगुणकृत एव।

(३) प्रवर्तन्त इति शेषः। अत्र माठरमते बाह्यभेदाश्चेत्यत्र बाह्यभेदाश्चेति कारिकापाठः इन्द्रियाणीकादशभेदादपि इन्द्रियाणां भेद इति तदर्थः।

(४) आलोचनमात्रमित्यत्र मात्रशब्दार्थो विशेषोऽविशेषव्युदासपूर्वकं इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति।

(५) वृत्ति लभत इति शेषः।

(६) वृत्तिविषय इति शेषः।

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥
स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।

कथिता, कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—**वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां** कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः । वाचो वचनं हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं, पायोर्भुक्तस्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषयो वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥२८॥

अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते (१)—स्वलक्षणस्वभावा स्वलक्षण्या (२)। अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं खैव बुद्धिवृत्तिः, तथाऽभिमानोऽहङ्कार इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च, सङ्कल्पकं मन इति लक्षणमुक्तं, तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः, त्रयस्य बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या च वृत्तिरसामान्या (३), या प्राग्निर्दिष्टा (४) बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽध्यसामान्यैवेति । इदानीं

उत्तर—चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियोंका अपने-अपने रूपादि विषयोंको सामान्य रूपसे जानना ही विशेष व्यापार है, और पाँच वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियोंका क्रमसे बोलना-लेना-चलना-मलत्याग तथा उपभोग अपना-अपना विशेष व्यापार है ॥२८॥

प्रश्न—बुद्धि, अहङ्कार तथा मन इन तीन आन्तर (भीतरी) करणोंका विशेष व्यापार क्या है ?

उत्तर—बुद्धि, अहङ्कार तथा मन इन तीन करणोंके अपने-अपने पूर्वोक्त लक्षण जैसे —महत्तत्त्वका निश्चय करना, अहङ्कारका अभिमान तथा मनका

(१) वृत्तिरिति शेषः ।

(२) एतन्मते माठरमतेन कारिकायां 'स्वालक्षण्या वृत्तिर्हि'ति पाठो द्रष्टव्यः । वृत्तिव्यापार इत्यर्थः, एतदेवाह-अध्यवसाय इति ।

(३) सामान्यवृत्तिः ।

(४) पूर्वकारिकायामुक्ता चक्षुरादीनां स्वस्वविषयग्रहणलक्षणा वृत्तिरित्यर्थः, एवं च कारिकायां त्रयस्येति बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणमेतन्मते माठरमतेऽपि, न भिद्यमते ।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

सामान्या वृत्तिराख्यायते **सामान्यकरणवृत्तिः**, सामान्येन करणानां वृत्तिः **प्राणाद्या वायवः पञ्च**, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः सर्वेन्द्रियाणां सामान्या (१) वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं (२) कर्म तत् त्रयोदशविधस्यापि (३) सामान्यवृत्तिः, सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्चरज्जुनिबद्ध सर्वस्य चलनं करोतीति, प्राणनात् प्राण इत्युच्यते । तथाऽपनयनादपानः, तस्य यत् स्पन्दनं (४) तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य । तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः, तस्य यत् स्पन्दनं (५) तत् सामान्यकरणवृत्तिः । तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नासिकेक्षमस्तकान्तर्गोचरः, तस्योदाने यत् स्पन्दनं (६) तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः । किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवत् व्यानः, तस्य यत् स्पन्दनं तत्

सङ्कल्प करना ही विशेष व्यापार है । परन्तु इन तीनों कारणों के व्यापार दो प्रकारके हैं, एक असाधारण—(विशेष) दूसरा साधारण—(सामान्य), जिसमें विशेष व्यापार पहिले कह चुके हैं, प्राण-अपान-व्यान उदान तथा समान,

(१) साधारणी । जीवनाद्विद्वारा सर्वकरणव्यापारबीजत्वात्तदन्यव्यक्तिरेकानुविधायित्वादिन्द्रियव्यापारस्य च तद्व्यापारान्वयानुविधायित्वाच्च प्राणादिवायुपञ्चकं साधारणी-करणवृत्तिरित्यर्थः, एतदेव विवृणोति—यत इत्यादिना ।

(२) अन्नाशनादिक्रियात्मकम् ।

(३) मिश्रमते तु 'पञ्चप्राणादिरूपा सामान्यवृत्तिरस्यैव, दोष्या त्रयाणामपि करणानामित्युक्तः' ।

(४) मलमूत्रादेरपनयनम् ।

( ) रसानां नाडीष्वनुरूपनयनम् ।

(६) रसादूर्ध्वनयनव्यापारः ।

(७) शरीरव्यापनम् ।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।

(७) करणजालस्य सामान्या वृत्तिरिति । (१) एवमेते पञ्च वायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, अयोदशविधस्यापि करणसामान्यवृत्तिरित्यर्थः ॥२९॥

युगपच्चतुष्टयस्य, बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टय भवति चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः, (२) बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषि युगपदेककाले रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति । बुद्ध्यहङ्कारमनोऽपीन्द्रा युगपदर्थं गृह्णन्ति । बुद्ध्यहङ्कारमनोऽन्यानि युगपदन्यं गृह्णन्ति । तथा त्वक्श्रोत्रेऽपि । किञ्च क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा, तस्येति चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति । यथा

इन पाँच भीतरी वायुओंको ही अन्तःकरणात्मक साधारण व्यापार कहते हैं, क्योंकि जीवनादिद्वारा यह पाँच वायु सारे करणोंके व्यापारके बीज हैं ॥२९॥

प्रश्न—पूर्वोक्त सारे करणोंके व्यापारोंका क्रम है या अक्रम ?

उत्तर—प्रत्यक्ष विषयके बाह्येन्द्रिय, मन, अहङ्कार तथा महत्तत्त्व इन

---

(१) उपसंहरति—एवमिति । व्यापारभेदवत् 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले । उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥' इत्यायुक्तविधा स्थानभेदस्यापि प्राणादिभेदहेतुत्वं द्रष्टव्यम् । अयेदं तत्त्वम्-'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी'-तिश्रुतौ वायुतः प्राणस्य पृथक्कीर्तनात्प्राणानां न वायुपरिणामविशेषत्वम् किन्तु संहतविहगानां पञ्जरचालनन्यायेन बुध्यादिभिः स्वस्ववृत्तिरजोगुणेन शरीरस्य सदा चालनात्तच्चालनरूपव्यापार एव प्राणादयो नतु पराभिमतपञ्चवायुभेदाः किन्तु बुध्यादिभिः देहचालनमेव प्राणादयः, तथा च वायुतुल्यसञ्चारत्वेन वायुदेवताधिष्ठिततया वा प्राणादीनां वायु शब्दवाच्यतेति ।

(२) बाह्येन्द्रियेषु कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य बुद्ध्यहङ्कारमनोरूपाभ्यन्तरकरणैः संयोगे चतुष्टयं जायते तस्य प्रत्यक्षजनने एकदैव व्यापारा भवन्तीत्यस्य चाक्षुषादौ क्रमेणोदाहरणमाह—बुद्धीति । यथा विद्युत्संपाते स्थाणुभ्यादादिभिन्द्रियसंनिकर्षे युगपदेव निर्विकल्पक-सविकल्पकाभिमानाध्यवसाया उत्पद्यन्ते ततस्तो क्रटित्यपसरतीत्यर्थः एवं श्रावणादिप्रत्यक्षेऽपि द्रष्टव्यम् ।

दृष्टे, तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

अभित्र पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशये सति तयोरन्यतरविशेषं पश्यति शकुनि वा, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यापारोपरता (१) बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति, अतोऽहङ्कारश्च निश्चयार्थः, (२) स्थाणुरेवेति, इत्येवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषा क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या । दृष्टे दृष्टविषये । किञ्चान्यत् तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः, स्पर्शे त्वक्पूर्विका, गन्धे घ्राणपूर्विका, रसे रसनपूर्विका, शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्ध्यहङ्कारमनसामनागते भविष्यति काले तीते च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः, वर्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति (३) ॥३०॥

चारोंका अक्रम तथा क्रमसे भी व्यापार होता है, जैसे अंधेरेमें बिजलीका प्रकाश होते ही शेरको सामने देखकर सङ्कल्प, अभिमान तथा निश्चय हो जाते हैं जिससे देखनेवाला डरसे हट जाता है। इसी प्रकार मन्द प्रकाशमें पहिले सामान्य रूपसे उपस्थित विषयको जानकर सावध न होता हुआ 'यह हथियार लिये हुए चोर आ रहा है' ऐसा मनमें समझकर 'यह मुझे ही मारने आ रहा है' ऐसा अभिमान कर निश्चय करता है कि 'मैं यहाँसे हट जाऊँ', इस प्रकार का तथा तीन भीतरी, ऐसे चारों करणोंका क्रमसे भी व्यापार होता है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष विषयोंमें भी बाह्येन्द्रियोंको छोड़कर तीन करणोंके युगपत्—(एकदम) तथा क्रमसे व्यापार होते हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष-

---

(१) पुरुषकोटिव्यावर्तिका ।

(२) निर्णयफलकः, अध्यवसायजनक इति यावत्, ततश्च बुद्धिव्यापारोऽध्यवसायो भवतीत्याह—स्थाणुरेवेति ।

(३) अदृष्टे परोक्षविषयेऽपि त्रयस्येन्द्रियरहितत्रयस्य युगपत्क्रमशश्च व्यापारा भवन्ति, अनुमानशब्दयोर्विषये इन्द्रियाप्रकृतेस्तत्रायस्येत्युक्तम्, तयोर्विषये निर्विकल्पकाभावात् प्रथमं मनस एव व्यापार इति मिश्राः । अनुमानशब्दविषये वृत्तिर्हि तत्पूर्विका दृष्टपूर्विकेति विशेषः, अनुमवे व्याप्तिज्ञानार्थं शब्दे च शक्त्यनुमानापेक्षया प्रत्ययापेक्षेति नारायणी ।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्परासूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥३१॥

किंच-स्वां स्वामिति योगः, बुद्धयहङ्कारमनांसि स्वां स्वां वृत्ति परस्परासूतहेतुकाम् (१) 'आकूतमादत्तेऽर्थम्' इति, प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थकरणाय बुद्धयहङ्कारादयः । बुद्धिरहङ्कारादूर्ध्वं ज्ञात्वा (२) स्वविषयं प्रतिपद्यते । 'किमर्थमिति' चेद् पुरुषार्थ एव हेतुः, पुरुषार्थः कर्तव्य इत्येवमर्थं बुद्धादयः प्रवृत्ताः, तस्यादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, (३) 'यद्येवं यत्तीति कर्म स्वयं प्रकल्पते' ? न केनचित् कार्यते करणम् पुरुषार्थ एवैका कारणमीति वाक्यार्थः, न केनचित्, ईश्वरेण पुरुषेण वा, कार्यते प्रयोज्यते करणम् ॥३१॥

पूर्वक होता है क्योंकि अकृतिमें, व्यापारके तथा स्वरूप अवयवमें परार्थमें अपेक्षापूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं अन्यथा नहीं, यह विशेष है ॥३०॥

प्रश्न—पूर्वोक्त कारणोंसे व्यापार केवल करणोंमें नहीं हो सकते क्योंकि उनके तथा कर्तामें होनेसे सर्वदा उनके व्यापार होते रहेंगे, और 'यदि अकस्मात् होते हैं' ऐसा मानें तो करण-व्यापारोंका साकूत्व हो जायगा ।

उत्तर—ये सब करण अपना-अपना व्यापार करते समय दूसरे करणोंके अपने-अपने व्यापार के सम्मुख होने रूप अभिप्रायको लेकर ही प्रवृत्त होते हैं इसलिए उनकी प्रवृत्तिमें परस्परका अभिप्राय करण होनेसे व्यापारोंमें साकूत्व दोष नहीं आ सकता, अर्थात् जैसे -अपने-अपने छड़ी, तलवार इत्यादि शस्त्रास्त्रोंको लिये प्रवृत्त हुए लुटेरे आदमी दूसरे लुटेरोंको लूटनेके लिए इशारा

(१) आकूतशब्दार्थमाह—आकूतेति । प्रवृत्त्युन्मुखत्वमित्यर्थः अचेतनेष्वभिप्रायसम्भवाकूतस्यासंभवात् ।

(२) अनेनेन्द्रियव्यापाराधीनत्वान्मनोबुद्ध्यहंकारमहतोर्मनोबुद्ध्यहंकारव्यापाराधीनत्वाच्च पूर्वोक्तो पुरुषदृष्टित्वको न संभवतीति पूर्वपक्षो निरस्तो वेदितव्यः ।

(३) शङ्कते पृच्छति—यदीति । यदि सांख्यमते करणान्यचेतनानि कर्म तेषां प्रवृत्तिरिति प्रश्नार्थः । स्वभाववादमाश्रित्य समाधत्ते—न केनचिदिति । योगादकर्मलक्षणपुरुषार्थस्यैवाचेतनकरणप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्स्वभावतस्तेषां प्रवृत्तिरित्यर्थः, 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' इत्यत्रैतद्ग्रन्थे स्वयं विवेचयिष्यते ।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।

'बुद्ध्यादि त्रिविधं तत्रिवृत्तयते—करणं त्रयोदशविधं बोद्धव्यम्, बहिर्विधं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादीनि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि वाक्यादीनीति, त्रयोदशविधं करणम् । तद् किं करोतीत्येतदाह (१) तदाहरणधारणप्रकाश-

कर पहिले लिये रहते हैं बाद इशारा पाते ही अपने-अपने ही हथियारों द्वारा लूटना शुरू करते हैं न कि एक दूसरेके हथियारसे । उसी तरह एक-एक करण दूसरे करणोंके अभिप्रायसे ही अपने-अपने व्यापारोंको करते हैं इसलिए उक्त साकूत्व दोष नहीं आ सकता ।

प्रश्न—यह दृष्टान्त विषम है क्योंकि लुटेरे चेतन हैं इसलिए एक दूसरेके अभिप्रायसे लूटना यह ठीक है परन्तु करण तो जड़ हैं इसलिए दूसरेके अभिप्रायसे अपने व्यापारमें प्रवृत्त कैसे हो सकते हैं इसलिए क्या इनका अधिष्ठाता व्यापारमें प्रवृत्त कराने वाला मानना चाहिये ?

उत्तर—भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके कारण जड़ करणोंकी स्वयं प्रवृत्ति हो सकती है तो उनका प्रवर्तक चेतन है ऐसा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, इस बातको स्वयं 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' इत्यादि ५७वीं कारिकामें सिद्ध करेंगे ॥३१॥

प्रश्न करण कौन-से हैं ?

उत्तर—बुद्धि, अहङ्कार तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, ऐसे तेरह सांख्यशास्त्रमें करण कहे जाते हैं, जिनमेंसे कर्मेन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करना, बुद्धि, अहङ्कार, मन इन तीनोंका प्राणादि वायुओंके द्वारा शरीरको धारण करना, तथा ज्ञानेन्द्रियोंका अपने-अपने विषयको प्रकाशित करना व्यापार है ।

प्रश्न—व्यापार (क्रिया) के सकर्मक होनेसे ये कर्म (कार्य) कौन से और कितने हैं ?

उत्तर—इन तीन प्रकारके क्रियाके हार्य-कार्य-प्रकाश्य ऐसे तीनों कार्य दस-दस प्रकारके होते हैं, क्योंकि कर्मेन्द्रियोंके ग्रहणयोग्य, वचन-आदान

(१) कारकविशेषस्य करणत्वाद्व्यापारावेशं विना कारकत्वासंभवाद्व्यापारावेशमाहेत्यर्थः ।

कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥३२॥
अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।

करम् । तत्राहरणं हार्यम् च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाश्यं बुद्धीन्द्रियाणि (१)। कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा, तस्य करणस्य कार्यं कर्तव्यमिति दशधा दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्य वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं, बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति (२) चेति ॥३२॥

किञ्च—अन्तःकरणमिति । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिविधं महदादिभेदाद् (३), दशधा बाह्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च दशविधमेतद् करणं बाह्यम्, उत्तरयस्रयान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्ध्यहङ्कारमनसां

द्वारादि विषय लौकिक तथा अलौकिक इस भेदसे दो प्रकारके होनेसे दस प्रकारके होते हैं। तथा बुद्धि, अहङ्कार, मन इन तीनोंके धारणपोषणशरीरादिक कार्य पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंसे पैदा हुये हैं जो लौकिक तथा अलौकिक भेदसे दो प्रकार के होनेसे धार्य कार्य भी दस प्रकारका है, इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियोंसे प्रकाश करने योग्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ऐसे पाँच विषय भी दिव्य तथा अदिव्य इन दो भेदों से दो प्रकारके होनेसे दस प्रकारके हैं ॥३२॥

प्रश्न—इन तेरह करणोंमें अवान्तर भेद कितने हैं ?

उत्तर—इन तेरहों करणोंमेंसे महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा मन ये तीन भीतरी करण हैं और ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ये दस बाह्य करण हैं, जो तीनों

(१) आहरणं कर्मेन्द्रियाणाम्, धारणं महदहङ्कारमनसां स्ववृत्तिप्राणादिपञ्चकद्वारा देहधारणात्, प्रकाशो बुद्धीन्द्रियाणां व्यापार इति भिक्षवादयः ।

(२) भिक्षवादिमते प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरमन्तःकरणत्रयमेव धारयतीति तस्यैव धार्यं कार्यं बोद्धव्यम् ।

(३) अभ्यन्तरवृत्तिभावादन्तःकरणमित्युच्यत इत्यर्थः ।

(४) व्यापारलक्षणम्, मनोऽहङ्कारबुद्धीनां व्यापारेषु बुद्धीन्द्रियव्यापारस्योपयोगात्, कर्मेन्द्रियव्यापारस्यापि ज्ञानेन्द्रियव्यापारद्वाराऽन्तःकरणव्यापारे उपयोगः, कर्मेन्द्रियव्यापारेण जनिते पदार्थे बुद्धीन्द्रियप्रवृत्यन्तःकरणप्रवृत्तेरित्यर्थः ।

साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

(४) भोग्यं साम्प्रतकालं (१) श्रोत्रं वर्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तं, चक्षुरपि वर्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतं, त्वग्वर्तमानं स्पर्शं, जिह्वा वर्तमानं रसं, नासिका वर्तमानं गन्धं नातीतमनागतं चेति । एवं कर्मेन्द्रियाणि वाग्वर्तमानं शब्दमुच्चारयति (२) नातीतं नानागतं, पाणी वर्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतं च, पादौ वर्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतौ नाप्यनागतं, पायुपस्थौ च वर्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतो नातीतौ नानागतौ, एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम् । त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि बुद्धिर्वर्तमानं घटं बुध्यते अतीतमनागतं चेति. अहङ्कारो वर्तमानेऽस्मिन्नहं करोत्यतीतेऽनागते च, तथा मनो वर्तमाने सङ्कल्पं करोतेऽतीतेऽनागते च एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥ ३३ ॥

भीतरी करणों के सङ्कल्प, अभिमान तथा अध्यवसायरूप व्यापार करनेमें द्वार होते हैं, जिसमेंसे ज्ञानेन्द्रिय विषयके ग्रहण द्वारा तथा कर्मेन्द्रिय अपने-अपने व्यापार के द्वारा तीनों भीतरी करणों के विषय में प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार बाह्य दस करण वर्त्तमान विषयमें प्रवृत्त होते हैं, और तीनों अन्तःकरण वर्त्तमान, भूत तथा भविष्य ऐसे त्रिकालविषयोंमें प्रवृत्त होते हैं, यह भी दोनों प्रकारके करणों की विशेषता है। अनुमान तथा शब्दकी सहायता से भूत तथा भविष्य विषयमें और इन्द्रियोंकी सहायतासे वर्तमान विषयमें भी तीन अन्तःकरणोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ ३३ ॥

(१) बाह्याभ्यन्तरकरणयोर्विशेषान्तरमाह—साम्प्रतकालमिति । तदेव विशदयति श्रोत्रमिति ।

(२) नन्वयुक्तमेतत् उच्चारणविषयशब्दस्य पूर्वमविद्यमानेनागतत्वात् कथं वागिन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वमिति चेत्। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'ति पाणिनीयानुशासननियमेन वर्तमानसमीपस्थानागतस्यापि शब्दस्य वर्तमानत्वाभ्युपगमात् दोषः । कर्मेन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वं बुद्धीन्द्रियद्वारेति चन्द्रिकाकारः । अनुमानशब्दसहकारेणातीतानागतविषयकम्, इन्द्रियसहकारेण वर्तमानविषयकमिति केचित् ।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कति निर्विशेषमिति

(१) तदुच्यते –बुद्धीन्द्रियाणि तेषां सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषयं मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषयगुणान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां (२) निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया, देवानां मानुषाणां च वाग्वदति श्लोकादीनुच्चारयति, (३) तस्माद् देवानां मानुषाणां च वागिन्द्रियं दूरम्, शेषाण्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि पञ्चविधानि, पञ्च विषयाः शब्दादयो तेषां तानि पञ्चविषयाणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणी सन्ति (४) पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादौ विहरति, पायिन्द्रियं पञ्चलक्षणमुत्सर्गं करोति, तथोपस्येन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति ॥३४॥

प्रश्न—इनमेंसे बाह्यकरणरूप दस इन्द्रियोंके विषय क्या है ?

उत्तर—उन दस इन्द्रियोंमेंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विशेष (स्थूल) पाँच पृथिवी, जल इत्यादि तथा अविशेष (अतीन्द्रिय) पञ्च तन्मात्रा क्रमसे हमलोगों के तथा योगियोंके प्रत्यक्ष विषय हैं। एवं पाँच कर्मेन्द्रियोंसे वागिन्द्रिय शब्दका जनक होनेसे स्थूल शब्दको ही विषय करता है, सूक्ष्मरूप शब्द वागिन्द्रियका विषय नहीं होता क्योंकि वागिन्द्रिय तथा सूक्ष्मशब्द दोनों एक ही अहङ्कारके कार्य हैं। बाकीके हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ, इन चार कर्मेन्द्रियोंके पाँच-पाँच विषय होते हैं क्योंकि हाथ इत्यादिकोंके ग्रहण करने योग्य पदार्थ शब्दादि पञ्च स्वरूप हैं ॥३४॥

(१) सम्प्रतिकालानां बाह्येन्द्रियाणां मध्ये केषां स्थूलशब्दादिग्राहकत्वं केषां वा सूक्ष्मशब्दतन्मात्रादिग्राहकत्वमिति विविच्यते इत्यर्थः।

(२) इदमुपलक्षणम्, ऊर्ध्वस्रोतसां योगिनां च बुद्धीन्द्रियाण्यतीन्द्रियविषयान् प्रकाशयन्तीति।

(३) श्लोकाद्यात्मकं स्थूलशब्दं, न तु तन्मात्ररूपं तस्याहंकारजन्यत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वादतः सर्वेषां वागिन्द्रियं समानमेतदेवाह–तस्मादिति।

(४) पाण्यादाहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दात्मकत्वात्पञ्चविषयत्वमित्यर्थः।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।

(१) सान्तःकरणा बुद्धिः, अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः, यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते गृह्णाति, (२) त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि करणानीति (३) वाक्यशेषः ॥३५॥

(४) किञ्चान्यत्–यानि करणान्युक्तानि एते गुणविशेषाः, किं विशिष्टाः? प्रदीपकल्पाः प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः, परस्परविलक्षणा अन्योन्यविषया इत्यर्थः। गुणविशेषा इति। गुणविशेषा गुणेभ्यो जाताः (५)। कृत्स्न

प्रश्न—क्या अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे बाह्येन्द्रियोंमें कोई विशेषता है ?

उत्तर—है, क्योंकि मन तथा अहङ्कार सहित बुद्धि जिस कारण सभी बाह्य इन्द्रियोंसे ग्राह्य किये विषयोंको पुरुषके भोगके लिए निश्चय करती है, इस कारण तीनों भीतरी करण द्वारि-प्रधान हैं और बाकीके दस बाह्य इन्द्रिय द्वारि-अप्रधान हैं, क्योंकि साक्षात् या परम्परासे बाह्येन्द्रियोंके द्वारा ही भीतरी करण विषयोंमें अपना-अपना व्यापार करते हैं ॥३५॥

प्रश्न—तीन भीतरी करणोंमें भी कोई विशेषता है ?

उत्तर—तीनोंमें भी बुद्धि ही की प्रधानता है क्योंकि बत्ती, तेल, आग

(१) त्रयोदशकरणेषु बाह्येन्द्रियाणामप्राधान्यमन्तःकरणस्य प्राधान्यं च वक्तुमाह–सान्तःकरणेति।

(२) बाह्येन्द्रियैरुपनीतं सर्वविषयं समनोऽहंकारा बुद्धिर्यस्मादध्यवस्यतीत्यर्थः, तत्रापि विशेषमाह–त्रिष्वपीति। द्वारि प्रधानम्।

(३) शेषाणि दशेन्द्रियाणि साक्षात्परम्परया वेन्द्रियद्वारैवान्तःकरणानां विषयावगाहनाद् द्वाराण्यप्रधानानीति वाक्यशेषार्थः।

(४) अन्तःकरणेष्वपि बुद्धेः प्राधान्यं वक्तुमाह–किञ्चेति। करणानि बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्रयोदश करणानीत्यर्थः।

(५) सत्त्वरजस्तमसां विकारा इत्यर्थः। गुणानां भेदाः सन्त्वाद्या येषु ते तथोक्ता इति चन्द्रिकाकारः।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

पुरुषार्थं बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः, (१) यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयजातादिकं पुरुष उपलभते ॥३६॥

इदानीम् —(२) सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगमुपभोगं प्रति देवमनुष्यतिर्यक्ष्वबुद्धीन्द्रियद्वारेण सामान्यकरणा बुद्धिः साधयति सम्पादयति (३) यस्मात् तस्मात् सैव च विशिनष्टि प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति,

(१) यथा प्रासादपालः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च शृणुते, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे तच्च सङ्कल्पाहङ्काराय स चाभिमत्य सर्वाध्यक्षरूपायां बुद्धौ प्रयच्छतीत्यर्थः । बुद्धिस्थकरणे हेतुमाह—यत इति ।

(२) बुद्धिरपि न स्वार्थां किन्तु परार्थेत्याह—सर्वमिति नारायणः । कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे वेत्यत आहेति मिश्राः ।

(३) पुरुषस्यान्तिकवर्त्तिनश्छायावत्या प्रसवचेतनेव बुद्धिस्सर्वविषयं सुखदुःखात्मकं भोगं पुरुषस्य सम्पादयतीति भावः ।

तस्माच्चाप्यविशेषात्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

प्रधानपुरुषान्तरं (१) नानात्वमित्यर्थः, सूक्ष्ममित्यनधिकृत-तपश्चरणैरदृश्यम्, इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इयं बुद्धिरसमहङ्कार एतानि पञ्चतन्मात्राण्येतादृशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्यपञ्चभ्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त इत्येवं बोधयति बुद्धिः तस्मादाचार (२) तपश्चर्यो भवति ॥३७॥

पूर्वमुक्त विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के (३) विषयास्तान् दर्शयतिमानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्, एतान्यविशेषा (४) उच्यन्ते देहानामेते सुखलक्षणा

बुद्धि, अहङ्कार या मनको विषय समर्पण क्यों नहीं करती, अर्थात् बुद्धि ही प्रधान क्यों ?

उत्तर—पुरुषार्थ भोगके प्रयोजक होनेसे उसका जो प्रत्यक्ष साधन है वही प्रधान हो सकता है, बुद्धि ही आत्माके साक्षात् भोगोंका साधन है क्योंकि उसीके निश्चयके अनुसार आत्माको भोग होता है इसलिए वही प्रधान है । जैसे सर्वाध्यक्ष प्रधानमन्त्री ही राजाके सब राजकार्योंका साधक होनेसे प्रधान होता है और बाकी ग्रामाध्यक्ष इत्यादि उसके अंग होते हैं, वैसे बुद्धि ही सारे आत्माके भोगोंको सिद्ध कर देती है और विवेकज्ञानके समय वही प्रकृति आदि जड़ चेतन की विलक्षणताको (जिसे जानना बहुत कठिन है) बता देती है इसलिए तीनों अन्तःकरणोंमें भी बुद्धि प्रधान है ॥३७॥

प्रश्न—पूर्वोक्त विशेष तथा अविशेष क्या हैं ?

(१) अन्तरं विशेषं विशिनष्टि करोति, यथौदनपाकं पचतीति, करणं च प्रतिपादनम्, विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति न तु करोतीत्यर्थः, एतेन प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वं मोक्षस्य स्यादिति परास्तम् । सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं तदन्तरमिति वाचस्पतिमिश्राः ।

(२) प्राप्तेः ।

(३) विशेषाविशेषरूपा ज्ञानेन्द्रियाणां विषया इत्यर्थः ।

(४) शान्तघोरमूढत्वाद्युपभोगयोग्यत्वाभावादत एव च मात्रशब्देनैतेषां सूक्ष्मत्वं सूचितम् । ते केषां विषया इत्यत आह—देवानामिति ।

एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥
सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।

विषया दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथि. व्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि सान्युत्पद्यन्ते एते स्मृता विशेषाः, सन्ततन्मात्रात् पृथिवीः रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्राच्चाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा (१) मानुषाणां विषयाः शान्ताः-सुखलक्षणाः, घोराः-दुःखलक्षणाः, मूढाः-मोहजनकाः । (२) यथाऽऽकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं लक्षति वर्त्मनार्गात् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवं वायुर्धर्मार्तस्य शान्तो भवति शीतार्तस्य घोरो धूलिसकैरवाभिमोऽतिवान् मूढ इति । एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥३८॥

अथाऽन्ये विशेषाः—(३) सूक्ष्मास्तन्मात्राणि यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्म-

उत्तर—सूक्ष्म शब्दादि पाँच तन्मात्रा ही अविशेष हैं क्योंकि इनमें उपभोग योग्य शान्तत्वादि धर्म नहीं हैं। उन पाँचोंसे स्थूल पाँच पृथिवी आदि भूत पैदा हुए हैं, जिन्हें साङ्ख्यशास्त्रमें विशेष कहा गया है, क्योंकि इनमेंसे कोई-कोई सत्त्व-प्रधान होनेसे शान्त, सुखदायक, प्रसन्न और लघु है और कोई रजोगुण-प्रधान होनेसे घोर तथा दुःखकर और कोई-कोई तमः-प्रधान होनेसे मोहको करनेवाले गुरु हैं इसलिए इनमें भोगकी योग्यता है ॥३८॥

प्रश्न—विशेष कितने हैं ?

उत्तर—ये विशेष सूक्ष्म (लिङ्गशरीर), मातापितृज (स्थूल शरीर) और प्रभूत (पर्वत-वृक्षादि महाभूत) ऐसे तीन प्रकारके हैं, जिनमेंसे सूक्ष्म

(१) उपभोगयोग्यशान्तादिधर्मत्वं विशेषत्वं स्थूलमहाभूतेष्वेवाऽऽसक्तेः विशेषपदवाच्या इत्यर्थः । एते केषां विषया इत्याह—मानुषाणामिति ।

(२) प्रत्येकशान्तादिधर्मत्वलक्षणस्य लक्ष्ये सङ्गतिं दर्शयति—यथेति ।

(३) त्रिविधविशेषान्तरे प्रथमं दर्शयति—सूक्ष्मा इति सूक्ष्मा इत्यन्तेन । संसारनिदानभूता लिङ्गशरीराख्याः सूक्ष्मतन्मात्राधारब्धतया सूक्ष्मा येऽभिधीयन्ते सांख्यैः स प्रथमो विशेष इत्यर्थः ।

शरीरं महदादिलिङ्गं सदा तिष्ठति संसरति च ते सूक्ष्माः, (१) तथा मातापितृजाः स्थूलशरीरोपचायकाः—ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रनिष्पीभावेनोदरान्तःसूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, नतु सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरुदरितशोणितानाविशरसेन नाभिनिबन्धेनाप्याप्यते, (२) तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं (३) पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जसम्भृतम् (४) आकाशोऽवकाशदानाद्वायुर्बर्द्धनात् तेजः पाकादापः संग्रहात् पृथिवी धारणात्

तन्मात्रादिकोंसे पैदा हुये सूक्ष्मशरीररूप विशेष नित्य अर्थात् मुक्तिकाल तक रहते हैं, और मातापिताके खाये हुए अन्न-रससे पैदा हुये शुक्र तथा शोणित

(१) द्वितीयं तृतीयं च विशेषमेकवाक्येनाह—तथेति । मातापितृजशरीररूपद्वितीयविशेषस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वक्रमं दर्शयति—ऋतुकाल इत्यादिना । आप्यायत इति । सूक्ष्मशरीरोपचायकत्वद्वारा मातापितृजस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वमिति भावः ।

(२) यद्यपि सूक्ष्ममातापितृजयोः परिणाम एव स्थूलशरीरन्तथापि त्रिविधविशेषारब्धन्तदित्याह—तथापीति ।

(३) षाट्कौशिकमिति । एवमारब्धं स्थूलशरीरं पृष्ठोदरादि षडङ्गम् इत्यर्थः । 'तच्च षडङ्गं बाह्याश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर' इति सुश्रुतोक्तेः; एवं च लोमलोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जानां षट्कोशत्वं वाचस्पत्युक्तमसङ्गतमिव प्रतिभाति, एतेषां शरीरलक्षणवर्गे पाठात्, तत्रापि स्थिरपितृजलोम्नां मातृजत्वोक्तिर्मज्जावाश्च मृदुमातृजमध्यगणितायां पितृजत्वोक्तिर्मिश्रोक्ता विशुद्धैव 'गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरोस्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जाहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानीति' शारीरकस्थानोक्तेः, एवं चैतन्मते शोणितशुक्रयोर्मातापितृजत्वं वाचस्पतिमते मांसादीनामित्यवधेयम् ।

(४) पाञ्चभौतिकत्वमेवं स्फुटयति—आकाश इति । शारीरिकप्राणादिसमस्तव्यापारसमर्थसकलावयवसम्पत्तिप्रयोजकत्वं पञ्चभूतानां स्थूलशरीरे प्रदर्शयति-समस्तेति ।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥
पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।

सप्तदशावयवोपेत मातृपितरात् बहिर्भवति । एवमेते त्रिविधा विशेषाः स्युः । अथाह—'के नित्याः के वा अनित्याः'? सूक्ष्मास्तेषां नियताः, सूक्ष्मास्तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियता नित्याः तैरारब्धं शरीरमप्रसंक्षयात् (१) पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विद्वान्शरीरं त्यक्त्वा मोक्षं गच्छति, तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्तन्ते, तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्यैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्तन्ते, मरणकाले मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते यथात्वम् (२) ॥३९॥

सूक्ष्मं च कथं संसरति? (३) तत्राह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चान्यत् —असक्तं न संपृक्तं तिर्यगूर्ध्वनिदेवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति गच्छति । नियतम्, यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति (४) तच्च महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम् । महानादौ यस्य तन्महदादि—बुद्धिरहङ्कारो मन इति, पञ्च-

इत्यादिकोंसे बँधा हुए स्थूल शरीर प्रभृतरूप दो विशेषोंकी निवृत्ति होती है अर्थात् इन दो विशेषोंका नाश हो जाता है ॥३९॥

प्रश्न—सूक्ष्म शरीर क्या है तथा उसके धर्म क्या हैं ?

उत्तर—महत्तत्त्व, अहंकार, मन, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा इनका समुदायरूप पूर्वोक्त सूक्ष्म शरीर आदि सृष्टिमें प्रधानसे प्रगट होता है तथा असक्त नाम अव्याहत है जिससे उसका पत्थर तकमें प्रवेश होता है और नियत

(१) कर्मवशादिति पाठान्तरम् ।

(२) पार्थिवभागः पृथिव्यां जलभागो जल इत्यादिरीत्येत्यर्थः ।

(३) सूक्ष्मशरीरं विभजते इति मिथः । लिङ्गशरीरधर्माणामेति नारायणी ।

(४) प्रत्यात्मभिन्नमिति चन्द्रिका । आ चादिसर्गादामहाप्रलयादवतिष्ठत इति तत्त्वकौमुदी ।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।

तन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं संसरति धूलग्रहपिपीलिकावत् श्रीनपि लोकान् (१) निरुपभोगं भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाशक्तिग्रहणादुभयेषु समर्थं भवतीत्यर्थः (२) । (३) भावैरधिवासितम् पुरस्तादभावात् धर्मादीन् वक्ष्यामः, तैरधिवासितमुपरञ्जितम् । लिङ्गमिति—प्रलयकाले महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं (४) प्रधाने लीयते, असंसरणमुक्तं यत् ज्ञानसंकालमत्र (५) वर्तते, प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति । पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं सूक्ष्मम् ॥४०॥

'क्रियायोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरती'त्येवं चोदिते सत्याह (६)—चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना

नाम प्रत्येक आत्मामें अलग-अलग है तथा निरुपभोग अर्थात् स्थूल शरीरके बिना भोगमें असमर्थ है और धर्मादि आठ भावोंसे सम्बद्ध होता हुआ यही सूक्ष्मशरीर पूर्व-पूर्व स्थूल शरीरको छोड़ कर नये-नये स्थूलशरीरको ग्रहण करता है ॥४०॥

प्रश्न—अहङ्कार तथा इन्द्रियसहित बुद्धि को ही संसारके भोग क्यों नहीं होते, तन्मात्रापर्यन्त पृथक् सूक्ष्म शरीर माननेकी क्या आवश्यकता है ?

(१) महदहङ्कारमनोदशेन्द्रियतन्मात्रसमुदायरूपं सूक्ष्मं शरीरमित्यन्ये ।

(२) स्थूलदेहं विना सूक्ष्मस्य भोगासमर्थत्वादिति भावः ।

(३) ननु धर्माधर्मयोः सूक्ष्मशरीरेऽसम्भवात्कथं तन्निमित्तं सूक्ष्मस्य संसरणमत आह—भावैरिति । वक्ष्यमाणधर्माधर्मादिभावानां बुद्धौ वर्तमानत्वात्तदन्वितस्य सूक्ष्मशरीरस्यापि संसारः सम्भवतीति न दोषः । वक्ष्यामः—त्रिंशत्वारिंशत्कारिकायाम् ।

(४) बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसहितम् ।

(५) प्रधाने । प्रलये कुतो न संसरति सूक्ष्मशरीरमित्यत आह प्रकृतीति ।

(६) ननु तर्हि साहङ्कारैरिन्द्रियबुद्धित एव भोगोऽस्तु कृतं सूक्ष्मेणाप्रमाणिकेनेत्यत आह—चित्रं यथेत्यन्ये ।

तद्बिना विशेषैर्नं तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥
पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।

छाया न तिष्ठति, तैर्विना न भवति, आदिग्रहणाद् यथा चैत्यं विना नाट्यं भवति चैत्यं वाड्भित्तिविना, अग्निस्तम्भं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, (१) विनाऽविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति । (२) अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते, शरीरं पञ्चभूतमयम्, वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गस्थानं चेति क्व एकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितम्, लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥४१॥

'किमर्थम् ?' तदुच्यते (२)—पुरुषार्थः कर्तव्य इति प्रधानं प्रवर्तते, न च द्विविधः—शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च । शब्दाद्युपलब्धि-

उत्तर—जिस प्रकार बिना आधारके चित्र नहीं हो सकता अथवा बिना वृक्षादिकोंके छाया नहीं पड़ती, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरोंके बिना आत्माका अनुभावक होनेसे लिङ्गपदसे ग्राह्य बुद्धयादि तेरह करण निराधार नहीं रह सकते, इसलिए सूक्ष्म शरीर मानना आवश्यक है ॥४१॥

प्रश्न—सूक्ष्मशरीरके संसरणका कारण और उसके संसारका प्रकार क्या है ?

उत्तर—धर्मादिरूप निमित्त और धर्मादिकोंसे होने वाले स्थूल शरीरादिरूप

(१) अत्र जन्ममरणान्तराले बुद्ध्यादयः वर्तमानशरीराश्रिताः वर्तमानपञ्चतन्मात्रवस्त्वे सति बुद्ध्यादित्वात् दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवदित्यनुमानेन मरणानन्तरं पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहपर्यन्तं बुद्ध्यादीनामाधारभूतं वर्तमानं किञ्चिच्छरीरं वक्तव्यम्, दृश्यमानशरीरं च तदा बाधितमिति सूक्ष्मशरीरमवश्यं तन्मात्राश्रयमङ्गीकर्तव्यमिति मिश्राः ।

(२) अथेति । पञ्चभूतमयं स्थूलशरीरं विशेषभूतपदवाच्यमित्यर्थः, वैशेषिणा शरीरेण सूक्ष्मेण विना, क्व लिङ्गस्थानं चेतीत्यस्य विवरणं वर्धकस्थूलदेहं त्यजति तदेव त्रयोदशविधं करणमन्यस्थूलशरीरं स्थीकरोति वा सूक्ष्ममाश्रयं विनेत्यभिप्रायः ।

(३) त्रयोदशविधं करणं सूक्ष्मशरीरेण सह किमर्थं किम्प्रयोजनं संसरतीत्येतदुच्यत इत्यर्थः ।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगाभावाच्च: । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्भोगः (१) इति । तस्मादुक्तं—'पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तते' इति । निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वगमनादि, पुरस्तादेव वक्ष्यामः (२) प्रसङ्गेन प्रसक्त्या (३) प्रकृतेः प्रधानस्य विभुत्वयोगात्, यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद् यद्यदिच्छति तत्-तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वाद्भोगाग्निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते पृथक्-पृथग्देहद्वारेण लिङ्गस्य व्यवस्थां (४) करोति । लिङ्गं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते । कथम् ? नटवत् । यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्मनुष्यः पुनर्विदूषकः, एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमान् भवति ॥४२॥

कार्य, इन दोनोंके सम्बन्ध से भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके लिए प्रकृतिकी व्यापकताके सामर्थ्यसे यह सूक्ष्म शरीर नटके समान व्यापार करता है; अर्थात् जैसे नट कभी राम कभी कृष्ण बनकर उनके चरित्रोंको दिखाता है उसी तरह यह सूक्ष्म शरीर भी देवता, मनुष्य इत्यादिकोंके स्थूल शरीरको धारण कर संसार में गमनागमन करता रहता है ॥४२॥

(१) तथा च भोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थो हेतुः प्रयोजको यस्येति पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तत इत्यनेन तस्य संसरणे पुरुषार्थ एवोद्देश्यमिति सूचितम् ।

(२) धर्मेण गमनमूर्ध्वमिति चतुश्चत्वारिंशत्कारिकायाम् ।

(३) सहयोगेन सहचारभावेनेति यावत्, यदि धर्मादिना निमित्तेन नैमित्तिकेन तत्तत्स्थूलशरीरेण वा सहयोगः स्यात् न व्यवतिष्ठेत लिङ्गशरीरं किन्तु विलीयेतेति भावः ।

(४) प्रधानविभुत्वसामर्थ्यवशान्निमित्तनैमित्तिकसहचारेण लिङ्गशरीरं पृथक् पृथक्स्थूलशरीरधारणं करोतीति व्यवस्थेति भावः । इदमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति कथमित्यादिना ।

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।

भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरतीत्युक्तम्, तत् के भावा इत्याह—भावाश्चित्तविशेषाश्चिन्त्यन्ते—सांसिद्धिकाः प्राकृताः वैकृताश्च । तत्र सांसिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । प्राकृताः कथ्यन्ते, ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमारा बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां पोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः (१)। तथा वैकृता यथा बाभ्रव्यमुनिं निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्याद्धर्मः धर्मादैश्वर्यमिति, आश्वर्यमुनिरपि विकृतिरिति, तस्माद्धि कृता एते भावाः (२) उच्यन्ते, वैरधिवासितं लिङ्गं संसरति । एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा विपरीताः, सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तं (३) मित्यत्र व्याख्याताः । एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । अष्टौ भावा एव वर्तन्ते ?

प्रश्न—सूक्ष्म शरीरके वर्णनमें बतलाये हुए भाव पदार्थ क्या हैं ?

उत्तर—जो धर्मादि आठ भाव सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक हैं, वे ही प्राकृतिक, साथ पैदा हुये या जबतक आधार पदार्थ है तब तक रहनेवाले हैं, जैसे महत्तत्त्व, अहङ्कार इत्यादि,पर गौडपादाचार्यके मतसे साथ पैदा हुए कर्मादिभाव सांसिद्धिक होते हैं और बुद्धितत्त्व के साथ जिनके शरीर पैदा हुए हैं ऐसे सनकादि सिद्धोंके प्रकृतिसे पैदा हुए भाव प्राकृत होते हैं। और उपायोंके करनेसे

(१) अन्ये तु भावा धर्माद्या ये सांसिद्धिकाः स्वाभाविकास्त एव प्राकृतिकाः सहोत्पन्नाः यावद्वस्तुस्थायिनो वा यथा महत्तत्त्वादहंकारादय इति । एतन्मते तु सहोत्पन्नाः सांसिद्धिकाः, उत्पन्नबुद्धितत्त्वशरीराणां सनकादीनां प्रकृत्योत्पन्नाः प्राकृता इति विशेषः ।

(२) असांसिद्धिका उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः यथा प्राचेतसादीनाम् कदाचिद्धृतयो वा वैकृता इति मिश्राश्चयः । एतन्मतेऽपि गुरूपदेशादि नोत्पन्ना भावा ज्ञानाद्यो वैकृता इति न कश्चिद्विशेषः किन्तु त्रैविध्यद्वैविध्य एव पूर्वमवस्थितो विशेषो बोध्यः ।

(३) षष्ठीविभक्तिकारिकायाम् ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥
धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः । (१) बुद्धिः करणं तदाश्रयिणः, एतदुक्तम्-'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानम् इति । कार्य देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये मातृजा इत्युक्ताः, शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः (२) कललाद्या बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावाः (३) अज्ञानान्तरनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ॥४३॥

निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनेति (४) यदुक्तमत्रोच्यते-धर्मेण (५) गमनमूर्ध्वम्,

पैदा हुए जैसे वाल्मीकि आदिकों के धर्मादि भाव जो असांसिद्धिक हैं वे ही वैकृत वाले जाते हैं या जो भाव कभी-कभी रहते हैं, वे वैकृत होते हैं। धर्मादिभाव मुख्यतः बुद्धितत्त्वरूप करणमें रहते हैं, पर धर्मादि भावों से पैदा हुई कलल, बुद्बुद इत्यादि अवस्था भी भाव कही जाती है, इसी आशय से मूलमें कहा है 'कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः' अर्थात् धर्मादिभावोंसे पैदा हुए गर्भमें रहने वाले प्राणियोंकी कलल, बुद्बुद मांसपेशी इत्यादि अवस्था तथा गर्भसे बाहर निकलनेके बाद कौमार, यौवन वार्द्धक्यादि अवस्थारूप भाव कार्य स्थूल शरीरमें रहते हैं ॥

प्रश्न—किस-किस निमित्तका कौन-कौन विशेष नैमित्तिक है ?

(१) करणस्येन्द्रियादेर्भावाधिकारणत्वायोगात् करणपदस्यार्थमाह—बुद्धिः करणमिति । एतदुक्तमिति । बुद्धिरूपं करणमुक्तमित्यर्थः ।

(२) स्थूलशरीरवृद्धिहेतुका इत्यर्थः । एता गर्भस्थस्य शरीरावस्थाः, बहिर्निर्गतस्य ता आह-तथेति ।

(३) उक्तावस्थानां कार्याश्रयत्वे हेतुमाहान्नपानेति । कार्याश्रयिण इत्यस्यार्थमाहान्नादीति ।

(४) ४२ कारिकायाम् ।

(५) धर्मेणेति । अभ्युदयहेतुना धर्माख्यभावेनोर्ध्वं स्वर्गलोकादौ गमनं भवतीत्यर्थः । एतदेवाह—धर्मेति । उपनयति प्रापयति सूक्ष्मशरीरमात्मानमिति भावः । अथवा उपयाति इति सरलं पाठान्तरमत्र पुस्तकान्तरे द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययाद्विष्यते बन्धः ॥४४॥
वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।

धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति ऊर्ध्वमित्यस्यो स्थानानि गृह्णन्ते तद्यथा—ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याम्यं राक्षसं पैशाचमिति तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति (१) पशुमृगसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम्। किं च ज्ञानेन चापवर्गः, (२) अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम् तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः तत् सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते परमात्मा उच्यते। विपर्ययाद्विष्यते बन्धः, अज्ञानं निमित्तम्, स चैष नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति (३) पुरस्तात्, यदिदमुक्तं—'प्राकृतेन च बन्धनं तथा वैकारिकेण च। दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो मानेन मुच्यते' ॥४४॥

(४) तथाप्यस्ति निमित्तम्—तथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञानं तस्मात् तत्त्वज्ञानमूर्ध्वं वैराग्यात् प्रकृतिलयो मृतोऽज्ञानु प्रकृतिषु प्रधानबुद्धयहङ्कारतन्मात्रेषु

उत्तर—धर्मरूप निमित्तसे स्वर्गादि लोकमें गमन होता है अर्थात् देवादि शरीररूप कार्य प्राप्त होता है, और अधर्म निमित्तसे भूतल इत्यादि नीचेके लोकों में गमन होता है अर्थात् मृगयुलोकमें पशु इत्यादि शरीर तथा नरकमें नारकीय शरीररूप कार्य होता है। और ज्ञानरूप निमित्तसे अपवर्ग (मुक्ति) रूप कार्य होता है तथा अज्ञानसे बन्धरूप कार्य होता है ॥४४॥

इसी प्रकार पूर्वोक्त केवल वैराग्य रूप निमित्तसे प्रकृति, महत्तत्त्व इत्यादिकों

(१) अधस्तादिदमस्यार्थमाह—पशुमृगेति। पातालादौ पञ्चादिषु चाधर्मेण गतिर्भवतीत्यर्थः।

(२) अपवर्गश्चेति। पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वज्ञानेन तत्त्वपुरुषान्यताख्यातिद्वारा मोक्षो भवतीत्यर्थः। ततो मोक्षात्, ज्ञानान्मोक्षसाधकारणेन मोक्ष इत्यन्ये।

(३) अज्ञाननिमित्तोद्भवस्य चैव बन्धः प्राकृतादिभेन त्रिविध इत्यर्थः वक्ष्यतीत्यर्थः। अत्र प्राचीनानां संमतिमाह—प्राकृतेनेति। आत्मबुद्धया प्रकृत्युपादानानिबन्धनः प्राकृतः, आत्मबुद्ध्येन्द्रियोपादाननिबन्धनश्च वैकारिकः पुरुषमपाकर्तुकामतया इष्टापूर्तकर्मानुष्ठाननिबन्धनस्तु दाक्षिणिक इत्येवं स्वकृतमन्यत्र ब्रह्मण्यम्

(४) निमित्तनैमित्तिकेत्यत्राप्यपि धर्मादिवत्तदुभयं प्रदर्शयन्नाह—तथेति।

ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्ययः ॥ ४५ ॥
एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।

लीयते न मोक्षः (१)। ततो मुमुक्षुरपि संसरति (२)। तथा चौदयं राजसो रागः—यजामि दक्षिणां ददामि येनामुष्मिन् लोकेऽहं यक्ष्ये मानुषं सुखमनुभवाम्येतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः, एतदैश्वर्यमनुगम् (३) अणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते। किञ्चान्यत् विपर्ययात् तद्विपर्ययः तस्या विपर्ययस्य विपर्यासो विघातो भवति, अनैश्वर्यादु सर्वत्र विहन्यते ॥ ४० ॥

एवं निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोढशविधो व्याख्यातः, स किमात्मक इत्याह—
(४) यथा एष षोढशविधो निमित्तनैमित्तिकभेदो व्याख्यात एष प्रत्ययसर्ग-

की आत्मा समझकर उपासना करने से उन्हींसे लयरूप कार्य होता है, अर्थात् रजोगुणके कार्य राग, प्रेम, काम, क्रोध इत्यादि निमित्तोंसे संसार रूप कार्य तथा पूर्वोक्त अणिमादि आठ ऐश्वर्यरूप निमित्त से इच्छा की रुकावट न होना, अर्थात् चाहे जिस किसी लोकमें जानेकी इच्छाका नाश न होना कार्य होता है, और उक्त ऐश्वर्योंके न होनेसे इच्छाका नाश होना ही कार्य होता है ॥ ४५ ॥

यह पूर्वोक्त निमित्त तथा नमित्तिकों का भेद बुद्धितत्त्वकी ही सृष्टि है, जिसके संक्षेपमें विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि और सिद्धि ऐसे चार भेद हैं, जिनमें विपर्यय,

(१) 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्या पुरुषस्यैव मोक्षवर्णनादन्यस्य तदभावकथनाज्ज्ञानरहितस्य किञ्चित्स्यापि न मोक्ष इत्याशयः।

(२) दृष्टानुश्रविकविषयेष्वलंबुद्धिरूपाद्वैराग्यान्महदादिप्रकृतिपदवाक्येष्वात्मबुद्धोपास्यमानेषु लयो भवति ततश्च कालान्तरेण पुनः संसरति सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः।

(३) अणिम-महिम-लघिम-गरिम-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्वात्मकमष्टविधमैश्वर्यमित्यर्थः, अस्य निमित्तस्य नैमित्तिकमाह- तस्मादिति।

(४) बुद्धिधर्माधर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयावबोधितुं प्रथमं तावत्समासमाहेति मिश्राः।

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

उच्यते। (१) अध्यवसायो बुद्धिरित्युक्ता-अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानमित्यपि च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्। त संशयोऽज्ञानं (२) विपर्ययः। यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशयः। अज्ञानिवंथा तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं कृत्वा न (३) गच्छेदिति ह्यज्ञानिनः। एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो (४) यथा तमेव स्थाणुं ज्ञात्वा संशयितुं न वेच्छति किमनेनास्माकमित्येवं तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा ज्ञानिदृष्टिश स्थाणुमार्गे वसति पश्यति शकुनि वा तस्य सिद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति। सो सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैषम्यं विमर्दः (५) तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेद भवन्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

नाम, अज्ञान या अविद्या तथा पूर्वोक्त कारणों के विनाशसे होने वाली अशक्ति (असामर्थ्य) ये दो बुद्धिके धर्म हैं, इसी प्रकार तुष्टि तथा सिद्धि भी बुद्धिके

(१) प्रत्ययशब्दार्थमाह—प्रत्यय इति। प्रतीयन्ते विषया अनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्दवाच्या बुद्धिरित्युक्ता, कुतोऽयत आह—अध्यवसाय इति। स चोक्त क्रमादिधर्मलक्षणो बुद्धिसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभेदात्संक्षेपतश्चतुर्धेति भावः। एष सर्गो बुद्धिसर्गो बुद्धितत्त्वे प्रविष्टो न तत्त्वान्तरम्, कार्यकारणाभेदात्तस्य पञ्चाशद्भेदा वक्ष्यन्त इति नारायणी।

(२) 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' इति योगसूत्रोक्तस्वात्तद्रूपप्रतिष्ठ स्वस्य संशयेऽपि सत्त्वादतस्मिंस्तज्ज्ञानवत्संशयोऽपि विपर्यय इत्यर्थः। तत्र मिथ्या ज्ञानस्य शुक्तिकाद्यैः प्रसिद्धत्वात्संशयोदाहरणमाह-यथेति।

(३) इन्द्रियवैकल्येनेति शेषः, तथा च करणवैफल्यहेतुको बुद्धिधर्म एवा शक्तिरिति भावः।

(४) आध्यात्मिकवदचक्षत इति वक्ष्यमाणतुष्टिसिद्धिभेदानां सामान्यत लौकिकोदाहरणान्याह यथा तमेवेति।

(५) सत्त्वरजस्तमसां न्यूनाधिकभावरूपं यद्वैषम्यं स एव विमर्दस्तेन बुद्धि सर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्तीत्यर्थः। गुणानां वैषम्यमेकैकस्याधिकबलताद्वयोर्द्वयोर्वा एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्यमाधिमात्रतया यथो

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात्।

(१) तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति रजस्तमसी उदासीने, क्वापि रजो क्वापि तम इति भेदाः कथ्यन्ते—पञ्च विपर्ययभेदास्ते यथा तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, (२) एषां भेदानां नामानि वक्ष्यमाणान्येवेति।

धर्म हैं जिनका आगे विस्तारसे वर्णन करेंगे। इनमेंसे विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि इन तीनोंमें पूर्वोक्त आठ बुद्धिके धर्मादि भावोंमेंसे ज्ञानको छोड़ कर सातका, तथा सिद्धिमें ज्ञानका अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु इन संक्षिप्त चार भेदोंका सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणोंमेंसे एक-एक या दो-दो गुणोंके अधिक बलवान् होने तथा एक-एक या दो-दो गुणोंका कम बल होनेसे जो वैषम्य होता है जिससे एक-एक या दो-दो के अभिभव (तिरस्कार) होनेके कारण गुणोंके पचास भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

प्रश्न—पचास विस्तृत बुद्धिसर्गों के भेद कौनसे हैं?

उत्तर—जो अज्ञानरूप विपर्यय संसारका मुख्य बीज है जिसके **अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष** तथा **अभिनिवेश** ऐसे पाँच भेद हैं, उन्हें सांख्यशास्त्रमें क्रम से **तम, मोह, महामोह, तामिस्र** तथा **अन्धतामिस्र** कहते हैं। ये पाँच विपर्ययके भेद हैं। और बुद्धितत्त्व तथा ग्यारह इन्द्रिय रूप करणोंकी विफलतासे

कार्यमुत्पीयेते तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति सिद्धाः।

(१) तमोमोहादिपञ्चविधविपर्यादिभेदे पूर्वोक्तमेव गुणवैषम्यविमर्दरूपं हेतु मुपलक्षयन्नाह— तथेति। कथ्यन्त इति। गुणवैषम्यहेतुकाः पञ्चाशत्संख्याका भेदा अवान्तरविभागेन वक्ष्यन्त इत्यर्थः।

(२) एषामेव समानतन्त्रे योगदर्शने 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा' इति पञ्चविधविपर्ययसंज्ञा। तत्र अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या तमः। पुरुषयुष्योरात्मसेवास्मिता मोहः। सुखतृष्णा रागः 'महामोहः'। दुःखजिघांसा द्वेषो 'तामिस्र'। सर्वस्य प्राणिनः स्वाभाविको मरणत्रासोऽभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः' इति मिश्राः। वक्ष्यते 'भेदस्तमस' इत्यादिमकारिकायाम्।

अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥
भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।

अशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात् तानपि वक्ष्यामः (१) । तथा तुष्टिर्नवधा- ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि । तथाऽष्टविधा सिद्धिः, सात्त्विकानि ज्ञानानि तर्पबोर्ध्वस्रोतसि ॥ ४७ ॥

(२) एतत् क्रमेणैव वक्ष्यते, तत्र विपर्ययभेदः उच्यते - तमसस्ताबदष्टधा भेदः (३) प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते-सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयन्ते प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राकाशासु, तत्र लीनमात्मानं मन्यते मुक्तोऽहमिति तमोभेद एवः । अष्टाविधस्य (४) मोहस्य भेदोऽष्टविध एवैश्वर्यः, यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सङ्क्लादिन्द्रादयो देवा न मौर्ख्यं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येवोऽष्टविधो मोह इति । दशविधो महामोहः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः

होनेवाली अशक्ति अट्ठाइस प्रकारकी और तुष्टि नव प्रकारकी तथा सिद्धि आठ प्रकार की है॥ ४७ ॥

प्रश्न—इनमें से पाँच प्रकारके विपर्ययोंके अवान्तर भीतरी भेद कितने हैं?

उत्तर—प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार तथा पाँच सूक्ष्म तन्मात्रा रूप आठ अनात्म पदार्थोंके आत्मज्ञानरूप अविद्याको सांख्यने तम कहा है। इसके आठ पदार्थ विषय होनेसे यह तम आठ प्रकारका होता हैं। अणिमादि रूप आठ प्रकारके ऐश्वर्यको पाकर 'मैं सिद्ध हूँ' इस प्रकारके आत्मामें अहंभाव रूप अभिमानको

(१) एकादशानामिन्द्रियाणां वैकल्यात् कुण्ठितत्वात् स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यात् एकादश, बुद्धिगतानां नवतुष्टीनां विपर्ययो नव, अष्टसिद्धीनां च अष्टाविति मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिरिति 'एकादशेन्द्रियवधाः' इत्यत्र वक्ष्याम इति भावः ।

(२) तदृष्टिं बुद्धिभेदानां पञ्चाशत्संख्यावत्त्वम् ।

(३) तमःशब्दार्थमाह— प्रलय इति । विभज्यते- अज्ञानमूलकप्रलयशब्दार्थो विविच्यते । स इति । प्रकृत्याद्यष्टसु लयमात्रेणात्मानं येन मुक्तं जानाति स एवोऽज्ञानमूलकः प्रलयोऽष्टविधविषयत्वादष्टविधो तमो भेद इति भावः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

गानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्चविषयाः, एवमेतेषु दशसु महामोह इति (१) । तामिस्रोऽष्टादशधा- (२) अष्टविधमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका विषया दश, एतेषामादानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते, एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः । यथा तामिस्रोऽशुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्तथान्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव, किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एवं म्रियतेऽशुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते सोऽन्धतामिस्र इति । एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवृत्ता इति ॥४८॥

योगदर्शनमें अस्मिता कहा है। उसीको सांख्यमतमें 'मोह' कहा जाता है। इसके भी आठ प्रकारके ऐश्वर्य विषय होनेसे आठ भेद हैं। लौकिक तथा अलौकिक दो प्रकारके शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषयोंमें चित्तकी आसक्तिको योगदर्शनमें राग तथा सांख्यमें महामोह माना है, इसके दस विषय होनेसे दस भेद हैं। दूसरे पुरुषसे भोगे जाने वाले दिव्य अदिव्य भेदसे दस, पाँच शब्दादि विषय तथा आठ प्रकारके अणिमादि ऐश्वर्योंमें बुराईको द्वेष कहते हैं जिसे सांख्यमें तामिस्र कहा गया है, यह दस विषय तथा आठ ऐश्वर्योंमें होता है इसलिए इसके अठारह भेद हैं। जब देवतादि सात्त्विक प्राणी आठ प्रकारके अणिमादि ऐश्वर्यको पाकर दिव्यादिव्य दस शब्दादि विषयोंको भोगते हैं तो दैत्यादि तामस प्राणी उनका घात न करे ऐसा उन्हें भय होता है। इसी भयको **अभिनिवेश** या 'अन्धतामिस्र' कहते हैं। इसके भी पूर्वोक्त अठारह विषय होनेसे अट्ठारह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर विपर्ययके बासठ भेद हैं ॥४८॥

(१) दिव्यादिव्यतया दशविधरञ्जनीयशब्दादिविषयकत्वेन दशविधो महामोह इत्यर्थः ।

(२) तामिस्रस्याष्टादशत्वं कथयन्नाहाष्टविधमिति । स्वरूपत उपायतया चानभिभूताः शब्दादयोऽणिमादयश्चाष्टादश रागजनकाः, देवैरुपहन्यमानाश्च द्वेषविषया भवन्तीत्यष्टादशविधमत्वात्तामिस्रोऽष्टादशविध इत्यर्थः । विषया इति । इत्यष्टादशविषयस्तामिस्रस्तथान्धतामिस्रोऽपि मरणदेवतोपघातादिभयजनितदुःखात्मकोऽष्टादशविध एवेत्यर्थः । इममेव विशेषमाह— किन्त्विति । विषय

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते-'भवन्त्यशक्ततश्च करणवैकल्यावष्टाविंशतिभेदा' इत्युद्दिश्य, तत्रैकादशेन्द्रियवधाः —(१) बाधिर्यमन्धता प्रसुप्तिरूपजिह्विका-घ्राणपाको मूकता कुणित्वं खाञ्जत्यं गुदावर्तः क्लैब्यमुन्माद इति । सह बुद्धि-वधैरशक्तिरुद्दिष्टा, ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति । (२) सप्तदश वधा बुद्धेः, सप्तदश वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन, तुष्टिभेदा नव सिद्धिभेदा अष्टौ ये तद्विपरीतैः सह एकादशविधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥४९॥

प्रश्न—अशक्तिके अट्ठाइस भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—१ बाधिर्य (बहिरापन) २ कुण्ठिता (स्पर्शन शक्तिका नाश) ३ अन्धत्व (अन्धापन) ४ जडता (जिह्वाशक्तिका नाश) ५ अजिघ्रता (घ्राणेन्द्रियकी विकलता) ६ मूकता (गूँगापन) ७ कौण्य (लूलापन) ८ पङ्गुत्व (लंगड़ापन) ९ क्लैब्य (नपुंसकता) १० उदावर्त्त (पुरीषशक्तिका नाश) तथा ११ मन्दता (मानसिकशक्तिका नाश) ऐसे ग्यारह इन्द्रियवध हैं जिनसे बुद्धिवध होनेके कारण ग्यारह प्रकारके और नौ प्रकारकी तुष्टिके तथा आठ प्रकारकी सिद्धिके विपर्यय (विपरीतता) से होने वाले स्वरूपसे बुद्धिके वध

(१) बाधिर्यमिति । बधिरभावः कर्णशक्तिनाश इत्यर्थः, अन्धता नेत्रशक्ति-विनाशः, प्रसुप्तिः त्वक्शक्तिशून्यता, उपजिह्विका रसनाशक्तिहीनता, घ्राणपाकोऽस्यास्तीति कुणी तस्य भावः कौण्यम् करशक्त्यभावः, खाञ्जत्यम् पङ्गुत्वं पादशक्त्यभावः, गुदावर्तः पायुशक्त्यभावो उदावर्तापरपर्यायः, क्लैब्यं षण्डता रति-शक्तिविरहः, उन्मादः मनसः सङ्कल्पशक्त्यभाव इत्येते बुद्धिवधहेतुकत्वेन निर्दिष्टा एकादशेन्द्रियवधा इत्यर्थः ।

(२) स्वरूपतो बुद्धिवधाः कतीत्यत आह— सप्तदशेति । कुत इत्यत आह— तुष्टीति ।

आध्यात्मिकयश्च तस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।

१) विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः, तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते-आध्यात्मिकयश्चतस्रस्तुष्टयः, आध्यात्मनि भवा आध्यात्मिकयः (२), ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति तस्या सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्ष एषा प्रकृत्याख्या (१) । उपादानाख्या यथा कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वा-न्युपादानग्रहणं करोति शिष्टैकमण्डलुविधिदण्ड्यो मोक्ष इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या (४) । तथा कालाख्या—कालेन मोक्षो भवि-ष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति । तथा भाग्याख्या—भाग्येनैव मोक्षो भविष्यतीति भाग्याख्या, चतुर्दा (५) तुष्टिरिति ।

सब्रह होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठाइस बुद्धिके वधोंको ही सांख्य-शास्त्र में अट्ठाइस प्रकारकी अशक्ति माना गया है ॥४९॥

प्रश्न—तुष्टिके नौ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—चार प्रकारकी प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग्य नामकी आध्यात्मिक (भीतरी तत्त्वोंके विषय में होनेवाली) तथा पाँच प्रकारके विषयोंमें उपरति होनेसे पाँच प्रकारकी बाह्य ऐसी नौ प्रकारकी तुष्टि है । (१) जिनमें से प्रकृत्यादिकोंसे भिन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे मुक्ति अवश्य होती है, परन्तु यह

(१) विपर्ययादिति । यतो विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनां सप्तदश बुद्धिवधा भवन्त्यतस्तेषामेव क्रमो वर्णनीयः प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वाद्धि रोधिज्ञानस्येति भावः ।

(२) प्रकृत्याख्यातिरिक्तमात्मानं ज्ञात्वाप्यसदुपदेशेन यो आत्मवधवादो प्रथते तस्यात्मविषयिण्यस्तुष्टयश्चतस्र आध्यात्मिकयो भवन्तीत्यर्थः ।

(३) विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदरतं च सैव करोति कृतमात्मख्यानाभ्यासेनेति कस्यचिदुपदेशेन तुष्टिः प्रकृत्याख्येति मिथ्या: ।

(४) प्राक्कृत्यपि विवेकख्यातिर्न प्रकृतिमात्राज्जायते सर्वथा सर्वदा प्रकृतेर-विशेषात्तदुत्पादप्रसङ्गात्, किन्तु प्रख्ययाप्रवृत्तामुपादधीथाः कृतं ध्यानादिनेति उपदेशेन या तुष्टिः सोपादानाख्येति वाचस्पतिमिश्राः ।

(५) अतएव मदालसायास्तत्त्वज्ञानवत्या वर्षाभ्यन्तरायुष्काणि अपत्यानि

बाह्या विषयोपरमात्पञ्च नव तुष्टयोमिता ॥ ५० ॥

बाह्या विषयोपरमात्पञ्च । बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विषयोपरमाद्, (१) शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात् । वृद्धिनिमित्तं पशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्या एतदर्जने दुःखम्, अर्जितानां रक्षणे दुःखम् उपभोगात् क्षीयत इति क्षयदुःखम्, तथा विषयोपभोगसङ्गे हृदये नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः, तथा न अनुपहृत्य भूतान्युपभोग इत्येव हिंसादोषः,

साक्षात्कार प्रकृतिका ही परिणाम होनेसे प्रकृतिसे ही हो जायगा, उसके लिए ध्यानादिकोंकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझकर ध्यानादि यत्न छोड़नेको प्रकृति तुष्टि कहते हैं, जिसकी 'अम्भ' ऐसी भी संज्ञा सांख्यशास्त्रमें कही है। (२) और जिसे केवल प्रकृतिसे ही उक्त साक्षात्कार नहीं हो सकता यदि हो तो प्रकृतिके सर्वसाधारण होनेसे सभीको होगा इसलिए संन्यास लेनेसे होगा, ध्यानादिकोंकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझकर या किसीके उपदेशसे जो तुष्टि होती है, उसे उपादान तुष्टि कहते हैं जिसकी 'सलिल' ऐसी शास्त्रमें संज्ञा दी है। (३) और किसीको संन्यास लेने पर भी समय पूर्ण होने पर ही ज्ञानकी सिद्धि मिल सकेगी ऐसे उपदेशसे जो तुष्टि होती है उसे काल नामकी तुष्टि कहते हैं, जिसकी सांख्य में 'मेघ' वा 'ओघ' ऐसी संज्ञा है। (४) समय पूरा हो या न हो भाग्यमें रहनेसे ही आत्म-साक्षात्कार होता है ऐसा समझ कर भाग्य पर ही भरोसा रखनेसे जो तुष्टि होती है उसे भाग्य नामकी तुष्टि कहते हैं जिसका 'वृष्टि' ऐसा शास्त्रमें नाम रक्खा गया है। ये चार 'प्रकृति भिन्न आत्मा है' ऐसा जानकर आलस्यादि कारणोंसे ध्यानादिक करनेमें प्रवृत्ति न होनेसे तुष्टि होती है, इस कारणसे इन्हें अध्यात्मिक तुष्टि कहते हैं। इसी प्रकार आत्माके भिन्न प्रकृत्यादि पदार्थोंको आत्मा समझकर जो विषयोंसे उपरति (वैराग्य)

'त्वं शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि मा रुदिहि दुःखं नास्मधर्मं' इत्यादुपदेशेन प्राग्भवीयभाग्यवसादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुरिति, भाग्याख्येयं तुष्टिरित्यर्थः ।

(१) विषयोपरम एव कथमत आह—शब्देति । अर्जनादिदुःखदर्शनाद्यथा शब्दादिभ्य उपरतो भवति तदा बाह्यास्तुष्टयः पञ्चविधविषयविषयकत्वात्पञ्चेत्यर्थः । अर्जनादिदुःखमेव विवृणोति-वृद्धिनिमित्तमिति ।

एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविधविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः, तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि

(१) 'अम्भः सलिलमोघो वृष्टिः सुतमः पारं सुतरं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम् इति । आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति । तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

से बाह्य तुष्टि होती है वह वैराग्यके कारण विषयोंके पाँच होनेसे पाँच प्रकार की है। जैसे पाँच वैराग्यके विषय हैं उसी तरह उपरति भी अर्जन (पैदा करना), रक्षण (रक्षा करना), क्षय (नाश), भोग (उपभोग) तथा हिंसा (द्रोह) इस प्रकार पाँच दोषोंको दृष्टिसे होती है। इसलिए भी वह तुष्टि पाँच प्रकारकी है (१) भीख माँगना, सेवा करना इत्यादि पैदा करनेके [illegible] में बड़ा दुःख है ऐसा दोष समझ कर जो सन्तोष होता है उसे प्रथम 'पार' नामक तुष्टि कहते हैं (२) किसी तरह पैदा किये धन संपत्तिको चोर, डाकू इत्यादिकोंसे रक्षा करनेमें भी बड़ा कष्ट है यह दोष देखकर जो सन्तोष होता है उसे दूसरी 'सुपार' नामकी तुष्टि कहते हैं। (३) किसी प्रकार रक्षा किये धनका क्षय हो जायगा इस प्रकार विनाश दोष-दृष्टिसे जो तुष्टि होती है उसे 'पारापार' ऐसा कहते हैं। (४) तथा विषयोंके भोगसे और भी तृष्णा बढ़ती

(१) उक्तविधनवतुष्टीनां भोगदर्शनोक्तानि संज्ञान्तराण्याहाम्भ इति। संसारमज्जनहेतुरुक्तसादध्यात्मप्रकृतितुष्टेरम्भ इति, संसरणनिमित्तत्वादुपादानतुष्टेः सलिलमिति, कालप्रतीक्षाया उत्तापरूपाकालतुष्टेमेघ इति, अकस्मात् विवेकख्यातिसेचनाद्भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्येवमाध्यात्मिकीनां तुष्टीनां संज्ञा। एवमर्जनदुःखस्यात्यन्तं भयावहत्वात्सुतम् इति रक्षणकाले भोगाभिलाषपूर्त्याद्दुःखस्य पारगमनसम्भवाद् द्वितीया पारमिति एवं क्षयदोषदर्शनादप्रवृत्तौ दुःखपारगमनात्तृतीया सुतरमिति, सङ्गदोषं भावयतो नास्त्यरिरिति चतुर्थी नारीकमिति, तथा हिंसादोषदर्शनान्नास्ति अन्यत् अलघत् कारुण्योत्पादकमिति पञ्चम्या सुतमाम्भसिकमित्येवं बाह्यास्तुष्टयो वैराग्ये सति जायन्ते इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वात्पञ्चेति भावः। एतासु च पारं सुपारं पारापारमनुत्तमाम्भः उत्तमाम्भ इति संज्ञापञ्चकेन मिश्राः प्रोक्ताः, एतेषां युक्तायुक्तत्वे सुधीभिः स्वयं विभावनीये ।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातात्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।

सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधिः ॥ ५१ ॥

सिद्धयोऽष्टौ ऊहा यथा कश्चिन्नित्यमूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम, इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते प्रधानादन्य एव पुरुष इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येषेयं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति, एवा (१) ऊहाख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या (२) सिद्धिः। अध्ययनाद् वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति इत्येषा तृतीया (३) सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुप-

शास्त्रके पाठको सुनकर क्रियाकारकादिरूप-पदसमुदायात्मक शब्दोंसे ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द सिद्धि तथा गुरुमुखसे शास्त्रके अर्थका ज्ञान होना अध्ययन नामकी सिद्धि कहलाती है। तथा दुःखविघातरूप सिद्धियाँ दुःखके तीन होनेसे

जाती है और उनके न मिलनेसे कामी पुरुषको नाना प्रकारका दुःख ही होता है इस प्रकार भोगमें दोष-दृष्टिसे जो तुष्टि होती है उसे 'अनुत्तमाम्भ' (४) तथा बिना प्राणियोंके घात और दाहके विषयोंका भोग होना कठिन है इस प्रकार हिंसादोषके विचारसे जो सन्तोष होता है उस पाँचवीं तुष्टिको 'उत्तमाम्भ' ऐसा कहते हैं ॥ ५० ॥

प्रश्न आठ प्रकार की सिद्धियोंके भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—ऊह शब्द, अध्ययन तथा तीन प्रकारके दुःखोंका विघात, सुहृत्प्राप्ति तथा दान ऐसी आठ सिद्धियाँ हैं। जिनमेंसे आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंकी विघात रूप तीन सिद्धियाँ मुख्य फल होनेसे मुख्य सिद्धियाँ हैं और बाकी पाँच उनका साधन होनेसे गौण हैं। जिनमें बिना उपदेशादिके पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे स्वयं विचारसामर्थ्य रूप सिद्धिको ऊह कहते हैं। जो दूसरेके सांख्य-

(१) ऊहस्तर्कः आगमादिरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम्, परीक्षणं च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनं यन्मननमाचक्षते आगमिन इति मिश्राः। अस्याश्च तन्मते तारतारमिति संज्ञेतन्मते तु तारमिति विशेषः।

(२) अध्ययनकार्यशब्दजन्यार्थज्ञानरूपेयं 'सुतारम्' इति मिश्रमतेऽपि व्यपदिश्यते इति न कश्चिद्विशेषः।

(३) गुरुमुखात् अध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं 'तारमि'ति संज्ञया व्यपदिष्टा मिश्रमते प्रथमा सिद्धिरियं बोद्धव्या।

(४) बान्धं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधिः ॥ ५१ ॥

गम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एवा चतुर्थी सिद्धिः। एवंच दुःखत्रयभेदाद् त्रिधा कल्पनीया इति षट् १) सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः, यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एवा सप्तमी सिद्धिः (२)। दानं यथा कश्चिद्भगवतां प्रत्याख्यौषधिचिन्तकबुध्दिकादीनां वाक्यादनादीनां च दानेनोपकुरुय तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, (३) एवाऽष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः-'तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं प्रमोदमानं रम्यकं सदाप्रमुदितम्' इति। 'आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्बंधा ये विपरीतास्ते अशक्तो निक्षिप्ताः— यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। (४) अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति। तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च (५) कृत इति। किञ्चान्यत् सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रि-

(१) एता मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया स्थितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयस्ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः, तत्राध्ययनरूपा सिद्धिर्हेतुरेव मुख्यास्तु हेतुमत्य एव, मध्यमा ऊहशब्दसुहृत्प्राप्तिदानाख्या हेतुहेतुमत्य इति तत्त्वकौमुदी।

(२) न्यायेन स्वयं परीक्षितमध्यर्थं न यद्वेत्ति न यावद्दुःखविध्वंसहेतुभिः सह संबाधतेऽतः सुहृदामुक्तसंवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिश्चतुर्थी सिद्धिः रम्यकमिति मिश्रमतम्।

(३) दंप् शोभन इत्यस्माद्दातोर्दानपदव्युत्पत्तेः सदाप्रमुदितसाम्ना व्यपदिष्टेयं पञ्चमी सिद्धिर्मिश्रैः।

(४) प्रवर्तितुष्टिसिद्धिविपर्ययाशक्तिभेदसंख्यापूरकत्व प्रदर्शयन्नष्टाविंशतिसंख्यां सङ्कलयति-अशक्तीति।

(५) नाममात्रेण सङ्कीर्तनमुद्देशः, लक्षणपूर्वकं नामकीर्तनं च निर्देश इति

न विना भावलिङ्गं विना लिङ्गेन भावनिवृत्तिः ।

विधः, (१) सिद्धेः पूर्वो या विपर्ययाशक्तितुष्ट्यस्तां एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदाः केन विधिना, यथा हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः पञ्चविधस्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥

अथ यदुक्तं भावैरधिवासितं लिङ्गं, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिप-

तीन प्रकारकी है, यह प्रसिद्ध ही है। ज्ञानी मित्रकी प्राप्ति से ज्ञान प्राप्त होता है इसलिए सुहृत्प्राप्ति तथा 'दैप् शोधने' इस धात्वर्थके अनुसार विवेक ज्ञानसे बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि अथवा धनदानसे भी ज्ञानी प्रसन्न होकर दान देता है इसलिए दान भी एक सिद्धि है। परन्तु वाचस्पति मिश्रने इन गौण पाँच सिद्धियों में भी कारण-कार्य भावके अनुसार पहले अध्ययन सिद्धि जो अक्षरज्ञानरूप है तथा उससे होने वाले अर्थज्ञानरूप शब्दसिद्धिका उसके बाद वर्णन कर बाद में उह रूप सिद्धि कही है, जिनमें पहिली दो श्रवण और ऊहको मनन कहा है और इसके बाद गुरु इत्यादि ज्ञानी मित्रकी प्राप्ति और अन्तमें विवेकज्ञानकी शुद्धिरूप दान सिद्धि कही है।

इन आठ सिद्धियोंकी कारिकोक्त क्रमसे तार १ सुतार २ तारतार ३ प्रमाद ४मुदित ५ मोदमान ६ रम्यक ७ तथा सदामुदित ८ ऐसी संज्ञा शास्त्रमें संज्ञायें बतलाई हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारके विपर्ययादि बुद्धिसर्गोंमेंसे सिद्धि को छोड़कर विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि ये तीनों मुमुक्षुको त्याज्य हैं, क्योंकि सिद्धिकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक हैं और सिद्धि ही ग्राह्य है ॥ ५१ ॥

प्रश्न—भोगरूप पुरुषार्थ बिना विषयोंके नहीं हो सकता इसलिए आकाशादि पाँच जड़ पदार्थोंकी सृष्टि मानना ठीक है परन्तु प्रकाशरूप अतीन्द्रिय महत्त-

(१) अथ समासेन चतुर्विधे बुद्धिसर्गे सिद्धिपादेया तन्निवारिका विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह—सिद्धेरिति। पूर्व इति विपर्ययादित्रयग्रहणम्। ता। सिद्धिपरिपन्थित्वादाद्यपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इति भिधा। तद्भेदादेव विपर्ययादिभेदादेव, अङ्कुशोऽपि त्रिविध इत्यर्थः।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

विधाभाः विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः प्रत्ययसर्गो (१) लिङ्गाख्य तस्माच्चसर्गचतुर्थसूतपर्यन्त उक्तः तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गोपन्यास इत आह—भावैः प्रत्ययसर्गेविना (२) लिङ्गं न तस्माच्चसर्गो न पूर्वपूर्वसंस्कारारब्धकारितत्वादुत्तरोत्तर (३) देहसम्भव, लिङ्गेन तस्माच्चसर्गेण च विना भावनिवृत्तिर्न स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्भवादेः, (४) अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परम्परापेक्षित्वात्, तस्माद्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्तते सर्ग इति ॥५२॥

स्वादि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सृष्टि मानना ठीक है परन्तु प्रकाशरूप अतीन्द्रिय महत्तत्त्वादि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सृष्टि क्यों मानी जाय ?

उत्तर—बिना भाव-विषयोंके लिङ्ग महत्तत्त्वादि अतीन्द्रिय पदार्थ भोगके साधक नहीं हो सकते और महत्तत्त्वादि लिङ्ग पदार्थोंके बिना विषयोंमें भोग साधनता नहीं आ सकती अर्थात् विषय केवल अपने स्वरूपसे भोगके साधक नहीं हो सकते, यदि ऐसा हो तो सबको सब विषयोंके भोग होने लगेंगे, इसलिए विषयों का ज्ञान ही भोगका साधन मानना पड़ेगा और वह ज्ञान बिना इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंको आवश्यकता होनेसे अनुमित महत्तत्त्वादि पदार्थोंकी सृष्टि तथा इन्द्रियोंके प्रवृत्त होने वाले भाव-आकाशादि श्रुत पदार्थोंकी भी सृष्टि मानी गयी है ॥५२॥

(१) विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिरूपेण परिणता धर्मादयोऽष्टौ भावा एव भावाख्यो बुद्धिसर्ग इत्यर्थः।

(२) धर्मादिसहितैर्भावैरन्धादीन्द्रियान्तःकरणादिविनिर्मितेन।

(३) स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तेः।

(४) ननु धर्मादयो भावाः शरीरापेक्षाः, शरीरं धर्मादिसापेक्षमित्यन्योन्याश्रयदोषाद्भवस्याप्यसम्भव इयत आह-अनादित्वाच्चेति। सर्गप्रवाहस्यानादित्वाद्बिच्छिन्नत्वात्, यथा बीजं प्रथममङ्कुरो वेत्यनिर्णयेऽपि नेतरेतराश्रयदोषस्तथा बुद्धेरनादितया तल्लयोत्पाद्यनादित्वेन संसारप्रवाहस्यानादितयोभयविधसर्गेणान्योन्याश्रयदोष इति भावः। अन्योन्याश्रयाभावे हेतुमाह—तत्तदिति।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।

किञ्चान्यत् तत्पञ्चप्रकारम्— ब्राह्म प्राजापत्य सौम्यगान्धर्व याम्य राक्षस पैशाचमिति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि मूलाम्भेवं पञ्चविधस्तैरश्चः । मानुषयोनिरेकेन (१) । इति चतुर्दश भूतानि ॥ ५३ ॥

त्रिष्वपि लोकेषु गुणभूयस्त्वमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते—(२) ऊर्ध्वमिति । अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः सत्त्वविस्तारः सत्त्वोत्कट ऊर्ध्व-सत्त्व इति, तथापि रजस्तमसी स्तः । तमोविशालो मूलतः, पशवादिषु स्थावरान्तेषु सर्गः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः, (३) तत्रापि सत्त्वरजसीस्तः । मध्ये मानुषे

प्रश्न—भौतिक सृष्टि कितने प्रकार की है ?

उत्तर—१ ब्राह्म २ प्राजापत्य ३ ऐन्द्र ४ पैत्र ५ गान्धर्व ६ याक्ष ७ राक्षस तथा ८ पैशाच ऐसे आठ प्रकारकी देवजातिकी सृष्टि तथा पशु (चौपाये-गाय आदि) पक्षि (पंख वाले गौध आदि) सरीसृप (सरकने वाले साँप आदि) कीट (कीड़े, मकोड़े आदि) तथा स्थावर (एक जगह रहने वाले पेड़ इत्यादि) ऐसे पाँच प्रकारकी तिर्यग्योनियोंकी सृष्टि और एक प्रकारकी मनुष्यों की सृष्टि (१) ऐसी संक्षेपसे सब मिलाकर चौदह प्रकारकी भौतिक सृष्टि मानी गई है ॥५३॥

प्रश्न—इस चौदह प्रकारकी विस्तृत भौतिक सृष्टिका संक्षेप क्या है ?

उत्तर-आठ प्रकारकी जो देव-सृष्टि भूलोकसे ऊपरी स्वर्गादि लोकमें है वह सत्त्वविशाल है, अर्थात् रज तथा तमके रहने पर भी उसमें सत्त्वगुण अधिक है,

(१) ब्राह्मणस्वाङ्गवान्तरजातिभेदाविवक्षयैकत्वमिद सौम्यम्, संस्थानस्य सर्वत्राविशेषादिति । इतीति । संक्षेपतोऽयं भौतिकः सर्ग उक्त इत्यर्थः ।

(२) भौतिकस्यास्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिष्कर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्यभावेन वैविध्यमाहोर्ध्वमिति मिश्राः । सत्त्वविशालशब्दस्य पर्यायान्तरैरर्थमाह—सत्त्वविस्तार इत्यादिना । सत्त्वगुणप्रधान इति यावत् । अत एवाह— तथापीति ।

(३) तमोबहुलस्तमः प्रधान इत्यर्थः अत एवाह—तथापीति ।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यंतः ॥५४॥
तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

रज उत्कटं, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्माद् दुःखप्रायाः मनुष्याः । (१) एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः, ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः । एवमौतिकः सर्गो लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूतसर्गो देवमानुषतैर्यग्योना इति, एष प्रधानकृतो बोध विधः सर्गः (२) ॥ ५४ ॥

(१) तत्रेति । तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः चेतनवान् पुरुषः प्राप्नोति, (४) न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो वा

और नीचे गिरने वाली तिर्यग्योनिकी पाँच जातियों में सत्त्व तथा रजके रहने पर भी तमोगुणकी अधिकताके कारण तमोगुण बहुत है, तथा भूलोकमें रहनेवाली एक प्रकारकी मनुष्य जातिकी सारी सृष्टिमें सत्त्व तथा तमके रहने पर भी धर्माधर्ममें अधिकतर प्रवृत्ति होनेके कारण रजोगुण अधिक होनेसे रजोगुण अधिक है। इसमें ब्रह्मासे लेकर वृक्षादिकों तक सारी सृष्टिका निवेश संक्षेपसे आ जाता है, अर्थात् लिङ्ग-सृष्टि और सूक्ष्म तन्मात्रा सृष्टि ऐसी दो प्रकारकी अभौतिक सृष्टि तथा पूर्वोक्त १४ प्रकारकी भौतिक सृष्टिका इसमें संग्रह होता है ॥ ५४ ॥

परन्तु हे शिष्यो ! इस प्रकारकी सारी सृष्टि सुखदायक है ऐसा जानेसे

(१, पृ० ८०) ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि अवान्तर भेदोंके हाथ, पैर इत्यादि अवयवरचना समान होनेसे अलग नहीं कहा है ।

(१) भूलोकमें धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च रजोगुणप्रधान इति मिश्राः । लोकस्थिति संक्षिपति—एवमिति ।

(२) लिङ्गभावभेदेन द्विविधोऽभौतिकः, अष्टविधो दैवः, पञ्चविधस्तैर्यग्योनः एकविधो मानुष्यक इति मिलित्वा चतुर्दशविधो भौतिकः सर्ग इत्येवं प्राथमिकः षोडशविध इत्यर्थः ।

(३) तदेवं सर्गं निरूप्य तस्यापवर्गसाधनत्वेनाभ्युपयोगिनीं दुःखहेतुताम् आह—तत्रेति ।

(४) तस्माद्दुःखं स्वभावेन स्वत एव सर्गो दुःखरूपः विवेकिनामिति शेष पूरणीयम् । दुःखादिप्राकृतगुणानां कथं चेतनसम्बन्धितेत्यत उक्तं पुरुष इति । पुरि

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

तस्मादाणीन्द्रियाणि महाभूतानि च क्रियन्ते कार्यं पुरुषो दुःखं प्राप्नोति तद्विनिवृत्तिं—लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति । यद् तन्महदादि लिङ्गशरीरेणाविषय (१) तच्च व्यक्तीभवति, तदाश्रय निवर्तते संसारशरीरमिति यावत्, संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, लिङ्गस्य विनिवृत्ति (२) यावत्, लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति । तत् पुनः केन निवर्तते ? (३) यदा सप्तविधमितस्यज्ञानं स्यात् तत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्—इदं प्रधानमिदं बुद्धिरहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेत्यभ्यः पुरुषो विदित्वा इत्येवं ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॥ ५५ ॥

मुक्तिमें उपयोगी वैराग्यरूप साधन उत्पन्न होता है, क्योंकि चेतन-प्रकाशरूप भी आत्मा पूर्वोक्त चतुर्दश लोकसृष्टि या शरीरादिकोंमें वृद्धावस्था, मरण इत्यादिकोंसे महत्तत्वादि लिङ्गोंकी निवृत्ति न होनेके कारण या जब तक इनकी निवृत्ति नहीं होती तब तक-अनेक प्रकारके दुःखोंको प्राप्त करता है, इसलिए स्वभावतः सृष्टिमें दुःख ही है अर्थात् प्राणियोंके लिए सारा संसार दुःखरूप है, इसीलिए योगदर्शनमें कहा है 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' ॥ अर्थात् बुद्धीतीके दुःखसे तथा मरणके दुःखसे और बार-बार जन्म लेनेके दुःखसे भी ज्ञानीके लिए सारा जगत दुःखमय है ॥ ५५ ॥

लिङ्गं येते इति पुरुषः, लिङ्गं च तत्संबन्धीति चेतनोऽपि तत्संबंधी भवतीति भिक्षाः । एवं च अजप्रकृत्यादिषु वर्तमानस्यापि दुःखस्योपलब्धिः पुरुष एव भवतीत्याशंक्याह—न प्रधानमित्यादिना ।

(१) स्थूलशरीरं इत्यादिः । संसारशरीरं सूक्ष्मशरीरम् ।

(२) कुतः पुरुषलिङ्गसम्बन्धिदुःखं पुरुषस्येत्यत आह—लिङ्गस्याविनिवृत्तेः । पुरुषादन्येषामप्रहाणिलिङ्गधर्माद् दुःखादेर् आत्मन्यध्यवसस्यति पुरुष इति भिक्षाः ।

(३) ज्ञानेन लिङ्गनिवृत्तेः प्रकारमाह यदेति ।

सानुवाद-गौडपादभाष्योपेता ४३

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते—(१) परिसमाप्तौ निर्देशे च, प्रकृतिकृतौ (२) प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां च आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येष प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं पुरुषं पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यक्स्थावरगतानां (१) विमोक्षार्थमारम्भः कथम् ? स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः क्वचित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति एवं प्रधानम्, पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थं (४) इव च स्वार्थः पदार्थ एव, अर्थः शब्दादिविषयोपलब्धिगुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रकृतिः, तथा चोक्तम्—'कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति ॥ ५६ ॥

परन्तु महत्तत्वसे लेकर महाभूत पर्यन्त यह सारी सृष्टि साङ्ख्यमतसिद्ध प्रकृतिहीसे बनी है न ईश्वरसे, न ब्रह्मसे, या अकारण भी नहीं है, अकारण माननेसे इस सृष्टिको सदा सत्ताही रहेगी, या सदा अभावही। अपरिणामी होनेसे

(१) उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति इत्येष इति भिक्षाः । सर्गस्य प्रकृतिमात्रारब्धत्वं वक्तुमुपसंहरति इत्येष इति वार्षगणतीर्थाः ।

(२) प्रकृतिक्रियायां प्रधानव्यापारे च आरम्भो महदादिरूप इत्येतेन ब्रह्मादृष्टादिव्यापारत्वं तस्य निरस्तम् । अत्र प्रकृतिकृत इति प्रथमान्तपाठस्य भिक्षादिसंमतत्वेऽपि एतन्मते सप्तम्यन्तस्यैव पाठस्य व्याख्यानात् एवमेव मुद्रितः ।

(३) मध्ये प्रत्येकं चेतन पुरुषस्य विमोक्षार्थमित्यनुषज्यमानत्वात् ।

(४) स्वार्थं इव न च प्रकृतेः कश्चित्स्वार्थः तस्या अचेतनत्वात् स्वार्थाभावात्, अर्थ च स्वार्थ इवेति दृष्टान्तः; तथा च यथा चेतना कान्ता 'अहं पुरुषेण भोक्ष्ये भगवानोति' स्वकर्मभोगरूपे स्वार्थे प्रवर्तते तथा नेयं, किन्तु प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थं एव प्रवर्तते प्रकृतिः, तथा च प्रथमं भोगं प्रदाय पश्चात् परार्थं मोक्षमपि दास्यतीति भोगार्थमपवर्गार्थं चास्याः परार्थं एव आरम्भ इत्यर्थः । इत्थमभिप्रायेणैवाह अर्थं इत्यादिना ।

वत्साभ्रवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य तथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।

(१) 'अचेतनत्वेऽपि चेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति, यथा विषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषो योक्ष्यते भोगः कर्तव्य इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ? सार्थं,

सकता कार्यकी तृप्तिको नहीं पाता जा सकता। ईश्वरको शरीर न होनेसे व्यापार के बिना ईश्वर भी अपने अधिष्ठानसे प्रकृतिके द्वारा जगत् को बनाता है' यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि देखनेमें आता है कि बिना हाथ-पैर चलाये बढ़ई भी कुल्हाड़ीसे लकड़ीको काट नहीं सकता।

प्रश्न—यदि केवल प्रकृतिसे सृष्टि बनती हो तो उसके सदा ही प्रवृत्तिस्वभाव होनेसे सदाही सृष्टि रहनेसे किसीको कभी मुक्ति न होगी ?

उत्तर जिस प्रकार भात चाहने वाला भात तैयार करनेके लिए रसोई बनानेमें प्रवृत्त होकर भात तैयार होनेपर उसे खाकर सुधासे निवृत्त होता है उसी तरह हर एक पुरुषको भोग देकर मुक्त करनेके लिए प्रवृत्त हुई प्रकृति भी जिस पुरुषको मुक्त कर देती है उस पुरुषके लिए फिर भोग देनेके लिए प्रवृत्त नहीं होती अर्थात् प्रकृति की प्रवृत्ति स्वार्थके समान केवल परार्थ-पुरुषके लिये ही है ॥५६॥

प्रश्न—जड़ होनेसे प्रकृतिकी स्वयं प्रवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—जैसे जड़ होनेपर भी गायके थनसे दूधकी बछड़ेके जीने तथा बढ़नेके लिए स्वयं ही प्रवृत्ति होती है, अर्थात् दूध गायके थनसे खुद बहने लगता है, उसी तरह जड़ प्रकृतिकी भी हर एक पुरुषके संसार-बन्धनसे छुड़ानेके लिए भी स्वयं, प्रवृत्ति होती है ऐसा माननेमें कोई बाधक नहीं है।

(१) आक्षिपति अचेतनत्वे इत्यादिना। अचेतनायाः कथं प्रवृत्तिरित्याक्षेपार्थः। शास्त्रतो लक्षणादिना। क्षीरादीनामचेतनानामपि प्रवृत्तिदर्शनादचेतनप्रकृतेः प्रवृत्यनुपलम्भाद् न कश्चिद्दोष इति समाधानाभिप्रायः। ननु क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठानेनैवत्वमतया प्रवृत्तेश्चेतननिमित्तत्वमभ्युपगमेनेति दृष्टान्तासिद्धिरिति चेन्न। साङ्ख्यमते ईश्वरस्यैव प्रमाणाभावात्, तस्यापि वेष्टाप्तकामस्येश्वरस्य प्रयोजनं विना प्रवर्तकत्वायोगाद्। न च कारुण्यादिति वाच्यम्। सर्गात्प्राक् जीवानां दुःखित्वासम्भवेन तन्निवृत्तीच्छारूपकारुण्यस्यापि तदानीमभावात्सर्गस्यापि पक्षप्रयोजनेनैव क्षीरादिवत् प्रवर्तते प्रकृतिरिति सुस्थितम्।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥
औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिरिष्टा निवृत्तिश्च यस्मादित्याह—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, दुष्टे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति ॥ ५७ ॥

(१) किञ्च—यथा लोके दृष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते यमनाय्यमनक्रियासु कृतकार्यो निवर्तते (२) तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिविषयोपभोगोपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा प्रधानं निवर्तते ॥ ५८ ॥

प्रश्न—दूधकी प्रवृत्ति भी ईश्वरके ही प्रेरणासे होती है इसलिए बिना चेतनके अधिष्ठानके प्रकृतिकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए ईश्वर मानना आवश्यक है।

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि परिपूर्ण कामनावाला ईश्वर बिना प्रयोजनके सृष्टि करनेमें प्रकृतिको क्यों प्रवृत्त करेगा, सृष्टिके पहिले जीवोंको शारीरादिक न होनेसे दुःख न हो सकनेके कारण उसके हटानेके लिए ईश्वर करुणासे सृष्टि करानेमें प्रवृत्त होता है यह भी नहीं कहा जा सकता। परिपूर्णकाम होनेसे उसका कोई स्वार्थ भी सृष्टि करनेमें प्रयोजक नहीं हो सकता, इसलिए स्वयं जड़ भी प्रकृति पुरुषार्थरूप प्रयोजनसे क्षीरादिकोंके समान प्रवृत्त होती है यही मानना उचित है ॥ ५७ ॥

प्रश्न—चेतनके समान जड़में प्रयोजनके उद्देशसे प्रवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि बिना प्रयोजन किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती ?

उत्तर—जैसे अपनी भात खानेकी उत्कट इच्छाको दूर करनेके लिए मनुष्य

(१) ननु प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवृत्तिरिष्टा न चास्यास्तदस्तीत्याह औत्सुक्येति। स्वार्थ इवेति यदृष्टान्तितं तद्विभजते इति मिश्राः।

(२) औत्सुक्यमिच्छाविशेषस्य ज्ञेयमाणप्राप्तौ निवर्तते इष्यमाणश्च स्वार्थः; इष्टलक्षणत्वात्फलस्येति भावः।

(१) रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । ५९
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥
नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।

किञ्चान्यत् यथा नर्तकी शृङ्गारादिरसे रतिहासादिभावैश्च निबद्धगीत-वादित्रनृत्यानि रङ्गस्य (२) दर्शयित्वा कृतकार्या कृत्याच्चिवर्त्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य (३) बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रैन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवर्त्तते ॥

कर्म को बाधना निवर्तका हेतु (४) तदाह—(४) नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । कथम् ? देवमानुषतिर्यग्भावेन सुख-

रसोई बनानेमें प्रवृत्त होता है, वैसे प्रकृति भी मुझे पुरुषार्थ करना है ऐसी इच्छा होनेपर उसके निवृत्त होनेके लिए पुरुषके मुक्तिरूप फलके लिए प्रवृत्त होती है, क्योंकि उसके सिद्धिके बिना उस इच्छाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए केवल परार्थ ही प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है ॥ ५८ ॥

प्रश्न—इस प्रकार प्रवृत्ति होनेपर भी निवृत्ति कैसे होगी, यदि न हो तो पुरुषको मोक्ष न होगा ?

उत्तर—जैसे नर्तकी सभासदोंको हाव भावके साथ नाच दिखानेके बाद इनाम पाकर स्वयं नाच दिखानेसे निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृति भी सुख दुःखादि भोगके द्वारा पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर 'तू मुझसे भिन्न है, मैं तुझसे भिन्न हूँ' इस प्रकारके विवेक-ज्ञान होनेपर स्वयं निवृत्त हो जाती है जिससे वह पुरुष प्रकृति सम्बन्धके छूटनेसे मुक्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

प्रश्न परार्थ कार्य करनेमें भी अपना कोई स्वार्थ होता है परन्तु

(१) ननु भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिर्निवृत्तिस्तु कथम् ? तथा च पुरुषस्यानिर्मोक्ष एव स्यादत आह—रङ्गस्येति ।

(२) मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् स्थानिलक्षणया सभ्यादेरित्यर्थः ।

(३) केन रूपेण प्रकाशयति प्रकृतिरित्यत आह – बुद्धीति इदमुपलक्षणम्—पुरुषादनेन च प्रकाश्य निवर्तत इति ।

(४) ननु परार्थं प्रत्युपकारसम्बन्धेन प्रवृत्तिर्दृश्यते नहि पुरुषात्प्रत्युपकारः प्रकृतेरत आह —नानाविधैरित्यग्रे ।

गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥
प्रकृते सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।

दुःखमोहात्मकभावेन शब्दादिविषयभावेन, एवं नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्याहमन्या त्वमन्य इति निवर्त्तते, अतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरितं कुरुते (१), यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते नात्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति करोत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ॥६०॥

निवृत्ता सा किं करोतीत्याह—(२) लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं (३) न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन पदार्थ एव मतिरित्यन्या, कस्मात् ? अहमनेन पुरुषेण

आत्मासे तो प्रकृतिका प्रत्युपकार (उपकारका बदला) देखनेमें नहीं आता ?

उत्तर – सत्त्व, रज, तमोगुण वाली अतएव परोपकारिणी प्रकृति सच्चिदानन्द स्वभाव होनेसे निर्गुण, इसलिए उपकार करनेमें असमर्थ ऐसे पुरुषके भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजनकी मतलब बुद्धादिरूप साधनोंसे बिना अपने किसी स्वार्थ ही के किया करती है, अर्थात् गुणवानोंका यह स्वभाव ही है कि वे उपकारका बदला न चाहते हुए भी परोपकार किया करते हैं, इसलिए यह कोई नियम नहीं है कि स्वार्थके लिए ही उपकार किया जाता है ॥ ६० ॥

प्रश्न—जैसे नर्तकी नाच दिखानेके बाद इनाम पाकर उस समय नाचना छोड़ देती है पर फिर भी देखनेवालों की इच्छा होनेसे नाचनेमें प्रवृत्त होती है

(१) यथा गुणवानन्यस्योपकार्यपि भूत्वा निर्गुणेऽत्र एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलारचनः एवमियमप्रकृतिरपि तस्मिन्नी गुणवत्युपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति मिथाः ।

(२) स्यादेतत् नर्तकी तूर्यं सभ्येभ्यो दर्शयित्वा यत्नप्राप्तया निवृत्तापि पुनः कुतूहलात् यथा प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा विवेकेन निवृत्तापि पुनः प्रवर्तस्यते इत्यत आह—प्रकृतेरिति मिथादयः ।

(३) सुखदुःखमोहात्मकशब्दादिविषयम् अन्यत् ईश्वरस्वभावकालादि लोके नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—येनेति । प्रकृतेः परार्थमतौ हेतुं प्रश्नपूर्वकमाहात्मनेति ।

यादृच्छाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

दृष्टास्मीत्यस्य पुनः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। (१) तच्च सुकुमारतरं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं श्रुतेः—

अजो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥

(२) अपरे स्वभावकारणिका श्रुतेः—

'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनेति'—इति।

(३) अत्र सांख्याचार्या आहुः निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषार्थगुणादेव, तस्मात् प्रकृतेर्भज्यते, यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः

वैसे प्रकृति भी पुरुषको विवेकसे अपनेको दिखानेके बाद फिर क्यों न दिखायेगी अर्थात् निवृत्त होनेपर भी उस पुरुषके लिए फिर प्रवृत्ति क्यों न होगी?

उत्तर—जैसे कोई पतिव्रता युवती-कुलाङ्गना असावधानीसे मार्गपरका आँचल गिरनेके कारण पर पुरुषसे एक बार देख ली जाय तो वह लज्जासे नीचे मुखकर हट जाती है और फिर इस प्रकार सावधान रहती है कि जिससे उसे फिर पर पुरुष देख न सके, वैसे ही अत्यन्त सुकुमार प्रकृति भी परमात्मा

(१) प्रकृतावेवोक्तविधं सुकुमारतत्वं प्रदर्शयितुमन्यत्र तन्निषेधार्थं मतान्तराणि निरूपयतीत्यर्थः। अज इति स्वसुखदुःखभोगयोरसमर्थोऽयं जीव ईश्वरप्रेरणयैव स्वर्गनरकसुखदुःखादि भुङ्क्तेऽत ईश्वरः कारणमितीश्वरकारणतामाह एकः।

(२) निषेध्य मतान्तरमाह अपर इति। हंसादिना स्वभावतः शुक्लानां शुक्लत्वं स्वभावतश्चित्राणां मयूराणां चित्रत्वं च स्वभावेनैवातः स्वभावत एवास्य जगत उत्पत्तिरिति स्वभावकारणतावादोऽपरः।

(३) मतद्वयं निषेद्धुं सांख्याचार्यमतमाहात्रेति। सगुणतः—सुखदुःखादिगुणवत्त्वः। ईश्वरकारणतावादे निरस्य जीवकारणतावादमपि प्रसङ्गाच्छिरस्यति कथं चेति। निर्गुणाज्जीवात्कथं सगुणं कार्यजातमुत्पद्येतेत्यर्थः। प्रकृतिकारणतावादमुपसंहरति, तस्मादिति। सगुणकारणात्सगुणकार्योत्पत्तौ दृष्टान्तप्रदर्शनेन प्रकृतिकारणतावादं दृढयति—यथेति।

तस्माद्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः, कृष्ण एव—इति, एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पद्यन्त इति गम्यते, (१) निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। (२) तथा केचित्कालः कारणमिति, उक्तं च—

कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥

व्यक्ताव्यक्तपुरुषात्मकः पदार्थः, तेन कालोऽप्यर्थतोऽस्ति, न हि व्यक्ताः सर्वेकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं स्वभावोऽप्यत्रैव, तस्मात् कालो न कारणम् नापि स्वभाव इति। (३) तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति, न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके श्रूयते॥ ६१॥

'पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी' इति नोदिते आह (४)—तस्मात् कारणात् पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति, तस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव

पुरुषके ज्ञान दृष्टिसे एकबार भोगापवर्गके समय देखी हुई फिर उस पुरुषके दृष्टिगोचर नहीं होगी, अर्थात् विवेकज्ञानके प्रतिबन्धक होनेसे प्रकृतिकी उस पुरुषमें लज्जासे कुलाङ्गनाके समान प्रवृत्ति नहीं होती है ऐसा मेरा मत है॥६१॥

प्रश्न—तब तो पुरुषके मोक्षके लिए, प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है यह कहना

(१) प्रकृतिकारणतावादं संस्थाप्येश्वरात्मकारणतावादनिराकरणमुपसंहरति-निर्गुण इति।

(२) कैश्चिदङ्गीकृते जगदेतौ कालेऽपि प्रकृतिवत्सुकुमारतरत्वं न सम्भवतीति प्रदर्शयितुं कालकारणतावादिमतं निरूपयति—तथेति। स्वभाववत् कालस्यापि व्यक्ततया तद्धेतुप्रधानकारणतावादेनैव तयोः कारणत्वं निरस्तमिति भावः। तेन-तच्च, कथमन्तर्भाव इत्याह—स हीति।

(३) प्रकृतिहेतुतावादमुपसंहरति तस्मादिति।

(४) ननु पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य सुखदुःखादिरूपो बन्धः, अतो

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

नानाश्रया देवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारलक्षणाभिर्द्विरूपाभिस्तत्सङ्घातेन बध्यते मुच्यते संसरति चेति। '(१) अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतस्य कथं संसरति ?' अयमाक्षेपार्थः संसरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते पुरुषो मुच्यते पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते तेन संसारित्वं विद्धते, सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात् तत्त्वं पुरुषस्याभिध्यन्यते, तदभिज्ञस्तु केवलः शुद्धः मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। (२) 'अथ यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति'। अत्रोच्यते—

असङ्गत हो जायगा, क्योंकि सांख्यमतमें आत्माके निर्गुण तथा अपरिणामी

न मोक्षोऽपि तस्य बन्धेन सामानाधिकरण्यात् तस्मात्पुरुषविमोक्षार्थमिति रिक्तं वचः, स्त्रीभामासङ्गमुपसंहारव्याजेनाम्युपगच्छन्नाचार्य इति तस्मादिदमन्यथे।

(१) यदि स्वभावतो मुक्त एव पुरुषस्तदा सर्वगतस्य तस्य कथं संसार इत्याक्षेपार्थमिति—अत्रेति। समाधत्ते—अग्राहेति। निःसङ्गत्वेन अग्राहकस्य बन्धायोगस्य प्राप्तौ बुद्ध्यादिभेदाग्रहाद् तद्गतसंसरणमात्मनि प्रतीयते, भेदज्ञानतो च पुरुषस्वतन्निःसङ्गत्वादिप्रतीत्या स बन्धो न बद्धो न मुक्त इत्यादिपुरुषस्वरूपाभिव्यक्तया स्वरूपप्रतिष्ठालाभ इति समाधानार्थः।

(२) पुनः शङ्कते अत्रेति। यदि न पुरुषस्य बन्धः संसारापरपर्यायस्तदाऽऽत्मा मुक्त इति व्यवहारः कथं स्यात्, मुमुक्षोर्बन्धनविच्छेदार्थत्वादिति शङ्काकर्तुरभिप्रायः। समाधत्ते अत्रोच्यते इति। असङ्गोऽप्यात्मा प्रकृतिसंसर्गादेवाभेदाग्रहमूलकं बन्धमात्मन्यारोपयति मुक्तिं च, यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भावित्वात्तत्फलस्य च भोक्तृत्वादेः स्वामिनि सम्भवात्, तथा च प्रकृतिगतयोरपि भोगापवर्गयोर्विवेकाग्रहात्पुरुषसम्बन्धसम्भवात् मुक्त आत्मनि बन्धादिव्यवहारोपपत्तिरिति समाधानार्थः। प्रकृतिस्थान् बुद्ध्यादीनात्मनि बध्नाति मोचयति चेत्यत्राह अत्रेति। योनिर्भेदे इत्यर्थः। त्रिविधकरणोपेतं महदाद्यमुपरिविधकरणसहितम्, तत् धर्माधर्मयुतं सूक्ष्मशरीरम्, बध्यते तच्च प्रकृत्यादिसमाद्यात्मनि बन्धादिव्यवहार इत्यभिप्रायः। त्रिविधबन्धमाह—प्राकृतेनेति।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं त्रिविधेन बन्धेन बध्यते, उक्तञ्च—

प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते।

तत् सूक्ष्मं शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥

'प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिश्च मुच्यते संसरतीति (१) कथम् यदुच्यते-रूपैः सप्तभिरेव, एतानि सप्तप्रोच्यन्ते—धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरहमान त्वं बध्नाति प्रकृतिः, आ . . . स्वेनैव सैव प्रकृतिः, पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः (२) कर्तव्य इति विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन ॥ ६३ ॥

होनेसे उसे सुख दुःखादिकोंसे बन्धन नहीं हो सकता तो उससे छूटकारा होना भी असम्भव है, बन्धनसे छूटने ही को तो मोक्ष कहते हैं ?

उत्तर—जब कि आत्माको स्वाभाविक सुख-दुःखादिक नहीं है तब वस्तुतः वह न बँधता है, न छूटता है, न किसी पुरुषको संसार होता है, किन्तु अनेक पुरुषोंके सहारेसे रहनेवाली प्रकृति ही बुद्धयादिकोंके द्वारा बन्धनादिकोंको प्राप्त होती है, अर्थात् प्रकृतिके प्रथम परिणाम रूप बुद्धिमें ही बन्धनादिक वस्तुतः रहते हुए भी उसके सम्बन्धसे आत्मामें आरोप किये जाते हैं, इसलिए भ्रमसे बन्धन तथा मुक्तिका व्यवहार होता है ॥ ६२ ॥

प्रश्न—यदि सांख्यमतमें आत्माको प्रकृतिके सम्बन्धसे संसारबन्धनादिक होते हैं तो प्रकृतिको किस कारण होते हैं ?

उत्तर—वह प्रकृति आत्माके भोग रूप कार्यके लिए बुद्धिरूप परिणामसे आत्माको धर्म-वैराग्य-ऐश्वर्य-अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य नामके पूर्वोक्त सात

(१) किंसाधनाः प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गा इति प्रश्नार्थः।

(२) भोगापवर्गरूपः। एकरूपेणेति। तथा च भोगरूपपुरुषार्थं प्रति धर्मादिसप्तविधरूपैरात्मानं बध्नाति, स्वरूपावस्थानरूपापवर्गं प्रति चैकेन केवलेन ज्ञान-

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

'कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ?'—एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासादियं प्रकृतिरत्र पुरुष एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते नास्मि नाहमेव भवामि, (१) न मे मम शरीरं तत् यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत्, (२) नाहमिति अपरिशेषम्, अहङ्काररहितम् अविपर्ययाद्विशुद्धं (३) विपर्ययः

भावोंके बन्धन करती है और मोक्षरूप कार्यके लिए ज्ञानरूप एकभावमें आत्माको संसरसे छुड़ा देती है, इससे यह सिद्ध होता है कि वैराग्यादिकोंके न रहते भी ज्ञानसे मुक्ति होती है और वैराग्यादिकोंसे प्रकृतिमें लय मात्र होता है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—ज्ञानहीसे मुक्ति हो, पर यह ज्ञान किस साधनसे होता है तथा उसका क्या आकार है ?

उत्तर—उक्त प्रकारसे सांख्यशास्त्रसे कहे हुए पच्चीसों तत्त्वोंके ज्ञानके बार-बार चिन्तनरूप, विधिध्यासनरूप अभ्याससे शुद्ध आत्मविषयक प्रत्यक्षात्मक केवलनामक ज्ञान पैदा होता है, अर्थात् विधिध्यासनकी सहायतासे मनहीसे

रूपज्ञानेनेदात्मानं संसाराम्भोधयतीति भावः। एतेन वैराग्याद्यभावेऽपि ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमिति सूचितम्, विषयजिज्ञासारूपवैराग्यस्य विषयदोषदर्शनजन्यस्य श्रौतैश्वदौलत्यासाध्यत्वम्, तथा श्रौतैरौपनिषदैश्च यमादिसाध्यस्य द्वैतादर्शनमात्रे फले न मोक्षः 'तमेव विदित्वे'त्यादिश्रुतिषु तस्य ज्ञानैकलभ्यत्ववर्णनादिति तात्पर्यम्।

(१) कर्तृत्वादिविशिष्टं बुद्ध्यादिकमहं न भवामीत्यर्थः, अनेनात्मनि आरोपितं कर्तृत्वं विशुद्धज्ञानोत्पत्तौ निवर्तते इति सूचितम्। कर्तृत्वाभावे च स्वामित्वमपि निवर्तत इत्याशयेनाह—न मे इति। कर्ता हि स्वामित्वं लभेत तस्मात्त्वाभावेऽपि स्वामिता कृत इति भिक्षाः। अभेदज्ञानपर्यन्तं मे मम शरीरमिति यद्यात्मत्वाविद्यप्रतीतिर्भेदज्ञाने का निवर्तत इति गौडपादाशयः।

(२) आत्मनि अध्यवसायादिमर्यन्तव्यापारनिषेधाच्च कर्तृत्वाभाव इत्याह—नाहमिति भिक्षाः। अहङ्कारभेदग्रहविशिष्टमिति गौडपादाभिप्रायः। अपरिशेषम् चरमम् इत्यन्ये।

(३) संशयविपर्ययौ ज्ञानस्याविशुद्धौ तद्रहितं विशुद्धमिति भिक्षाः।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।

संशयोऽविपर्ययादिशुद्धं केवलं (१) तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ॥ ६४ ॥

'ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?'—(२) तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यमवस्थितः (३) स्वस्थः यथा रङ्गप्रेक्षकोऽवस्थितो नर्तकीं पश्यति, स्वस्थः स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः स्वस्थानस्थितः। कथंभूतां प्रकृतिम् ? निवृत्तप्रसवां निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम् (४) अर्थवशात्

आत्माका निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है न कि अनुमान अथवा आगमसे। जिसका आकार है—'नास्मि' मैं कर्ता नहीं हूँ, अर्थात् मेरी आत्मा बुद्धिके कर्तृत्व धर्मसे शून्य है, तथा 'न मे' मेरेमें दुःखादि धर्म नहीं हैं, और 'नाहम्' मेरेमें अहङ्कार भी वास्तविक नहीं है, अथवा 'नास्मि' इससे मेरेमें कोई क्रिया (व्यापार) नहीं है, क्रियाके न होनेसे 'नाहम्' मेरा कहीं भी कर्तृत्व नहीं है, और इसीलिए 'न मे' मेरी कहीं स्वामिता—[प्रभुत्व] नहीं है। इस आकारका 'अपरिशेषं'—जिस ज्ञानके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, अर्थात् अन्तिम, तथा 'अविपर्ययात्'—संशय और मिथ्याज्ञान रूप ज्ञानके मैलेके दूर हो जानेसे 'विशुद्ध'—निर्मल, अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाको हटानेसे समर्थ मुक्तिको देनेवाला केवलज्ञान पैदा होता है ॥ ६४ ॥

और इस केवल ज्ञानसे भोगापवर्गरूप कार्यको पैदा करनेसे निवृत्त-अर्थात्

व्यधिकरणप्रकाराभावाद्विशुद्धम् प्रमात्मकं मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनक्षममिति चन्द्रिकाकारः।

(१) पुरुषमात्रगोचरमिति नारायणतीर्थाः। विपर्ययवासनिवृत्तमिति वाचस्पतिमिश्राः।

(२) किमुनरीदृशेन साक्षात्कारेण सिध्यतीत्याह—तेनेति भिक्षाः।

(३) अवस्थितो निष्क्रियः। स्वस्थ इत्यत्र स्वच्छ इति पाठो भिक्षमते, तस्य च रजस्तमोऽकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्न इत्यर्थस्तन्मते बोध्यः।

(४) अहङ्कार कार्याणि भोगभेदसाक्षात्कारादयो निवृत्ता यस्यास्ताम्

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥
(१) दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।

सप्तमरूपविनिवृत्ता, निवर्तितपुरुषोद्देश्यप्रयोजनत्वात् मैं सातवीं रूपिणी धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्ता प्रकृति पश्यति ॥ ६५ ॥

किंच—रङ्गस्य इति (२) यथा रङ्गस्य दृश्येष्वपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता एकैव प्रकृतिः श्वेलोक्यस्यापि

हट गई तथा प्रकृति-पुरुषविवेक ज्ञानरूप तत्त्वज्ञानके सामर्थ्यसे धर्माधर्म इत्यादि ज्ञात भावरूप धर्मोंसे शून्य प्रकृतिको दर्शकके समान बैठा हुआ स्वरूपस्थित आत्मा शरीरके रहनेसे होनेवाली केवल सात्त्विक बुद्धिके बलसे देखता है, अर्थात् भेद-ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान, अभेदज्ञानरूप मिथ्याज्ञानका नाश होनेके कारण मिथ्याज्ञानरूप कारणके न रहनेसे 'धर्माधर्मादि कार्योंसे रहित प्रकृतिको पुरुष देख लेता है ॥ ६५ ॥

प्रश्न—पुरुष तथा प्रकृतिके नित्य होनेके कारण उन दोनोंके संयोगका नाश न होनेसे प्रकृति अपने कार्योंको क्यों नहीं पैदा करेगी ?

उत्तर—उन दोनोंमेंसे एक आत्मा - मेरेसे भिन्न तथा अपने सम्बन्धसे पुरुषको बाँधनेवाली प्रकृतिको—मैंने देख लिया ऐसा समझकर उससे हट जाता

भोगविवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृत्या प्रसोतव्यो तौ च प्रसुताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिरिति भावः ।

(१) ननु नित्यवोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं तस्याः प्रसवनिवृत्तिरत्याह दृष्टेति ।

(२) रङ्गस्य इति पदं स्वयं व्याचष्टे मयेति । यथा रङ्गभूमिस्थः सभ्यो नर्तकीं दृष्ट्वा तद्दर्शनादुपरमते तथैकः पुरुषः स्वभिन्नेयं स्वसंपर्कादबध्नातीत्येवंगुणा प्रकृतिमेत्या दृष्टेत्युपेक्षको भवति तद्भोगाद्यावेशरहितो भवतीत्यर्थः । एवं प्रथमपादं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे—तेनाहमिति । गौडपादमते 'दृष्टाहमित्युपरमत्येके'ति पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, अत एवाह—एकेति । न द्वितीयेऽत्र हेतुमाह—मूर्तिवश इति । प्रकृतेर्जात्या भेदस्वीकारे मूर्तिनाशस्य हेतुत्वात्तत्र च परिणामवादेऽसम्भवात् इति भावः ।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥
सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति मूर्तिवधे जातिभेदात्, (१) एवं प्रकृति-पुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति, **सति संयोगेऽपि तयोः** प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे **प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य** सृष्टेः चरितार्थत्वात् (२) प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं यः पुनः सर्ग इति (३) यथा दानग्रहणनिमित्तं तत्समर्थाधमर्णयोर्दातृग्रहीतृभावे सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति ॥ ६६ ॥

'यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न भवती'त्यत उच्यते (४) यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति तथापि संस्कारवशादुत्तरशरीरो योगी तिष्ठति, कथम् ? चक्रभ्रमवत्सक्रमेण तुल्यम्, यथा कुलालचक्रं भ्रामयित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्याप्तमुक्त्वा चक्रं भ्रमयेव संस्कारवशात्, एवं **सम्यग्ज्ञानाधिगमादुत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनाम-**

है, अर्थात् उसके भोग सम्बन्धसे दूर हो जाता है, और प्रकृति भी मुझे इस आत्माने जान लिया ऐसा समझकर उससे हट जाती है इसलिए पूर्वोक्त योग्यताऽऽत्मक दोनोंके संयोगके रहनेपर भी उन आत्माके सम्यग्ज्ञानसे प्रकृतिके कार्य नहीं पैदा होते ॥ ६६ ॥

प्रश्न—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि श्रुतिसे तत्त्वज्ञानके बाद ही यदि मुक्ति होती हो तो सारे अर्थोंके नष्ट होनेसे शरीरादिकोंके न होनेके कारण

(१) उत्तरार्धमवतारयति—एवमिति । सति संयोगेऽप्रीत्यस्यार्धमाह—तयोरिति ।

(२) सृष्टिचरितार्थत्वं विवृणोति—प्रकृतेरिति ।

(३) पुनः प्रकृतिपुरुषयोः सृष्टिप्रयोजकसंसर्गाभावे दृष्टान्तमाह—यथेति ।

(४) ननु 'भिद्यते हृदयग्रन्थिरि'त्यादिश्रुत्या तत्त्वज्ञानानन्तरमेव मुक्तौ सर्वं

तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

कारणप्राप्तो एतानि सह रूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा अग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि । (१) धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीरस्तिष्ठति, (२) 'ज्ञानाद्धर्ममधर्मंक्षयः कस्मान्न भवति' वर्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमेष्यति, ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति, वर्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः ॥ ६७ ॥

आत्माको पूर्वोक्त प्रकृति दर्शन कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञानमें शरीरादिक कारण होते हैं ?

उत्तर—मिथ्याज्ञानको नष्ट करनेमें समर्थ तत्त्वज्ञानके पैदा होनेसे प्रारब्ध कर्मोंसे भिन्न सञ्चित धर्माधर्म रूप कर्मोंके जले बीजके समान जल जानेके कारण अपने सुखदुःखादि फलोंको पैदा करनेका सामर्थ्य न होनेसे प्रारब्ध शरीरके पैदा करनेवाले अदृष्टके संस्कारसे प्रारब्ध शरीरके भोग समाप्त होने तक (२) ज्ञानीका शरीर कुम्हारके चक्रके चलानेको छोड़नेपर भी जैसा वह वेगसे कुछ देरतक घूमा करता है, वैसे ज्ञानीका शरीर भी रहता है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कर्मोंका नाश होता है इसका तत्त्वज्ञानके प्रागभावके नष्ट होनेसे फल पैदा नहीं होता यह अर्थ है न कि शरीरादिकोंका नाश होना ॥ ६७ ॥

कर्मक्षयेण देहाभावसूचनात् कथं प्रकृतिदर्शनम् । ज्ञाने देहस्य कारणत्वात्तत्राह सम्यगित्यपरे । ज्ञानस्य मोक्षे हेतुत्वप्रतिपादनाज्ज्ञानवतो मे मोक्षः कथं नेति नौकपादावतरणाशयः ।

(१) उपसंहरति धर्मादीनामिति ।

(२) ननु ज्ञानेनातीतानागतधर्मकर्मसञ्चयविनाशवत् वर्तमानधर्माधर्मक्षयः कुतो न, येन ज्ञानानन्तरं शरीरपातेऽपवर्ग एव भवेत्कथं धृतशरीरेतत्याशयेनाक्षिप्य समाधत्ते—ज्ञानादित्यादिना । क्षणान्तरे—प्रारब्धभोगानन्तरम्, अत एवाहुः 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी'ति ।

(१) क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का भोग ही से नाश होता है ।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानसंविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥
पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।

स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते—धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात् । (१) प्राप्ते शरीरभेदे (२) चरितार्थत्वात् प्रधानस्य निवृत्तौ ऐकान्तिकमात्यन्तिकमनन्तरहितं कैवल्यं केवलमात्मनोमोक्षम्, उभयमैकान्तिकत्वात्यन्तिकमिश्रं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

(३) पुरुषार्था मोक्षास्तदयज्ञानमिदं गुह्यं रहस्यं परमर्षिणा श्रीकपिलविद्वा

प्रश्न—यदि तत्त्वज्ञान होनेपर भी ज्ञानी रहता है तो उसे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर—भोगसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर शरीरका नाश होनेसे बुद्धि तत्त्वादि द्वारा जिसने भोग तथा अपवर्गरूप कार्य किया है ऐसे प्रकृतिके ज्ञानी आत्माके हटनेपर (अर्थात् संयोगाभावरूप लय होनेपर) अवश्य होनेवाले तथा जिसमें फिर दूसरा दुःख नहीं पैदा होता ऐसे दो प्रकारके कैवल्यको आत्मा प्राप्त करता है, अर्थात् प्रकृति तथा पुरुषके भेदज्ञानको प्रत्यक्ष देखनेवाली आत्मा सारे दोषोंके क्षीण होनेसे भोगके द्वारा प्रारब्ध कर्मका क्षय होते ही उसके ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोंका नाश अवश्य हो जाता है, इस प्रकार ज्ञानीकी मुक्ति होती है ॥ ६८ ॥

हे शिष्यो ! इस प्रकारसे मुझसे कहा हुआ तथा मुक्तिको देनेवाला यह सांख्यशास्त्रका ज्ञान जिसे मन्द बुद्धियोंको जानना कठिन है महर्षि कपिल मुनिने

(१) ननु यद्युत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि तिष्ठति कदा तर्हि मोक्षं गच्छति तत्राह—प्राप्त इति अन्ये ।

(२) भोगेन प्रारब्धक्षयतः शरीरस्य विनाशे प्राप्ते, चरितार्थत्वात् बुद्धितत्त्वादिद्वारा कृतभोगापवर्गलक्षणप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य पुरुषं प्रति निवृत्तौ संयोगाभावलक्षणलयेऽवश्यंभावि पुनर्दुःखजातोत्पत्तिविशिष्टं उभयविधं कैवल्यं मोक्षं प्राप्नोति पुरुष इत्यर्थः ।

(३) ग्रन्थसमाप्तिद्योतनार्थं पर, मपिपूर्वकैवल्यमस्य शास्त्रस्याह—पुरुषार्थ इति ।

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥
एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

सम्यक्ज्ञानं सम्यक्तन्त्रम् । यत्र शास्त्रे (१) भूतानां चेतनाचेतनानां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थात्रयविशेषाश्चिन्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचाराद् सम्यक् पञ्च-

---

वर्णित होनेके कारण प्रामाणिक है, इसलिए तुम विश्वास करो, बिना प्रमाणके लिए ही शास्त्रोंमें प्राणिमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयका वर्णन किया गया है ॥ ६९ ॥

प्रश्न—कपिल मुनिने कहा हुआ यह सांख्यशास्त्रका रहस्य ईश्वरकृष्णने कैसे जाना ?

उत्तर—सब पापोंके नाशक होनेसे पवित्र, तथा सब पवित्रोंमें श्रेष्ठ इस सांख्यशास्त्रके ज्ञानको कपिल महर्षिने अपने शिष्य आसुरि मुनिको तथा उन्होंने अपने शिष्य पञ्चशिखाचार्य को बड़ी दयासे उपदेश दिया और पञ्चशिखाचार्यने इस शास्त्रका शिष्य परम्परा द्वारा संसारमें बहुत प्रचार किया ॥७०॥

प्रश्न—तो क्या ईश्वरकृष्णने भी पञ्चशिखाचार्यसे ही यह सांख्यज्ञान प्राप्त किया ?

उत्तर—पञ्चशिखाचार्यके शिष्य परम्परासे इसे प्राप्त कर ज्ञानी पण्डित ईश्वरकृष्णने भी इस सांख्यशास्त्रका अच्छी तरह अध्ययन तथा अभ्याससे सिद्धान्त जानकर उसे आर्या छन्दमें बनाकर अपने शिष्योंको पढ़ाया ॥ ७१ ॥

इस उत्तर आर्याओंमें जो सांख्यशास्त्रके विषय लिखे हैं वे ही साठ प्रकारके सांख्य (२) शास्त्रके पदार्थोंके सम्पूर्ण विषय हैं इसलिए यह भी शास्त्र है न कि

---

(१) सम्यग्ज्ञानार्थम्, तथा चार्थात् द्वीपिनं हन्तीति सिंहः ।

(२) साठ पदार्थ इस प्रकार हैं—१ पुरुष, २ प्रकृति, ३ बुद्धि, ४ अहङ्कार, ५-७ तीन गुण ८ पञ्च तन्मात्रा ९ इन्द्रिय, १० पञ्चमहाभूत (ये दस मौलिक

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥]
इति सांख्यकारिका समाप्ता ।

विंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते (१) सैषिणिरिति ॥ ६९ ॥
सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।
यच्चैताः षष्टिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥
इति श्रीगौडपादार्यविरचिता (२) सांख्यकारिकाव्याख्या समाप्ता ।

एक प्रकरण, पर इसमें सारे छ अध्यायोंमें लिखे गये सांख्यदर्शन सूत्रोंके समान कहानियाँ तथा अन्य दर्शनोंकी बातें नहीं लिखी गई हैं ॥ ७२ ॥
इति सांख्यकारिका 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता

पदार्थ हैं) ११-१५ पाँच प्रकारके विपर्यय १६-२४ नौ प्रकारकी तुष्टि २५-३२ अट्ठाइस प्रकारकी अशक्ति तथा ३३-५० आठ प्रकारकी सिद्धि ।

(१) अनुवादः प्रकृतिपुरुषविवेकव्याख्यारूपम् ।

(२) गौडपादाचार्यमते ७०-७२ संख्याकाः कारिकाः प्रक्षिप्ता इति भूमिकायां सप्तसप्ततितमे द्रष्टव्यम् ।